ध्वन्यालोक

एक अध्ययन

थानेशचन्द्र उप्रती

परिमल पब्लिकेशन्स
दिल्ली

प्रकाशक

परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८ शक्ति नगर
दिल्ली-११०००७

प्रथम संस्करण
१९७३

मूल्य ६० रुपये

मुद्रक—चौहान प्रिंटिंग प्रेस, गली भगतसिंह नं० १७
एन-६६/२ ब्रह्मपुरी दिल्ली-५३

विषय-सूची

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

ध्वन्यालोक

एक अध्ययन

[1]प्रख्योपाख्यादिरूपेण यस्याः [2]स्वस्पन्दसुन्दरः।
व्यापारो वर्णनातीतो काव्याध्वनि विराजते ॥ १ ॥

तां वन्दे मातरं वाचां साक्षाच्छब्दार्थविग्रहाम्।
यत् कृपालवलाभेन लोके लोकः प्रकाशते ॥ २ ॥

वाणीविवर्तभूतं ध्वन्यालोकाख्यं काव्यतत्त्वम्।
विवृतमप्यनेकैः कोविदैः सम्यक् स्वकीयव्याख्यानैः ॥ ३ ॥

आदाय च तेषामाशीराशिं सादरं शिरसि निधाय।
आनन्दस्य कृतेरस्याः सानन्दं तन्निष्यन्दं समीक्षे ॥ ४ ॥

सन्त्येवास्मिन् कनकनिकषग्रावप्रख्ये प्रबन्धे
व्याख्यातॄणां परमविदुषां भावगर्भा विमर्शाः।
किन्त्वस्मिन् मे निरुपधिविमलो भावबन्धो गरीयान्,
तन्निष्पत्यै तदनुगतये भावये प्रेक्षणेन ॥ ५ ॥

आनन्देन विनिर्मितोऽपि सहसाऽऽलोको [3]दुरापो यतः,
स्वच्छेनाथ विलोचनेन[4] हि विना कः स्यात् परं प्रेक्षितुम्
तन्निष्यन्दमयं विचारनिचयमादाय सारं ततः,
हृद्यं पुष्पमयं पुरःसरमिमं प्रेक्षावतामर्पये ॥ ६ ॥

ध्वनि का स्वरूप

कवि की कमनीय कृति—काव्य के कलेवर के आविर्भाव के साथ ही सहृदयों के अन्तस्तल में उसके अङ्गोपाङ्ग के विवेचन के प्रसङ्ग में अति रहस्यभूत उसकी आत्मा के विषय में भी जिज्ञासा होने लगी।

१—प्रख्या—प्रतिभा उपाख्या-उपाख्यान-निर्वचन=दर्शन तथा वर्णन,
२—स्वस्पन्दसुन्दरः=स्वभावतः मनोहर
३—ध्वन्यालोक नामको ग्रन्थः,
४—विलोचनेन—विशिष्ट=लोचन टीका या समालोचना।

आध्यात्म जगत् में जिस प्रकार जीव, जगत् व माया के महत्व के बाद देहेन्द्रिय अन्तःकरण से परे प्रमाता की सच्चिदानन्दस्वरूप उस आत्मा को समझने की इच्छा होती है। तदर्थ "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादि-वेदान्त सूत्रों का प्रणयन हुआ है, ठीक इसी प्रकार काव्य-क्षेत्र में भी काव्यपुरुष के अवतार के अनन्तर उसके उपकरण अलङ्करण व जातना के विषय में भी अनुसंधान होने लगा, जो अभी तक प्रगति-पथ पर विचरता हुआ रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि, 'वक्रोक्ति व औचित्यादि प्राचीन परिधानों में प्रतिष्ठित होता हुआ भी, सम्प्रति हिन्दी-साहित्योद्यानों में प्रगतिवाद, छायावाद व रहस्यवादों में परिलक्षित हो रहा है।

अनादि अविद्या के वासना-विनिर्मित विश्व का निसर्ग-सर्ग जितना सहज व स्वाभाविक है, उससे भी कहीं प्रतिनियत यह काव्य का कामनामय कृत्य भी स्वभावसिद्ध है। क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भिक कार्य-कलापों के साथ इसका कोई विलक्षण तादात्म्य सा है। विश्व के प्रति प्रभात के अरुणोदय में उषा का शुभागमन काव्य की कमनीय छटा की सूचना देता है। प्रकृति देवी के इस प्रशस्त प्राङ्गण में वात्सल्य के प्रतिमूर्ति वन-पर्वत, नदी, वृक्षादि निःस्वार्थ परार्थ परिपोषण हेतु ही तो प्रत्येक ऋतु में अपने नये परिवेश के साथ नया उपहार प्रदान करते हैं।

परमेश्वर की अचिन्त्य रचना स्वरूपा यही प्रकृति काव्यार्थी कवि की प्रथम पाठशाला है, जिसकी विचित्रता व विविधता से मुग्ध हुआ कवि दुध-मुँहे बालक की तरह अपनी भाषा में कुछ न कुछ गुनगुनाता है। यही अव्यक्त प्रकृति के सुव्यक्त सुषमा की कहानी का सरल शब्दों में आख्यान करना या वर्णन करना, कवि का अपना कर्म है।

अतः कवि के लिए यह परमावश्यक है कि वह किसी वस्तु का सम्यक् दर्शन करे, अन्यथा वर्णन करना मुश्किल सा है। कवित्व के यही दो आधार स्तम्भ हैं, दर्शन व वर्णन। इन दोनों के पूर्ण होने पर ही सत्कवित्व का उन्मेष होता है। महामाहेश्वर श्री अभिनवगुप्ताचार्य जी के शब्दों में इन्हें हम क्रमशः प्रख्या (दर्शन) व उपाख्या (वर्णन) कह सकते हैं। प्रख्या प्रतिभा पूर्ण दर्शन को कहते हैं और उपाख्या लोकोत्तर वर्णन को अर्थात्—तभी कोई व्यक्ति महाकवित्व की उपाधि से विभूषित हो सकता है, जब कि वह प्रख्या व उपाख्या प्रतिभापूर्ण दर्शन व लोकोत्तर-वर्णन में निपुण हो। कवि के ऐसे ही लोकोत्तर-वर्णना-निपुण कर्म को काव्य कहते हैं।

आगे कवि के इस कौशलपूर्ण कृति को अनेक कारणों, उपकरणों व क्रियाकलापों से विभूषित किया जाने लगा। शब्दार्थमय काव्य के इस कलेवर को मुख्यतया जिन करणों व उपकरणों से सजाया जाने लगा उनका निर्देश "रुय्यक के अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने बड़े अच्छे ढंग से समझाया है—

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम् तयोश्च वैशिष्ट्य धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन,

व्यङ्ग्यमुखेन चेति त्रयः पक्षाः आद्येऽपि अलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति-वैचित्र्येण, योगकृत्वेन चेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेषु आद्यः—उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन पञ्चमः आनन्दवर्धनाचार्येण"।

आपका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशेषता तीन प्रकार से सम्भव है—

धर्म दो प्रकार के होते हैं (१) नित्य और (२) अनित्य। अनित्य धर्म की सत्ता काव्य मे उतनी अपेक्षित नहीं होती जितनी नित्य धर्म की। अनित्य धर्म हैं—अलकार और नित्य धर्म है गुण। इस प्रकार धर्ममूलक विशिष्टता का प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए (१) अलंकार सम्प्रदाय (२) रीति या गुण सम्प्रदाय।

व्यापारमूलकवैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है। (१) वक्रोक्ति और (२) भोजकत्व। वक्रोक्ति, उक्ति वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है। इस वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य है कुन्तक। अतः उनका मत वक्रोक्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

भोजकत्व-व्यापार की कल्पना रसनिरूपण के प्रसङ्ग में भट्टनायक ने की है। विद्वानों ने इसे आचार्य भरत के इस सिद्धान्त के ही अन्तर्गत माना है। अलग से इसे सम्प्रदाय नहीं माना है।

शब्दार्थमय काव्य में व्यङ्ग्य-मूलक वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्द-वर्धन है, जिन्होने अपने सुप्रसिद्ध "ध्वन्यालोक" नामक ग्रन्थ मे "ध्वनि-प्रस्थान" की प्रतिष्ठा की है।

इस प्रकार काव्यक्षेत्र या काव्यालोचन के परिशीलन के प्रसंग में आचार्य भरत से लेकर आनन्दवर्धनाचार्य तक अनेक सिद्धान्तों का संकीर्तन हुआ, जो कि रस, अलंकार, रीति, गुण और ध्वनि संज्ञाओं से प्रसिद्ध हुआ।

यद्यपि काव्य के स्थूल शब्दार्थमय कलेवर के विषय में इन आचार्यों का बहुत विवाद नहीं था, पर काव्य के काव्यत्व-सम्पादक महनीय तत्त्व "आत्मा" के विषय में महान मतभेद था। एक सम्प्रदाय भरत का अनुयायी था जो काव्य की आत्मा "रस" मानता था, परन्तु अन्य भामहादि आचार्य केवल अलंकारवादी थे जो काव्य का सौन्दर्य केवल अलंकार मे देखना चाहते थे। इन्होने रसवादी अलंकारों में ही रसतत्त्व का समावेश कर दिया। अलंकारों के अतिशय में ही ये लोग काव्य के चमत्कार का अनुभव करते थे।

तदनन्तर वामनादि आचार्य 'रीति' को ही काव्य की आत्मा मानने लगे। गुणों के माध्यम से ही ये लोग रीति में विशिष्टता का व्याख्यान करते रहे। पद संघटनारूप रीति में ही गुणतत्त्व से सौन्दर्याधान का विधान करने लगे। इनके मत में अलंकारों की अपेक्षा गुण ही काव्य के महत्वपूर्ण तत्त्व हैं। गुणों के ही ऊपर अवलम्बित रहने वाला काव्यतत्त्व रीति है, इसलिए रीतिसम्प्रदाय, गुणसम्प्रदाय के नाम से भी पुकारा जाता है।

बस काव्यतत्त्व की आलोचना अब तक केवल अलंकार, गुण व रीति को ही आधार मानकर चल रही थी। काव्यात्मा के उस बाह्य परिधान पर ही विद्वानों की अधिकतर दृष्टि रुक रही थी। रचना व अलंकारों की ही चकाचौंध में वे अपना अहन्तापूर्ण मनोरंजन कर रहे थे। अलंकार व अलङ्कार्य की भी अभी तक कोई सीमा निश्चित व प्रामाणिक रूप से निर्धारित नहीं हो सकी थी। इस घने मोहसंकटता युग में काव्यतत्त्व के अन्तर्ज्योति आत्मा का भी वही हाल हो रहा था, जो हाल देहात्मवादी चार्वाकों के मध्य में आध्यात्मवाद का, या बौद्धों के पञ्चस्कन्धात्मवाद में वेदान्तियों का था[1]।

काव्यशास्त्र के इतिहास में नवम शताब्दी के उत्तरार्ध का समय निश्चित पुण्यकाल है, जिसमें काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर प्रकृष्ट प्रकाश डालने के लिए एक महामनस्वी का उदय हुआ। जब कि ध्वनि जैसा महनीय तत्त्व काव्यशास्त्रियों की गोष्ठी में विमति का विषय बना हुआ था।

इसी काव्य की आत्मा ध्वनि तत्त्व के समुद्धार के लिए आनन्दवर्धनाचार्य जैसे मेधावी विद्वान् का अवतार हुआ और "ध्वनि" की काव्य की आत्मा के रूप में घोषणा हुई। इस प्रकार अलंकार्य व अलंकार, गुण व रीति की भी यथास्थान प्रतिष्ठा हुई।

अतः किसी कवि की यह सूक्ति भी समुचित ही है—

ध्वनिनाऽतिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

आनन्दवर्धन ने बड़ी गम्भीरतापूर्वक काव्यतत्त्वों की छानबीन कर अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "ध्वन्यालोक" में ध्वनि की पुनः स्थापना की। इसीलिए इनको 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहा गया।

ध्वन्यालोक ग्रन्थ के अन्त में स्वयं उन्होंने इस बात को कहा भी है—

---

१ तत्र रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः पञ्चस्कन्धाः। एवं पञ्चधा परिवर्तमानो ज्ञानसन्तान एव आत्मा, इति बौद्धाः। माघ० २ मल्ली० टी०

सत्काव्यतत्त्वविषयं स्फुरितप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत् ।
तद्व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतोः, आनन्दवर्धन इति प्रथिताऽभिधानः ॥
(ध्व० चतु०)

अर्थात्—जो उत्तम काव्य का सारभूततत्त्व वाल्मीकि, व्याम, भर्तृहरि प्रभृति प्रौढप्रज्ञा वाले सहृदयों के हृदय में स्फुरित होने पर भी, पश्चात् प्रतिवादियों के असत् तर्कों से प्रसुप्त हो, तिरोहित सा हो गया था, उसी ध्वनिरूप परमतत्त्व को सहृदयों के उन्नति एवं लाभ के लिए 'आनन्दवर्धन' इस नाम से प्रसिद्ध मैंने प्रकाशित किया।

ललना-लावण्य की तरह वह सारभूत काव्यतत्त्व सर्वत्र ही महाकवियों की कमनीय कृतियों में प्रकाशित होता है। जैसे किसी कामिनी के कलेवर में उसके अङ्ग व उपाङ्गों से पृथक् महृदयावर्जक लावण्य (सौन्दर्य) रहता है, इसी प्रकार सत्कवि के काव्य में भी वाच्य-वाचकादि से पृथक् सहृदयैकवेद्य प्रतीयमान (ध्वनि) तत्त्व की सत्ता रहती है। जैसा कि ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में स्वयं उन्होंने कहा है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ (ध्व० १/४)

अर्थात्—विकसितयौवना किसी कामिनी के मुखनयनादि अंगों से समुद्भूत निखिल शरीर में व्याप्त लावण्य जैसे दर्शकों के लिए नयनानन्दजनक होता है, इसी प्रकार महाकवियों की सूक्तियों में भी प्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ सहृदयों के लिए अत्यधिक चमत्कारजनक या आनन्दानुभूति का विषय होता है।

महाकवित्व की कामना वाले व्यक्ति को अवश्यमेव काव्य के उस सारभूत तत्त्व "प्रतीयमान" के लिए प्रयास करना चाहिए। इसी तत्त्व के उन्मेष के लिए आनन्दवर्धन का महान प्रयास रहा, जिसका अनुसंधान व विवेचन बहुत समय तक विरत सा था। अतएव काव्याङ्गों से इसकी पृथक् सत्ता सिद्ध करना और सर्वत्र लक्ष्यों में विद्यमान होने से इसका लक्षण बनाना उनके लिए परमावश्यक था। क्योंकि काव्यों में प्रतीयमान इस ध्वनितत्त्व की उस समय उपेक्षा सी हो गई थी। साहित्य के अधिकारी विद्वान् भी उस समय ध्वनि के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ने लग गये थे। लोग शब्दार्थ के वैचित्र्य के एक आगे कदम भी नहीं बढ़ना चाहते थे। वक्रोक्तिमूलक अलंकार व गुणवृत्तिमूलक लक्षण के अन्दर ही सारा काव्य-सौन्दर्य समेट चुके थे।

अतः काव्य प्रस्थान की ओर एक नयी दिशा देना या काव्य-सम्बन्धी सभी तत्त्वों का अनुशीलन कर नये सिरे से फिर उसका लक्षण—स्वरूपादि का विवेचन करने का दायित्व आनन्दवर्धन पर ही था। इसी के लिए इन्हें "ध्वन्यालोक" नामक ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी जिसमें ध्वनि का स्वरूप इस प्रकार हैं—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ (ध्व० १/१३)

अर्थात्—जहाँ अर्थ स्वय को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण-अप्रधान करके उस 'चमत्काराधायक-प्रतीयमान' अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।

ध्वनिकाव्य वह काव्य है, जिसमे शब्दार्थ—वाचक व वाच्य, स्वय को अग रूप मे व्यवस्थित होकर अपने सामर्थ्य से अगीभूत किसी चमत्कारिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें।

इस ध्वनितत्त्व के लिए आलकारिक लोग वैय्याकरणो के ऋणी है। क्योंकि इनकी ध्वनि की कल्पना का आधारस्तम्भ वैय्याकरणो का स्फोटवाद है। इसी से व्यङ्ग्य व्यञ्जकभाव की कल्पना का आश्रय लेकर ध्वनि का विस्तार व प्रचार हुआ।

वैय्याकरणो ने वाक्यार्थ ज्ञान की सुविधा के लिए एक नित्य स्फोट पदार्थ को माना है। जिसका निर्वचन है—'स्फुटति-अर्थोऽस्मादिति स्फोट' अर्थात् जिस ध्वनि या शब्द से अर्थ प्रस्फुटित होता है, उसे स्फोट कहते हैं। यहाँ इन्होंने अर्थ के अभि-व्यञ्जक ध्वनि या शब्द मे स्फोट-शब्द का व्यवहार किया है। जैसा कि भर्तृहरि ने लिखा भी है—

य सयोगवियोगाभ्या करणैरुपजायते।
स स्फोटशब्दज शब्दो ध्वनिरित्यभिधीयते॥

अर्थात्—कण्ठतालु आदि सयोग-वियोग रूप अभिधान से (मध्यमनाद मे उत्पन्न) वैखरी रूप मे परिणत हुआ, जो अर्थ का अभिव्यञ्जक शब्द है उसी मे वैय्या-करणो ने ध्वनि का व्यवहार किया है। जैसा कि काव्यप्रकाशकार श्रीमम्मट ने भी कहा—

"बुधैर्वैय्याकरणै प्रधानभूतस्फोटरूप व्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार कृत"।

अर्थात्—वर्णो के आशु विनाशी होने से, पूर्व पूर्व वर्णानुभवजनितसस्कार सहित अन्तिम वर्ण से अभिव्यक्त होने से, वह अन्तिम वर्णाभिव्यक्ति-अनुभवस्वरूप ही स्फोट है जो कि सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यायक है, इसी अर्थ प्रत्यायक-अभिव्यञ्जक-शब्द मे इन लोगो ने ध्वनि का व्यवहार किया है। परन्तु आनन्दवर्धनाचार्यादि आलकारिको ने इसी कल्पना का विस्तार कर शब्द, अर्थ व शब्दार्थ के व्यापार (व्यञ्जना) मे और व्यङ्ग्यार्थ मे व व्यङ्ग्यप्रधान काव्य मे ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ध्वनि-सिद्धान्त का मूल उत्स-स्थान वैय्याकरणो का स्फोटवाद ही है। व्याकरणशास्त्र के आकर-ग्रन्थो मे जिसकी अत्यधिक चर्चा है, वह स्फोट, अर्थ-व्यञ्जक शब्द या ध्वनि ही है जैसा कि पातञ्जल-महाभाष्य के पस्पशाह्निक मे वर्णित है—

"अथ गौरित्यत्र कः शब्दः, किं यत्तत् सास्नालाङ्गूलककुद्खुरविषाण्यर्थरूपं सः शब्दः ? नेत्याह—द्रव्यं नाम तदित्यादि·········

कस्तर्हि शब्दः—येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुद्खुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति, (सः शब्दः)।

अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः इत्युच्यते। तद्यथा-शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः, इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते, तस्माद् ध्वनिः शब्दः"।

इसी स्फोट रूप शब्द के विषय में महाभाष्य में प्रश्न किया है कि यह शब्द क्या चीज है। "गौः" इसमें शब्द कौन सा है, क्या गलमाला, पुच्छ, सींग, ककुदादि-विशिष्ट यह संस्थान विशेष ही गौ शब्द है, या और कुछ ? उत्तर में कहा—यह गलमाला-पुच्छ-सींग विशिष्ट जिस संस्थान को तुम देख रहे हो वह तो द्रव्य है, और उसका जो रक्त-श्वेत वर्ण है वह गुण है, उसकी विविध चेष्टाएँ क्रिया है, क्योंकि द्रव्य के साथ तद्गत क्रिया, गुण व तत्संबद्ध जाति का भी ग्रहण हो जाता है। अतः उक्त संस्थान जिसे हम जाति गुण-क्रिया रूप में देख रहे हैं वह शब्द नही है, अपितु जिसके उच्चारण करने से उक्त खुरविषाणादि विशिष्ट व्यक्ति का बोध हो रहा है वह शब्द है।

अथवा जिससे किसी पदार्थ की प्रतीति हो वही ध्वनि या शब्द है, न कि यह दिखाई देने वाला द्रव्य गुण-जाति-विशिष्ट गौ नामक व्यक्ति विशेष।

पातञ्जल महाभाष्य के चतुर्थ आह्निक के "तपरस्तत्कालस्य" इस सूत्र के भाष्य मे लिखा है कि स्फोट शब्द है और ध्वनि उसका गुण है। अतः स्फोट और ध्वनि का व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव स्वभाव से ही सिद्ध है, अथवा व्यङ्ग्य-स्फोट और व्यञ्जक ध्वनि दोनो स्वभावतः वर्तमान है।

बुद्धि मे अवभासित होने वाला यह स्फोट रूप शब्द सभी वृत्तियो मे समान रूप से गृहीत होता है, उसमें वृद्धि-ह्रास नही होता है। यह वृद्धि और ह्रास तो केवल उसके गुण ध्वनि में ही लक्षित होता है।

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
स्वल्पो महांश्च केषाञ्चित् उभयं तत् स्वभावतः॥ (१।४।६६)

महाभाष्य में "गौरित्यत्र कः शब्दः", इत्यादि प्रश्न इसलिए भी उठाया गया कि लोक मे शब्दार्थ का ज्ञान संकीर्ण रूप से ही हुआ करता है। परस्पर शब्दार्थ का या गुण-क्रिया-जात्यादि से सम्मिश्रित ज्ञान ही हुआ करता है, न कि शब्द का इनसे पृथक् ज्ञान होता है। इसलिए इनके परस्पर विभाग दिखलाने के लिए भी भाष्यकार ने शब्द के विषय मे यह प्रकरण प्रारम्भ किया।

ठीक ऐसा ही प्रसङ्ग—योग के तीसरे विभूति पाद में भी दिखाया गया है। वहाँ कहा गया है कि—शब्दार्थ-ज्ञान का परस्पर इतरेतराध्यास अर्थात् एक का दूसरे में

तादात्म्यारोप होने के कारण इसमे प्राय सकीर्णता रहती है, शब्दार्थ के विभाग पर सयम—वशीकार अर्थात् शब्दार्थ के विभाग-ज्ञान पर कमाण्ड होने पर सभी प्राणियो की (आवाज) बोली का ज्ञान हो जाता है।

"शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराऽध्यासात् सकरस्तत्प्रविभागसयमात् सर्वभूत-रुतज्ञानम्" ॥ १७ ॥

अर्थात्—श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने वाला, नियतक्रमविशिष्टवर्णवाला, एक निश्चित अर्थ का प्रतिपादक 'गौ' इत्यादि शब्द, और पदजन्य प्रतीति का विषय अर्थात् शब्दोच्चारण के बाद जिसकी प्रतीति होती है ऐसा सास्नादिमान सस्थान-विशेष 'गौ' इत्यादि-अर्थ। इन दोनो मे वाच्य-वाचकभाव सम्बन्धविशेष को स्थिर करने वाली विषयाकारा बुद्धि-वृत्ति यह गौ है। इस प्रकार ज्ञानविशेष ही प्रत्यय कहा जाता है।

ये सब तीनो परस्पर भिन्न हैं—क्योकि शब्द गुण है, और अर्थ द्रव्य है। और परस्पर सम्बन्धरूपावृत्ति-ज्ञान विषयी है, गुण है। इनका कथमपि परस्पर तादात्म्य नही हो सकता है, क्योकि एक दूसरे से बिलकुल विपरीत है। परन्तु व्यवहार मे इन शब्दार्थ ज्ञानो का परस्पर अध्यास हो जाता है, अत सकीर्णता आ जाती है।

जैसे व्यवहार मे—यदि किसी ने 'गामानय' गाय लाओ ऐसा कहा, तो श्रोता किसी गोलक्षण अर्थ को गोत्वजाति युक्त सास्नादिमान् पिण्ड को तथा तद्वाचक शब्द को, और तद्ग्राहक ज्ञान को भी (एक सा) अभेद रूप मे निश्चित करता है। अत इस इतरेतराध्यासमूलक सस्कार से परस्पर भेदज्ञान बहुत ही दुष्कर है।

इतरेतराध्यास का स्वरूप इस प्रकार है—

किसी ने किसी से पूछा कि—"गौ" यहा पर अर्थ क्या है, और शब्द कौन सा है, और इस शब्दार्थ मे ज्ञान का स्वरूप क्या है तो, इतरेतराध्यास के कारण भेद-ज्ञान मे असमर्थ होता हुआ सकीर्ण उत्तर ही देता है—

"गौरित्यर्थ गौरिति शब्द, गौरिति ज्ञानमिति"

इसी शब्दार्थ की इस सकीर्णता को दूर करने के लिए महाभाष्य मे पतञ्जलि ने "अथ गौरित्यत्र क शब्द" यह प्रकरण प्रारम्भ किया है ताकि पाठको को प्रविभाग-पूर्वक शब्द, अर्थ व उसके सम्बन्ध का ज्ञान हो जाय। इस अप्रकृत प्रसङ्ग को अब और नही बढायेंगे। सक्षेप मे प्रसङ्ग-प्राप्त इस शब्दस्वरूप विशेष-स्फोट के विषय मे ही दो एक बातें कह देनी है कि—स्फोट वह शब्द है जहा अन्य शब्द अन्तर्निहित हैं, इसी के अनुग्रह से शब्द का साक्षात्कार होता है और अर्थ का बोध होता है।

ध्वनि मे जिस प्रकार वैखरी वाक् निमित्त है, उसी प्रकार अर्थबोध मे स्फोट निमित्त है, क्योकि वर्णों के आशुविनाशित्व नियम के अनुसार पूर्व-पूर्व वर्णों के नाश हो जाने से, उत्तरोत्तर वर्णों के साथ सम्मेलन न होने से वर्णों का, पदो का वाक्यार्थ-

रूप में समन्वय नहीं हो सकता है। व्यापक स्फोट की कल्पना कर लेने से पूर्व-पूर्व वर्णों के अभाव में भी उत्तरोत्तर वर्णों में संस्कार आहित हो जाता है। वह अन्त्य वुद्धि निर्ग्राह्य होने से, तत् स्वरूप स्फोट द्वारा वाक्यार्थ-ज्ञान हो जाता है।

इसी वाक्यार्थ-स्फोट को अखण्ड व नित्य माना जाता है। महामाहेश्वर अभिनव गुप्त के मतानुसार केवल दो ही तत्त्व हैं प्रकाश और विमर्श। यह विमर्श ही प्रकाश रूप शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति है। ये दोनों अन्योन्याश्रय के विना नहीं रह सकते है।

विमर्श को परावाक् व प्रकाश को अर्थ रूप मे माना है। जैसा कि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य के मङ्गलाचरण मे वर्णन किया है—"**वागर्थाविव-सम्पृक्तौ**" इत्यादि। यह शक्ति चेतन है, शक्ति से रहित प्रकाश स्वय जड़ है, जब विमर्श का संकोच हो जाता है तभी प्रकाश में भेद-बुद्धि का उदय होता है। अर्थात् जीव सांसारिक दशा का अनुभव करता है। आचार्य शंकर के मत में—प्रकाश को स्वप्रकाश मान लेने से कार्य चल जाता है प्रकाशक के रूप मे विमर्श को मानने की आवश्यकता नही है। बस प्रकाश ही ब्रह्म है जो अनिर्वचनीया अविद्या के द्वारा नाना रूपों में प्रतीत होता है।

कुछ वैय्याकरणों ने पश्यन्ती वाक् को ही ब्रह्म माना है। इसी शब्द ब्रह्म में तादात्म्य होना ही जीव का मोक्ष है। मुक्ति में शब्दात्मना जीव की स्थिति रहती है।

वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि ने जगत् को शब्द-ब्रह्म का विवर्त माना है, तथा परिणाम भी माना है।

"**शब्दस्य परिणामोऽयमित्यादि**" कारिका मे इसका प्रतिपादन किया है। इनका मत है कि स्फोट का तो यह जगत् विवर्त है, परन्तु ध्वनि या वैखरी वाणी का यह परिणाम है।

श्रुति भी कहती है कि—"**वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे, स भूरिति व्याहरत् भुवमसृजत्**"।

वस्तुत: शब्द की महिमा अपार है। आचार्य भर्तृहरि के अनुसार सारा ज्ञान शब्दानुविद्ध ही होता है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शुद्धेन भासते॥ (वाक्यपदीय)

ज्यादे क्या कहा जाय इसके विषय मे यदि यह शब्दरूपा ज्योति न हो तो यह संसार अन्धकारमय हो जाय और लोकयात्रा (जीवन निर्वाह) का भी सारा कार्य विरत हो जाय, जैसा कि आचार्य दण्डी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यादर्श में भी कहा है—

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥ (काव्या०)

यह समस्त भुवनत्रय अन्धकार में निमग्न हो जाता, यदि शब्द नाम की यह ज्योति, सृष्टि के आरम्भ से प्रलयपर्यन्त अपना प्रकाश न फैलाती तो, अर्थात् शब्द के बिना किसी का, चाहे वह शिष्ट हो या अशिष्ट या अनुशिष्ट किसी का भी व्यवहार नहीं चल सकता है। क्योंकि जगत् का जितना भी व्यवहार है वह सब ज्ञानपूर्वक ही होता है, जैसा कि दार्शनिकों का सिद्धान्त है—जानाति, इच्छति, यतते इत्यादि यह अर्थविषय सब ज्ञान शब्द से ही अनुविद्ध, समन्वित है। अर्थात् किसी पदार्थ का ज्ञान शब्द के ही माध्यम से हो सकता है, और शब्द के अभाव में पदार्थविषयक जागतिक व्यवहार कैसे होगा ? अतः महाकवि दण्डी की यह सूक्ति भी सुतरां सत्य है कि—

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा ।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥

शिष्टशब्द से यहाँ पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदि का ग्रहण किया गया है। अनुशिष्ट से प्रकृति-प्रत्यय के विभाग को जानने वाले संस्कृतज्ञ व प्राकृतभाषाविद् आदि हैं। अन्य शिष्ट शब्द से अनुशासन न प्राप्त किये हुए देशीभाषाविज्ञजनों का ग्रहण किया गया है। तात्पर्य यह है कि शिक्षित हो चाहे अशिक्षित, वाणी के बिना किसी का भी व्यवहार (लोकयात्रा) नहीं चल सकता है।

अतः इसी लोक व्यवहार की सुविधा व सुन्दरता के लिए तत्तद् देशवासी अपनी अपनी भाषा को भी संस्कृत व परिष्कृत करते हैं। इस दिशा में जो जितना कुशल होगा, वह उतनी ही ऐहलौकिक व पारलौकिक उन्नति में अग्रसर होगा। कहा भी है—

गौ गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥ (काव्यादर्श)

अर्थात्—सम्यक्—अच्छी तरह, दोषों से बचाकर और गुणालङ्कारों से सुसज्जित करके विद्वानों द्वारा प्रयुक्त की गई वाणी निश्चित ही कामदुघा-सकल कामनाओं को देने वाली होती है। यदि वही वाणी स्वर-मात्रादि एवं सन्दंश मङ्केतादि दोषों से प्रयुक्त होती है तो प्रयोग करने वाले की ही मूर्खता को प्रकट करती है। इसी बात को महाभाष्यकार ने अपने शब्दों में इस प्रकार कहा है—

"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति"

इसी नादरूपा सर्व जीवों में व्याप्त वाणी के विषय में कहा जाता है कि वह अनादि व अक्षर है, यह पदार्थ रूप में चराचरी जगत् में परिणत होती है। मुख्य रूप से इस वाणी के चार भेद शास्त्रकारों ने दिखलाए हैं। (१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा (४) वैखरी। यह परावाक् मूलचक्र में रहती है, पश्यन्ती नाभिचक्र में, मध्यमा हृदय में और वैखरी कण्ठदेश में रहती है। दूसरे को समझाने या स्वयं बोलने के लिए वैखरी का ही प्रयोग होता है। मध्यमा द्वारा उच्चरित ध्वनि ही स्फोट

का अभिव्यञ्जक है।

परावाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥
वैखर्याह्विकृतो नादः परश्रवणगोचरः।
मध्यमा कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते॥ (वा० व्र० का०)

विशाल विश्व के प्रति जीव में अभिव्यक्त अनादि अक्षररूपा इस वाणी की थोड़े शब्दों में कहानी इस प्रकार है—

सकल कला सम्पन्न सच्चिदानन्द परम विभु परमेश्वर की जब अपने ही अन्तर्गत लीन इस जगत् के सृष्टि की इच्छा हुई तो उसमें स्पन्दन हुआ, जिसे विन्दु कहते हैं। यह स्पन्दन ही परमेश्वर की शक्ति है और यह विन्दु, जिसे नाद कहते हैं यही नाद शब्द-ब्रह्म है। अर्थात् परमेश्वर की शक्ति के विकसित रूप ये विन्दु और नाद हैं—

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो विन्दुर्विन्दोर्नाद समुद्भवः॥

यही सूक्ष्म नाद नामक शब्द-ब्रह्म परावाणी के नाम से शास्त्रों में वर्णित है। इसी परावाणी से अपरा-पश्यन्ती मध्यमा एवं वैखरी वाणी की उत्पत्ति होती है। इसी सूक्ष्मा नादरूपा परावाणी का विवर्त यह जगत है। ऐसा शब्द देववादी आचार्य भर्तृहरि मानते हैं। जैसा कि उन्होंने कहा है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

अतः परानाद-रूपा क्रिया से उत्तरोत्तर वैखरी रूप में अभिव्यक्त यह ध्वनि ही शब्द है। यही अर्थ का अभिव्यञ्जक होने से स्फोट है। वस वैय्याकरणों ने केवल इसी अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है। इसी अभिव्यञ्जकत्व के सादृश्य से पुनः काव्यतत्त्वज्ञों ने, (जिनमे आनन्दवर्धनाचार्य प्रमुख भी सम्मिलित हैं) केवल अभिव्यञ्जक शब्द में ही ध्वनि शब्द का व्यवहार नहीं किया, अपितु शब्द, अर्थ, व्यञ्जना व्यापार, व्यङ्ग्यार्थ प्रधान काव्य, इन सबको ध्वनि शब्द से कहा है। जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

ध्वनति, ध्वनयति वा यः सः, व्यञ्जकः शब्दः, अर्थश्च ध्वनिः। ध्वन्यते अनेनेति शब्दार्थयः व्यञ्जना व्यापारोऽपि ध्वनिः। ध्वन्यते इति व्यङ्ग्यरसादिरलंकार वस्तु च ध्वनिः ध्वन्यते अस्मिन् इति ध्वनिः काव्यम्।

इस प्रकार ध्वनि शब्द का प्रयोग पाँच भिन्न-भिन्न परन्तु परस्पर सम्बद्ध अर्थों मे हुआ है—

ध्वनि की व्यापकता

काव्य जगत् में कविता व ध्वनि का परस्पर अपरिहार्य कोई जीव्य-जीवक सा मनोरम सम्बन्ध है। प्राय वही कविता सहृदय हृदय हारिणी कही जाती है, जो कि ध्वनि की छाया में अनुगृहीत हो। ध्वनिछटा से हीन कविता, कुरूप कामिनी की तरह कथमपि सहृदयों के हृदय को समावर्जन करने में समर्थ नहीं हो सकती है।

काव्य का कोई भी पदार्थ हो, वह जब तक ध्वनि के पारस स्पर्श को नहीं प्राप्त कर लेता है, तब तक वह सुवर्ण की तरह कमनीय या रमणीय नहीं हो सकता है। अत काव्यीय पदार्थों का चाहे वे रस हों अलकार हों अथवा वस्तु रूप हों, उन्हें ध्वनित होना अनिवार्य है। अर्थात् काव्य में शब्दार्थों की स्थिति किसी व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव में अवस्थित होकर जब व्यञ्जना व्यापार द्वारा किसी अनिर्वचनीय अर्थ को अभिव्यक्त करती है, तभी वह काव्य-पद के प्रयोग सज्ञा को प्राप्त कर सकती है। अन्यथा काव्य का कोई असामान्य महत्व नहीं है। इसी व्यञ्जना वृत्ति पर आश्रित काव्य विश्व में सहृदयों तथा मनीषियों के लिए उपादेय है। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है कि संसार में कवित्व-काञ्चन की कसौटी यह व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव या व्यञ्जना व्यापार का आश्रय रूप ध्वनि सिद्धान्त ही है, जिसका अक्षुण्ण साम्राज्य कविता के उस काल से आज तक अबाध गति से चला आ रहा है और भविष्य में भी इसी तरह चलता रहेगा।

क्या वजह है कि वर्षों पुरानी कविता वाल्मीकि, व्यास, कालिदास व भवभूति की आज भी अपने में वही अभिनव आस्वाद प्रदान कर रही है, जैसा कि तत्तत् युगों व समयों में आस्वाद्य थी। एक मात्र इसका उत्तर यही है कि उक्त कवितायें ध्वनि सिद्धान्तान्तगत व्यञ्जनावृत्ति से अनुप्राणित है।

अनिर्वाच्य व्यङ्ग्य से अनुगृहीत कविता ही काव्य के महनीय लक्ष्य की पूर्ति कर सकती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। कुशल कवि के तीक्ष्ण व्यङ्ग्य से ही विद्ध हुए व्यक्ति अपने सहज-दुर्गुणों को भी पल भर में छोड़ देते हैं। महाकवि सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी इसके ज्वलन्त उदाहरण है। कविता के तुल्य कान्ता के सदुपदेश से प्रपञ्चपराङ्मुख होकर परानिर्वृत्ति की ओर अभिमुख हुए।

अत व्यञ्जना या ध्वनि का महत्व केवल काव्य ससार में ही न रहकर, लोक-यात्रा में या प्रबुद्ध जन ससद से लेकर मन्दगति निरक्षर तक व्याप्त है।

अत काव्य के सर्वस्वभूत इस मौलिक सिद्धान्त के अनुशीलन की बीच में कुछ उपेक्षा सी हो गयी थी। उस प्रमेय के प्रति काव्यज्ञ जन उदासीन से हो गये थे। उसी तत्व को सहृदय जनों के मनों में प्रकाशित करने के लिए, इस महामेधावी का यह अथक प्रयास था जैसा कि स्वय आनन्दवर्धनाचार्य ने ग्रन्थ की भूमिका में स्वय कहा है—

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधै य समाम्नातपूर्व ॥
तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत् स्वरूपम्"। इत्यादि

इस प्रकार साहित्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि तत्त्व की उद्भावे व्याख्या असामान्य घटना है। जिस प्रकाशपुञ्ज को प्राप्त कर कविता कामनी का कल· कुछ अवर्णनीय आनन्द प्रदान करता है, और काव्य-रसिकों को तल्लीनता प्रदान करता है।

विश्व की चाहे किसी भी भाषा की कविता हो वह निश्चित ही ध्वनि की चहार-दीवारी का अतिक्रमण कर अपनी शोभा नही बढा सकती है। आज के वैज्ञानिक युग में भी जहाँ केवल मशीनों मे ही मस्तिष्क का व्यापार चल रहा है। जिस युग के नचिकेताओं की सिर्फ रोटी कपड़ा और मकान की माँगें हैं, ऐसे भौतिकवाद के अहंकार में भी व्यङ्ग्यार्थ प्रधान—वाल्मीकि, व्यास, कालिदासादि की कवितायें व काव्य आदर्शोन्मुख मानव पथ प्रदर्शन में प्रेरणा दे रही है और इन्ही कविता के अमृत तुल्य अक्षय्य भण्डारों से आधुनिक कवि भी अपनी अपनी कविताओं के कलेवर सजा रहे हैं। लोग गद्य-पद्य-रचना द्वारा साहित्य मन्दिर की सेवा कर रहे हैं।

यद्यपि आज के युग की आवश्यकतायें कुछ और हैं। विज्ञान के नाना चमत्कारों से संसार की रूप रेखा कुछ परिवर्तित सी मालूम पड़ती है। भारतीय संस्कृति का भी परिधान कुछ तिरस्कार व तिरष्कार के संक्रान्ति काल में प्रस्फुटित हो रहा है। सभ्य लोगों के जीवन का परिस्पन्द भी पूर्व की अपेक्षा अपेशल व पश्चिम के संक्रमण से ही कौशलपूर्ण मालूम पड़ता है। आज के युग व जीवन की नई मान्यतायें, नये परिवेश, नये तरीके से विचार करने के लिए कुछ बाध्य से कर रहे है पर फिर भी जो शाश्वत सत्य हैं, या जो प्रकृति-प्रसूत प्रेरणायें है, वे शायद नये या पुराने परिवेश या परिस्पन्द की परवाह नही करेंगे। यही बातें कविता या कवि के विषय में भी लागू हो सकती हैं। कितना ही परिवर्तन क्यों न हों, नन्हें बालक की वही तुतलाहट रहेगी, कोकिल का वही कलरव रहेगा, जल, नदी-वेग व वनों का भी वही स्वभाव। जैसा कि है, जो है वह सार्वभौम है, ठीक यही हाल आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा पुनः सुप्रतिष्ठापित ध्वनि का है। काव्य जगत में इसकी सार्वभौम प्रतिष्ठा है। इसका किसी तरह प्रतिवाद नहीं किया जा सकता है, आज भी कविता की छाया रहस्य या प्रगति में ध्वनि का ही किसी न किसी रूप में प्रतिफलन हो रहा है भले ही आज के प्रस्तुत विधान या अप्रस्तुत विधान शब्दार्थ की दृष्टि से कुछ और है।

ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य

आनन्दवर्धन

काव्यालोचन के क्षेत्र में आनन्दवर्धन अपनी मौलिक प्रतिभा व गम्भीर विवेचना के लिए काव्यशास्त्र के विद्यार्थी को सदैव याद रहेंगे। व्याकरणशास्त्र में

। है, और वेदान्त शास्त्र में जो स्थान आचार्य शंकर
आचार्य आनन्दवर्धन का भी है। इन्होंने अपनी प्रखर
। कम्पायमान ध्वनि के सिंहासन की पुनः स्थापना की।
र-अफवाहें उस समय तक चल रही थी, उनसे इस सिद्धान्त
ई थी। पण्डितों की एक तरह से ध्वनि सिद्धान्त में आस्था ही
ग उसके विषय में अभाव, अन्तर्भाव, व अलक्षणीय-अवाच्य
जैसी कु हे थे। निश्चित ही ध्वनि की मर्यादा बड़ी सन्देहपूर्ण दृष्टि से देखी जा रही थी। नि जैसे काव्यतत्त्व का जिक्र करना उस समय अपने को उपहास का पात्र बनाना था। ऐसे ही मिथ्या, सन्देह व अज्ञानप्रधान मनोभावों के संघर्षात्मक अन्तराल काल में इस युग-विधायक महामनस्वी का उदय हुआ, जब कि ध्वनि सिद्धान्त का टिमटिमाता हुआ प्रकाश तमसावृत्त सा था।

निश्चित ही काव्य गगन का नक्षत्रमण्डल उस समय काव्य सन्ध्या के इन संक्रमण काल में उदीयमान पूर्ण चन्द्र की प्रतीक्षा कर रहा था, जहाँ से प्रकाश पाकर नक्षत्र पुञ्ज अपनी अपनी स्थिति पर प्रतिष्ठित हो सका था। आनन्दवर्धन ने जब ध्वनि सिद्धान्त से काव्यक्षेत्र को प्रकाशित किया तो काव्यतत्त्वों को अपना यथोचित अधिकार हस्तगत हुआ। तात्पर्य यह है कि ध्वनि साम्राज्य में उसके अङ्ग व उपाङ्गों को अपना जन्म सिद्ध अधिकार मिला। अब ये सब एक दूसरे से मिलजुल कर या परस्पर उपकार्योपकारक-भाव से अपना कर्त्तव्य सम्पादन करने लगे। अभिप्राय यह है कि आनन्दवर्धन केवल ध्वनि सिद्धान्त के उद्भावक या उद्धारक ही नहीं हैं अपितु काव्य जगत् में वे समर्थ व्यवस्थापक भी हैं। जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में कहा गया है—

"ध्वनिकृतामलङ्कारसरणिव्यवस्थापकत्वात्"

वस्तुतः उस समय में यह कार्य कि कुछ सहृदयों को साक्षी मानकर ध्वनितत्त्व की "काव्यात्मा" के रूप में घोषणा कर देना एक बड़ा मुश्किल व साहसपूर्ण कार्य था।

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥ १/२

सचमुच में भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन एक बड़ा नाम है और काव्य जगत को एक महत्वपूर्ण देन उनका युगान्तरकारी ग्रन्थ ध्वन्यालोक है। इसमें इन्होंने "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः" ऐसा लिखा है। इससे विदित होता है कि ध्वनि-विषयक-चिन्तन ध्वन्यालोक के निर्माण होने से पहिले ही हो चुका था। किन्तु गम्भीरतापूर्वक तब तक किसी आचार्य ने उस पर चिन्तन नहीं किया था। शायद यह सिद्धान्त पहिले गुरु-परम्परा से मौखिक रूप में ही चलता

आया हो, ग्रन्थ रूप मे यह प्रकाशित न हुआ हो, क्योंकि परम्परया इस पद के व्याख्या के अवसर पर, एक जगह अभिनवगुप्त ने लोचन टीका मे लिखा है—

"अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः। न च बुधा भूयांसोऽनादरणीयं वस्तु आदरेणोपदिशेयुः, एतत्त्वादरेणोपदिष्टम्"।

आचार्य भरत के रस सिद्धांत से ध्वनि-चिन्तकों ने अवश्य प्रेरणा प्राप्त की थी, किन्तु सर्वथा वे उसी पर निर्भर नही रहे। ध्वनि सिद्धांत की प्रतिष्ठा करके आनन्दवर्धन ने इस क्षेत्र में एक नये अध्याय का ही श्री गणेश कर दिया, एक सर्वथा नये युग का ही निर्माण कर दिया। ऐसे शक्तिशाली युग का निर्माण किया कि जिसके अस्तित्व को मनाने वाले आचार्यो की एक लम्बी परम्परा है।

ध्वनि सिद्धांत के सामने काव्यक्षेत्र मे अन्य सिद्धांत निस्तेज से हो गये। इस सिद्धांत की आधारशिला व्यञ्जना व्यापार है। ध्वनिवादियों का यह आधार इतना प्रबल तथा सशक्त है कि भट्ट नायक व महिम भट्ट जैसे आलोचक प्रयत्न करने पर भी इसका एक पत्थर भी नही हिला सके। मम्मट के कडे हाथों से जब पुनः इसकी पुष्टि हो गई तो फिर इसके विरोध के लिए कोई गुञ्जाइश ही नहीं रही। संसार का सभ्य समाज आज भी ध्वनि सिद्धांत के लिए नतमस्तक है। यह कम महत्व की बात नही है कि पश्चिमी आलोचना क्षेत्र मे भी समीक्षा के लिए ध्वनि सिद्धांत एवं व्यञ्जना शक्ति का प्रचुरमात्रा मे उपयोग हो रहा है। अठारहवी शती के मान्य कवि "ड्राईडन" ने एक जगह लिखा है—"मोर इज मेण्ट दैन मीट्स दी ईयर" अर्थात्—कविता का तात्पर्य उससे अधिक होता है, जो हमारे कान के साथ सम्पर्क में आता है। यह स्पष्टतया 'ध्वन्यर्थ' की काव्य में स्वीकृति है। इस प्रकार पश्चिम में भी मान्य आलोचकों का करीब-करीब यही विचार है कि काव्य-कला सदैव कुछ मात्रा तक व्यञ्जनात्मक होती है। प्रकारान्तर से यह ध्वनि सिद्धांत की सार्वभौम प्रतिष्ठा है। यद्यपि ध्वनिपूर्वीय युग में भरत के टीकाकारों के बीच रस पर भी अपेक्षाकृत गम्भीर विवेचन हो गया था।

परन्तु अब तक का यह चिन्तन केवल वस्तुवादी दृष्टिकोण से या अभिनय कला की दृष्टि से हो रहा था। आनन्दवर्धन की इस सूक्ष्म समीक्षा पद्धति ने क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ साथ काव्यक्षेत्र में एक नई चेतना भी प्रदान की। नई चेतना का यह संदेश ध्वन्यालोक ग्रन्थ के रूप मे अवतरित हुआ। फलतः नाट्य की ही तरह काव्यक्षेत्र मे भी रस, ध्वनि, अलंकारादिकों का अनुसंधान होने लगा। आनन्दवर्धन ने रस स्वरूप पर पृथक् से विचार नहीं किया। इन्होंने ध्वनि नामक उत्तम काव्य के तीन रूप स्थिर किये—रस, वस्तु, अलंकार। किन्तु इन्हें व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ही अभिव्यक्त माना है।

काव्यक्षेत्र में जिस सर्वमान्य ग्रंथ पर इनकी कीर्ति-कौमुदी व्याप्त है, उस

ग्रंथ का नाम "ध्वन्यालोक" है। वस्तुत काव्यीय तत्त्वो के लिए यह ग्रंथ आलोक का काम करता है जिससे तत्त्वो की सकीर्णता भी अच्छी तरह दूर हो जाती है। यह ग्रंथ कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन भागो मे सम्पन्न है। कारिका तथा वृत्ति के विषय मे विद्वानो मे बहुत मतभेद है। कोई कोई कारिका तथा वृत्ति के कर्त्ता को एक ही व्यक्ति मानते हैं। कुछ विद्वान् वृत्ति भाग का निर्माता आनन्दवर्धन, तथा कारिका का निर्माता कोई अन्य सहृदय नामक विद्वान था ऐसा मानते हैं। इसमे बहुत सा सदेह लोचन के व्याख्यान पर भी निर्भर है। आधुनिक टीकाकार वृत्ति व कारिका दोनो का कर्त्ता आनन्दवर्धन को ही मानते हैं। जो भी हो यह एक अनुसधान का विषय है। ध्वन्यालोक मे चार उद्योत है। प्रथम मे ध्वनि-विषयक-इतिहास व उसका निरूपण है। द्वितीय व तृतीय उद्योत मे ध्वनि के भेद-प्रभेदो का निरूपण व ध्वनि-स्थापना का प्रामाणिक विवरण है। चतुर्थ उद्योत मे ध्वनि की उ-य. ना का विचार है।

आनन्दवर्धन के जीवन-वृत्त के विषय मे उल्लेख बहुत थोडा ही मिलता है। मालूम पडता है कि ये काश्मीर के रहने वाले थे, क्योकि इन्हे काश्मीर के राजा अवन्ति वर्मा से "राजानक" नाम की सम्मानित उपाधि मिली थी।

राजतरङ्गिणी के इस पद्य से यह बात भी मालूम होती है कि उसी अवन्ति वर्मा के ये सभा पण्डित भी थे।

मुक्ताकण शिवस्वामी कविरानन्दवर्धन ।
प्रथा रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मण ॥

उक्त प्रमाण से यही विदित होता है कि इन्होने अपने जन्म से जिस ब्राह्मण-वश को अलङ्कृत किया था, वह मूलत कश्मीर के ही रहने वाले थे, इनके पिता का नाम भट्ट "नोण" था, यह बात भी राजतरङ्गिणी से ही निश्चित होती है, ऐसा जैकोजी, बूलनर आदि पाश्चात्य विद्वानो का मत है।

आलकारिक शिरोमणि यह विद्वान्, साहित्य व सभी दार्शनिक सम्प्रदायो का पारङ्गत होता हुआ भी व्याकरण शास्त्र मे विशेष आस्थावान् था जैसा कि वृत्ति ग्रंथ मे उल्लेख है—"प्रथमे हि विद्वासो वैयाकरण व्याकरणमूलतत्वात् सर्वविद्यानाम्"

आनन्दवर्धन की कृतियाँ

आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा विरचित प्रबन्धो मे—ध्वन्यालोक के अतिरिक्त देवीशतकम्, विषमबाणलीला (प्राकृत काव्य) अर्जुनचरितम्, तत्त्वालोक (दर्शनशास्त्र) धर्मोत्तमा, (*विनिश्चय नामक बौद्ध ग्रन्थ की विवृति*) इनका भी यत्र तत्र उल्लेख मिलता है। ध्वन्यालोक व देवीशतकम् मुद्रित व सुलभ है, किन्तु अन्य ग्रथो का सङ्केत केवल उदाहरण के रूप मे मिलता है। अर्जुनचरित व विषमबाणलीला के पद्यो को ग्रथकार ने उदाहरण के रूप मे अपने ग्रथ ध्वन्यालोक मे दिया है। वही वृत्तिभाग मे उक्त दोनो तत्त्वालोक व धर्मोत्तमा टीका का भी जिक्र किया है। ध्वन्यालोक मे इन पूर्वोक्त-ग्रथो के अतिरिक्त—कादम्बरी, कुमारसम्भव, तापसवत्सराज, नागानन्द,

भारत, मधुमथनविजय, रत्नावली, रामाभ्युदय, रामायण, वेणीसंहार, सेतुबन्ध, हरिविजय, हर्षचरित, इत्यादि ग्रंथों का, तथा अमरुक, आदिकवि वाल्मीकि, उद्भट्ट, कालिदास, धर्मकीर्ति, बाण, भरत, भामह, व्यास, सर्वसेन इत्यादि ग्रन्थकारो के नामों का उल्लेख है।

स्थिति-काल

यह कश्मीर के महाराज अवन्ति वर्मा के सभापण्डित थे, अत. इनके स्थितिकाल के विषय में कोई कठिनाई नहीं है। इतिहासकारो ने अवन्तिवर्मा का समय (८१५ ई० से ८८३ ई० तक) नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित किया हे अतः इनका भी यही समय मानने मे कोई आपत्ति नही हे।

वैसे ग्रंथ के साक्ष्य के अनुसार भी इनका यही समय निश्चित होता है, क्योंकि अष्टम शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान वामन व उद्भट के सिद्धान्तो का आलोचन इन्होने अपने ग्रंथ में किया है जिससे इनके पूर्वसीमा के निर्धारण की सुविधा होती है। उत्तर सीमा के लिए ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त हैं, जिन्होने लोचन टीका लिखी है। इनका स्थिति काल इनके ग्रथो के पुष्पिका के अनुसार इनका समय ९६० ई० से लेकर १०२० ई० तक माना गया है।

ध्वन्यालोक की टीकायें

ध्वन्यालोक की प्रसिद्ध दो टीकायें मानी जाती है। (१) चन्द्रिका व (२) लोचन, इनमें केवल अभिनवगुप्त की लोचन टीका ही सम्प्रति उपलब्ध है। चन्द्रिका टीका का नाम भी हम केवल लोचन टीका से जान सकते हैं। जैसा कि अभिनवगुप्ताचार्य ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत के लोचन व्याख्या के अन्त मे लिखा हे—

> किं लोचनं विनाऽऽलोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
> तेनाभिनवगुप्तो लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥ १ ॥
> यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
> स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिमां शिवाम् ॥ २ ॥

और स्थान विशेष में चन्द्रिका टीका की आलोचना भी की है।

"चन्द्रिकाकारस्तु पठितमनुपठति, इत्यलमस्मत्पूर्ववंश्यैः सह विवादेन बहुना, अविवक्षितवाच्यादीनामपि प्रकाराणां दर्शितत्वादित्यलं निजपूज्यजनसंगोत्रैः साकं विवादेन"

इत्यादि उद्धरणों से प्रतीत होता है कि चन्द्रिकाकार अभिनवगुप्त के कोई सगोत्रीय पूर्वज रहे होंगे।

लोचन व्याख्या

ध्वन्यालोक की लोचन टीका प्रौढ-पाण्डित्य से मण्डित है। यह ग्रंथ के रहस्योद्घाटन मे जितनी सक्षम है, उससे भी कही अधिक परपक्ष के आक्षेप विदलन में है।

प्रस्तुत मौलिक विचारों को बड़े ऊहापोह व मनोवैज्ञानिक ढंग से उपस्थापित किया है। सचमुच लोचन जैसे प्रौढ़-व्याख्यान को पाकर ध्वन्यालोक पण्डितमण्डली का चिन्तामणि बन गया। यथावसर लोचन का व्याख्यान प्रत्यभिज्ञा चमत्कार-चर्चित रहता है। यह कहने में सङ्कोच नहीं होता कि यत्र-तत्र इन व्याख्यानों में कश्मीर की पूरी छाया है।

लोचन-व्याख्याकार अभिनवगुप्त

महामाहेश्वर अभिनवगुप्ताचार्य की जन्मभूमि कश्मीर है। साहित्य के साथ-साथ शैवदर्शन व तन्त्रशास्त्र के भी अलौकिक प्रतिभाशाली विद्वान् थे। तन्त्रशास्त्र में "तन्त्रालोक" नामक इनका ग्रन्थरत्न अद्वितीय है। साहित्यशास्त्र में इनकी रचना, भरत के नाट्यशास्त्र की टीका "अभिनवभारती" तथा ध्वन्यालोक की टीका "लोचन" है।

इन्होंने साहित्यशास्त्र, तन्त्रशास्त्र व शैवदर्शन पर ग्रंथों का प्रणयन किया। जिनमें प्रमुख ग्रंथ हैं—अभिनवभारती, लोचन, (साहित्य में) तन्त्रालोक व प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी (प्रत्यभिज्ञा दर्शन में) बोधपञ्चदशिका, मालिनीविजयवार्तिक, इत्यादि।

इनका स्थिति काल ९६० ई० से लेकर १०२० ई० तक का है। इनके पिता का नाम नरसिंह गुप्त था, और इनकी माता का नाम विमला था। ये बाल्यकाल से ही परम मेधावी थे। व्याकरण शास्त्र को इन्होंने अपने पिताजी से ही पढ़ा, जैसाकि तन्त्रालोकटीकाकार ने लिखा है "पित्रा स शब्दगहने कृतसन्निवेश" और साहित्यशास्त्र को भट्टेन्दुराज जी से पढ़ा था जैसा कि लोचन के प्रारम्भ में लिखा है—

"भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्"

इस प्रकार इन्होंने अपना सारा जीवन शास्त्राध्ययन में ही व्यतीत कर दिया, और विभिन्न विषय के करीब चालीस के लगभग पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण किया जो संसार में कीर्ति कलेवर के रूप में आज भी सुधीजनों के मनों में सुप्रतिष्ठित है।

इसके अतिरिक्त ध्वन्यालोक के ऊपर (आधुनिक) संस्कृत टीका "दीधिति" के नाम से प्रसिद्ध है। यह टीका चौखम्बा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुई है। इस टीका के लेखक पण्डित श्रीबदरीनाथ शर्मा है। ये बिहार प्रान्त के मैथिल विद्वान् हैं। मूल ग्रंथ का आशय समझने के लिए यह टीका सरल तथा सुन्दर है। टीका लिखने का उद्देश्य बतलाते हुए टीकाकार ने द्वितीय उद्योत के अन्त में लिखा है—

आलोके विषमे क्षामे लोचने च पुरातने।
स्वैरं मे चरतश्शश्वत् स्खलनं क्षम्यतां बुधैः॥

हिन्दी टीका भी ध्वन्यालोक की विस्तृत मुद्रित हो चुकी है। इसके लेखक हैं, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि।

काव्यशास्त्र के विभिन्न प्रस्थानों का परिचय

काव्यशास्त्र के विद्यार्थी को ध्वनि सिद्धान्त की जानकारी के लिए यह बहुत जरूरी है, कि उसे ध्वनि के पूर्व का काव्यशास्त्र-विषयक वातावरण तथा ध्वनि के आस पास के वातावरण का तथा ध्वनि के बाद के भी वातावरण का ज्ञान हो। अत इस प्रकरण मे हम सामान्य रूप मे काव्यशास्त्र के उन सभी प्रस्थानो का वर्णन करेंगे, जो ध्वनिसिद्धान्त के प्रादुर्भाव के बहुत पहिले से विद्यमान थे, और जो ध्वनिसिद्धान्त के समकालिक या आस-पास थे, या जिनका जन्म ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के बाद में हुआ। इनमे से पाँच प्रस्थानों का निर्देश हम ध्वनि-स्वरूप विवेचन के प्रसङ्ग मे कर चुके है, जो क्रमश. अलंकार, रीति, रस, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य है। काव्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र के मुख्यतः ये छँ ही प्रस्थान हैं जिनके मुख्य प्रवर्तकों का नाम इस प्रकार है—

प्रस्थान		आचार्य
(१)—रस प्रस्थान	—	भरतमुनि।
(२)—अलंकार प्रस्थान	—	भामह।
(३)—रीति या गुण प्रस्थान	—	वामन।
(४)—ध्वनि-प्रस्थान	—	आनन्दवर्धन।
(५)—वक्रोक्ति प्रस्थान	—	कुन्तक
(६)—औचित्य प्रस्थान	—	क्षेमेन्द्र

(१) रस

रस-प्रस्थान के आचार्य भरतमुनि माने जाते है। भरतमुनि द्वारा निर्मित नाट्यशास्त्र नाट्यविषयक-पदार्थो के विवेचन के साथ-साथ रस का भी सुन्दर तथा विशद विवेचन करता है। यद्यपि यह ग्रंथ नाटकीय तत्त्वो का ही प्राधान्येन प्रतिपादन करता है इसीलिए इसका नाम नाट्यशास्त्र पड़ा है। परन्तु सत्व, रज व तमोगुण से उत्पन्न होने वाला यह जगत् त्रिगुणात्मक होने से नानाचरित वाला है। ये नाना चरित ही नाना रस हैं, क्योकि चैतन्य का इन चरितों मे भी प्रतिफलन होता है। इन्हीं नाना रस वाले चरितो का लोक मे जो अभिनय है वही नाट्य है। यह अभिनय जिस काव्य से प्रस्तुत किया जाता है, वही दृश्यकाव्य या नाटक है। अतः कवि को अपने काव्य जगत् में भी माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों का विधान करना पड़ता है, और आहार्य अभिनय के लिए बाह्य अलंकरणो की भी आवश्यकता होती है, इसलिए उपमा रूपकादि अलंकारों का भी यथावसर विवेचन करना पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस ग्रंथ में यद्यपि सभी पदार्थो का संग्रह है, पर नाट्य के प्राणभूत रस का यहाँ सर्वप्रथम बड़ा सुन्दर वर्णन है। इसीलिए इस प्रस्थान के प्रवर्तक यही माने जाते हैं, जैसा महाकवि कालिदास ने भी नाट्य के विषय में कहा है—

"त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसे वर्तते"—तात्पर्य यह है कि नाट्य के माध्यम से ही उस समय रस का विवेचन प्रायः होता रहा—"विभावानुभावव्याभिचारि-

सयोगाद् रसनिष्पत्ति" भरत के इस सूत्र की व्याख्या प्राय नाटक को उद्देश्य करके पूर्व आचार्यों ने की है। बाद में काव्य की दृष्टि से भी इसकी सत्ता मानी जाने लगी और काव्य की दृष्टि से भी रस का विवेचन होने लगा।

किसी न किसी रूप मे सभी आलोचक रस की सत्ता मानने लगे। अग्निपुराण, भट्टनायक व महिम प्रमुख आचार्य भी जो कि ध्वनि के विरोधी हैं, व्यञ्जना व्यापार के बिना भी काव्य मे रस की सत्ता मानते हैं। अलकार व गुण सम्प्रदाय वालो ने भी रसवदादि अलकार व कान्ति नामक गुण मे रस की सत्ता मानी है। बाद मे तो रसान्वित वाक्य ही काव्य माना जाने लगा इसीलिए कविराज विश्वनाथ ने भी निर्भ्रान्त शब्द मे "वाक्य रसात्मक काव्यम्" इस प्रकार की घोषणा कर दी। ध्वनि-वादी आचार्यों ने भी ध्वनि के त्रिविध भेदो मे "रसध्वनि" को ही मुख्य माना है। वस्तुत बात भी यही है। कवि की सृष्टि का तात्पर्य ही रस है, इसीलिए आचार्य भरत का कहना है—"नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।"

(२) अलकार

अलकार प्रस्थान के प्रधान आचार्य भामह हैं। इनके ग्रथ का नाम "काव्या-लकार" है। अलकार शास्त्र का यह प्राचीनतम ग्रथ है। भामह के मत मे सम्मिलित शब्दार्थ ही काव्य है "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"। काव्य का यह सुचिन्तित लक्षण प्राय सभी आलकारिको को मान्य हुआ। इतनी बात जरूर हुई कि उत्तरोत्तर इस लक्षण मे कुछ न कुछ विशेषण जुडते गये, जैसे भोज ने "निर्दोष गुणवत् काव्यम्" इत्यादि। भामह के टीकाकार उद्भट, दण्डी, रुद्रट एव प्रतीहारेन्दुराज भी इसी अलकार मत के पोषक है।

काव्य के स्वरूप मे मतभेद होते हुए भी "अलकार ही काव्य के मुख्य शोभा-धायक अङ्ग है," इसमे किसी की विप्रतिपत्ति नहीं थी। भामह के काव्य मे उभयविध अलकारो की प्रधानता है, जैसा कि उनका कथन है—"शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्ट द्वयम् तु न"। भामह के इष्ट शब्दालकार तथा अर्थालकार दोनो है जबकि दण्डी अधिकतर अर्थ की ओर ही जोर देते है। जैसा कि उनका काव्य-लक्षण है—

"शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना, इष्टा अभिलाषिता सरसतया मनोहर-तया च वर्णयितुमुद्दिष्टा ये अर्था कविप्रतिभा पदावली प्रतिफलिता सुन्दरा पदार्थास्तै-र्व्यवच्छिन्ना युक्ता पदसमूहशरीर काव्यशरीरम्।

अर्थात्—मनोहर चमत्कार पूर्ण अर्थ से युक्त पदावली पदसमूह को काव्य कहते है।

पूर्वोक्त व्याख्यानो से प्रतीत होता है कि उस युग मे भी अनेक वर्ग थे जो केवल शब्द सौन्दर्य या अर्थ सौन्दर्य विशेष को काव्य मानते थे। दण्डी के अनुसार अर्था-लकार-सौन्दर्य विशिष्ट पदावली ही काव्य है। दण्डी एक प्रबुद्ध कवि थे। अत उन्होने

शदार्थालंकार से भी कुछ आगे वढ़ने की। चेष्टा की यद्यपि वे काव्य के सौन्दर्य के रूप मे अलंकार तत्त्व को आवश्यक मानते थे, परन्तु वे उस अलंकृतपदावली को भी सरस व स्वच्छ रखना चाहते थे। उनके निम्न पद्य से यही वात झलकती है—

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपु सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥ (का० ७)

अन्यत्र भी जहाँ शव्दालकार अनुप्रासादि की इन्होंने चर्चा की है, वहाँ भी रसोत्कर्ष को ध्यान में रखकर उनका निवन्धन वतलाया है। साथ ही रचना की स्वच्छता और उक्ति-वैचित्र्य की भी प्रधानता दी है अर्थात् "ग्राम्यदोप" से रचना की सुरक्षा होनी चाहिए यह उपदेश भी किया है—

कामं सर्वोप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवेनं भारं वहति भूयसा ॥ (का० ६)

इस प्रकार दण्डी ने शव्दार्थ की स्वच्छता तथा अलकार की सरसता को स्वीकार कर काव्य के रथ को कुछ आगे वढ़ाया है। वाद में मम्मट ने जव काव्य में अलंकार के लिए वैकल्पिक स्थिति मानी तो पीयूपवर्प जयदेव जैसे आलंकारिक इस वात को सहन नहीं कर सके। इनका कहना है, अग्नि की उष्णता की तरह काव्य में भी अलंकार की स्थिति आवश्यक है जो विद्वान शव्द व अर्थ को अलंकार से हीन मानते है वे अग्नि को भी उष्णता से हीन क्यो नही मान लेते ?

"अङ्गीकरोति यः काव्यं शव्दार्थावनलङ्कृती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती" ?

वस्तुतः अलंकार काव्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है,

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्"

कितना ही काव्य कलेवर सुन्दर हो, पर विना भूपा के व्यर्थ है। वाद के आलंकारिकों ने भी "काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् कहकर (अर्थात् काव्य का व्यापार ही अलंकार के अधीन है) किसी न किसी रूप में इन उपमा, रूपक, दीपकादि तत्त्वों का अपने अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है। रुद्रट के काव्यालंकार में इन सव अलंकारों का सुन्दर वर्गीकरण मिलता है। सारा अलंकार वर्ग इन मूल विभाजक तत्त्वों मे समाया हुआ है—औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेप।

इन्ही मूल तत्त्वो के आधार पर आगे अलंकारों का विकास हुआ। इन अलंकारों की संख्या आगे सौ से भी उपर हो गई है। अलंकारवादी आचार्यो ने रस, भावादि प्रपञ्च, रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि व समाहित अलंकार के भीतर ही समेट कर रख दिया और प्रतीयमान अर्थो को पर्यायोक्ति, समासोक्ति, आक्षेपादि अलंकारों में ही गतार्थ कर लेते है। अलंकार सम्प्रदाय का महत्व इसीसे प्रतीत होता है कि इसी के आधार पर इस शास्त्र का नाम अलंकारशास्त्र पड़ा।

(३) रीति या गुण

रीति प्रस्थान के प्रधान प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। यद्यपि रचना की स्वच्छता के उपर दण्डी के समय में ही काफी ध्यान दिया जाने लगा, परन्तु रीति को आत्मा के रूप में घोषणा करने का श्रेय आचार्य वामन को ही है। वामन के ग्रन्थ का नाम "काव्यालङ्कारसूत्र" है। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है—"रीतिरात्मा काव्यस्य" रीति का लक्षण विशिष्टपदरचना कहा है—

"विशिष्टा पदरचना रीतिर्विशेषो गुणात्मा"

पदों में विशिष्टता गुणों के ही कारण आती है। गुणों के अभाव में पद एक सामान्यरूप में ही रहते हैं। अतः यह निश्चित हुआ कि रीति गुणों के ही उपर अवलम्बित होने वाला काव्यतत्त्व है इसीलिए रीति सम्प्रदाय को गुण सम्प्रदाय के नाम से भी कहते हैं।

गुणों का वर्णन सर्वप्रथम भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है। ये संख्या में दस होते हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, उदारता तथा कान्ति।

भामह ने माधुर्य, ओज व प्रसाद इन तीन ही में दसों गुणों का अन्तर्भाव कर दिया। आगे दण्डी ने भरत के ही इन दस गुणों को शब्दगत व अर्थगत माना है। वामन ने भी शब्दगत तथा अर्थगत इन गुणों की संख्या बीस मानी है। बाद में ध्वनिवादी आलंकारिकों ने भी तीन—माधुर्य, ओज व प्रसाद में ही इनको गतार्थ कर दिया।

रीति का प्राचीन नाम मार्ग है। दण्डी के माने हुए जो दस गुण हैं, उन्हें ही लोगों ने वैदर्भ मार्ग कहा है। इस मार्ग की लोगों ने बड़ी प्रशंसा की है। वामन ने दण्डी की अपेक्षा काव्य की कल्पना को बड़े ही दृढ़ आधार पर निर्मित किया। काव्य की आत्मा के विषय में उल्लेख करने वाले ये सर्वप्रथम आचार्य हैं। इन्होंने तीन रीति मानी हैं—वैदर्भी, गौडी, और पाञ्चाली। वैदर्भी रीति में समस्त दस गुणों की सत्ता मानी है। गौडीया रीति में केवल दो गुण ओज और कान्ति की सत्ता मानी है। पाञ्चाली रीति में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों की सत्ता मानी है।

वैदर्भी रीति की प्रशंसा में इन्होंने प्राचीन कवियों के वाक्य भी उद्धृत किये हैं—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥ (का० सू० वृत्ति)

दण्डी ने काव्य के शोभाधायक धर्मों को अलंकार कहा है—"काव्यशोभा-करान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते" परन्तु वामन ने काव्य के शोभाधायक धर्म गुण माने हैं और अलंकारों को उस शोभा को बढ़ाने वाला माना है।

"काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः" ।

अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय में काव्य के सिद्धान्तों का विशेष अनुशीलन हुआ है। आनन्दवर्धनाचार्य की भी मान्यता है कि काव्य के तत्वों के उन्मीलन में रीति सम्प्रदाय के आचार्य वामन ने अपनी क्षमता दिखाई है। प्रकारान्तर से यह वामन की भूयसी प्रशंसा है।

कांति गुण के अन्तर्गत इन्होंने रस का समावेश किया है और अविवक्षित वाच्य ध्वनि को इन्होंने वक्रोक्ति के अन्तर्गत किया है। इनका वक्रोक्ति का लक्षण है—

"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः" अर्थात्—सादृश्यमूला जो लक्षणा है उसे ही वक्रोक्ति कहते है।

ध्वनिवादी आचार्यो को भी काव्य मे रीति-तत्त्व मान्य है। आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वन्यालोक ग्रथ में इनका विवेचन संघटना के नाम से किया है और इसका विषय-विभाग भी विस्तार से दिखाया है। अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में आये हुए प्रथम ध्वन्यभाववादी के विकल्प के अवसर पर—"वर्ण संघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि या कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गता श्रवणगोचरम्"।

उक्त सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए रीति व वृत्तियों को भिन्न नही माना है। उन्होने रीतियों को अनुप्रास शब्दालंकार की तीन जातियाँ ही मानी जिनका नाम परुपा, ललिता, मध्यमा है। अन्य लोगो ने इन्ही अनुप्रास की जातियों को नागरिका, उपनागरिका व ग्राम्या के नाम से कहा है।

आचार्य मम्मट ने भी अपने काव्यप्रकाश मे शब्दालकार के वर्ण के प्रसङ्ग में इन्हे—उपनागरिका, परुपा, कोमला नाम से कहा है।

आचार्य कुन्तक ने अपने "वक्रोक्ति जीवितम्" नामक ग्रंथ मे उक्त रीतियो का नामकरण इस प्रकार किया है—

(१) सुकुमार मार्ग — (वैदर्भी रीति)
(२) विचित्र मार्ग — (गौडी रीति)
(३) मध्यम मार्ग — (पाञ्चाली रीति)

इस प्रकार इस रीतितत्त्व तथा गुणो का समादर सभी सम्प्रदाय वालो ने अपने-अपने ढंग से किया है। काव्यनिर्माणेच्छु कविजनों को इनका परिशीलन करना चाहिए।

चौखम्भा से प्रकाशित हिन्दी का काव्यालंकारसूत्र की भूमिका में पं० रेवा प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि—वामन को रीति सम्प्रदाय या गुण सम्प्रदाय का

प्रवर्तक मानना एक भ्रान्त धारणा है। सत्य और तथ्य तो यह है कि वामन जिस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं, वह है सौन्दर्य। वामन ने गुणालकार से सस्कृत शब्दार्थ को काव्य माना है। अलकार के कारण काव्य उपादेय होता है अन्यथा तो शास्त्र-वार्ता या इतिवृत्त से काव्य का कोई भेद ही नहीं हो सकता है। जैसा कि काव्यालकार सूत्र मे लिखा है—"काव्य खलु ग्राह्यमुपादेय भवति, अलकारात् काव्यशब्दोऽयं गुणालकारसस्कृतयो शब्दार्थयोर्वर्तते" यहा जिस हेतु से काव्य को उपादेय बतलाया गया है, वह हेतु है अलकार।

पुन जिज्ञासा होती है कि यह अलकार क्या चीज है "कोऽसावलकार इत्यत आह—

सौन्दर्यमलकार ॥ २ ॥

अलङ्कृतिरलकार, करणव्युत्पत्त्या पुनरलकारशब्दोऽयम् उपमादिषु वर्तते ॥ २ ॥

अर्थात् सौन्दर्य (या सौन्दर्याधायक तत्त्व) ही अलकार है, करणव्युत्पत्ति मे तो यह अलकार शब्द उपमा आदि अलकारो मे प्रयुक्त होता है। अर्थात्—यहाँ अलकार शब्द का अर्थ अलङ्कृतिरलकार इस प्रकार भाव मे घञ् प्रत्यय करके अलकार शब्द निष्पन्न होता है, न कि "अलक्रियते अनेन" इति करण व्युत्पत्तिपरक। यदि करणार्थक अलकार शब्द को माना जायेगा तो इसका अर्थ होगा उपमा, रूपक, दीपक आदि अलकार। फिर यह भी मानना पडेगा कि इन्ही अलकारो से काव्य ग्राह्य है। आगे रीति व गुण के लिए तो फिर कोई गुजाइश ही नहीं रह जाती है, और "युवतेरिव रूपमङ्गकाव्य स्वदते शुद्धगुण तदप्यतीव"—इत्यादि वक्ष्यमाण वाक्य से स्ववचन विरोध भी होता है इसलिए अलकार शब्द भावार्थ परक होने से 'सौन्दर्य' ही इसका अर्थ लिया जायेगा। फलत अलकार का अर्थ सौन्दर्य है। आगे उस सौन्दर्य का छान-बीन जब करते हैं तो, कहते हैं कि वह सौन्दर्यरूप अलकार दोषो के परित्याग और गुणो एव अलकारो के उपादान से होता है—"स दोष गुणालङ्कारहानादानाभ्याम्" ॥ ३ ॥

अर्थात् सौन्दर्य के अभिव्यञ्जक या निष्पादक तत्त्व दोषाभाव—रचना की स्वच्छता, गुणालकारो द्वारा उसकी शोभाधायकता ही है, पुन यहा तक कि यही बात आ जाती है कि "काव्यशोभाया कर्त्तारो धर्मा गुणा तदतिशयहेतवस्त्वलकारा" गुण आतरिक धर्म होने से, अलकार की अपेक्षा विशिष्ट है, इसलिए कहा—"विशेषो गुणात्मा" अर्थात् वैशिष्ट्य विधायक जो धर्म है, सौन्दर्य वही तो गुण है। गुणस्वरूप सौन्दर्य जब एक धर्म हुआ तो यह अन्य सभी सम्प्रदायो की तरह जैसे माधुर्य, ओज, प्रसाद गुणो को धर्म माना है वैसे ही यहाँ भी ये गुण धर्म है। फिर इस धर्म का अधिष्ठान जैसे अन्य सम्प्रदायो का मत रस है, इस सम्प्रदाय मे रीति है। इस तरह से तो 'रीतिरात्मा काव्यस्य" यह बात ठीक ही मालूम पडती है। आगे स्वय उन्होंने "युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यम्" इत्यादि से पुन काव्य के स्वरूप की युवती के सुगठित सौन्दर्य सम्पन्न अङ्ग से तुलना की है। सुशीलता, दया, दाक्षिण्य आदि जैसे किसी सुन्दरी

के सौन्दर्य मे चार चाँद लगा देते हैं, उसी प्रकार वामनोक्त ये गुण भी काव्य स्वरूप या काव्य की आत्मा रीति को अत्यधिक सुशोभित कर देते हैं। वामन का आशय यह है कि गुण तो वैसे कहीं भी रह सकते हैं चाहे सुरूप हो या कुरूप, पर काव्य के लिए तो हमें रूपवान् अङ्ग की ही आवश्यकता है, जिससे युगपत् सौन्दर्य व शील का अनुभव हो सके। वामन का यह सिद्धान्त यथार्थ के अति निकट भी है कि सुगठित शरीर में ही सौन्दर्य का भी दर्शन हो सकता है और इसकी महिमा को प्रस्फुटित करने वाले तत्त्व हैं गुण। इसीलिए यह वचन भी ठीक ही है कि—"पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्था विशेषवत्" इत्यादि।

(४) ध्वनि

साहित्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि सिद्धान्त सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। काव्य के अन्तःस्वत्त्व आत्मा का बड़ी तल्लीनता के साथ पर्यालोचन इसी सम्प्रदाय ने किया। सहृदयों के साक्ष्य में ध्वनिकारों ने अभिनव व्यञ्जना व्यापार के द्वारा इस ध्वनि तत्त्व की काव्य क्षेत्र में अभिव्यक्ति की। ध्वनि सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय आनन्दवर्धन को है। यद्यपि यह तत्त्व आनन्दवर्धन के पहिले भी काव्यजगत् में विद्यमान था, परन्तु पक्ष-विपक्ष के बीच में निर्भ्रान्ति रूप में इसकी सुप्रतिष्ठा करने का श्रेय आनन्दवर्धन को ही है। उस युग में भी ध्वनि मत को परम्परया कथञ्चित् विद्वान् स्वीकार कर रहे थे। परन्तु अधिकतर यह विद्वानों के विवाद का विषय बना हुआ था, जैसा कि आनन्दवर्धनाचार्य के प्रारम्भिक भाषण से यह विदित होता है—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं।
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥ ध्व० १/१

विद्वानों ने जिस ध्वनि तत्त्व को "आम्नायवत्" परम्परया काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है, बहुत से विद्वज्जनों की इसमें विप्रतिपत्तियां है। कुछ लोग ध्वन्यभाववादी है, अन्य भक्ति लक्षणा में ही इसको गतार्थ मानते हैं। कुछ लोग ध्वनि के लक्षण करने में असमर्थ होते हुए इसे अनिर्वचनीय कहने लगे।

ऐसी स्थिति में जब कि ध्वनि के विषय में चारों ओर भ्रान्ति, सन्देह व अज्ञान फैला हुआ है, सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने के लिए इसके स्वरूप का निरूपण करेंगे।

(१) ध्वनि के विषय में अभाववादियों का मत—

अभाववादी आचार्य ध्वनि की सत्ता को ही नहीं मानते हैं। देहात्मवादी चार्वाक जिस प्रकार स्थूल देहेन्द्रिय-संघात से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता ही नहीं मानते। इसी प्रकार ये लोग भी शब्दार्थ गुणालंकार के अतिरिक्त काव्य में अन्य किसी

तत्त्व की सत्ता नहीं मानते हैं। इनमे भी विभिन्न विकल्प है, वे इस प्रकार हैं—

(क) प्रथम पक्ष का कहना है कि शब्द और अर्थ सम्मिलित काव्य है। शब्दार्थो की चारुता शब्दालकार और अर्थालकार से होती है। रचनागत चारुत्व शब्द व अर्थ गुणों स सम्पन्न हो जाता है। वृत्ति व रीतियाँ भी अलकार व गुण से अतिरिक्त नहीं हैं अर्थात काव्य के शोभाधायक तत्त्वो मे इनकी भी गिनती हो सकती है। परन्तु ये उपनागरिका आदि वृत्तियाँ अनुप्रासादि शब्दालकारो की जाति विशेष ही है। वैदर्भी आदि जा रीतिया है वे एक तरह की सघटना है, ये समुदित रूप से गुणो के अभिव्यञ्जक होन से माधुर्यादि गुणो की ही समुदायरूप हैं। ये ही काव्य मे चमत्काराधायक तत्त्व हैं, तब ध्वनि नामक तत्त्व को काव्य मे चमत्काराधायक मानना सर्वथा अनुचित है।

(ख) द्वितीय अभाववादी पक्ष "प्रस्थानवादी" कहा जाता है। यदि कोई कहे कि गुणालकार-व्यतिरिक्त एक चारुत्वाधायक तत्त्व ध्वनि है, तो प्रस्थानवादी पक्ष इसे स्वीकार करने को तैयार नही है क्योंकि काव्य की एक निश्चित परम्परा है, जिसका चमत्कार सहृदय गुण व अलकार मे देखते हैं। अत गुणालकारसस्कृत शब्दार्थ ही काव्य कहा जाता है। सभी सहृदयो को यही अभीष्ट भी है, न कि ध्वनि नामक कोई अप्रसिद्ध तत्त्व, क्योंकि यह सहृदयो को आकृष्ट करने मे समर्थ नही है।

(ग) अभाववादियो का तृतीय—अन्तर्भाव पक्ष—इनका मत है कि ध्वनि नाम के किसी अपूर्व तत्त्व की सम्भावना ही नहीं की जा सकती है। यदि काव्य मे चारुता उत्पन्न करने वाला कोई तत्त्व ध्वनि है तो उसका उत्तर चारुत्व हेतु, गुण व अलकारो मे ही कही अन्तर्भाव किया जा सकता है। इस प्रकार ध्वनि नाम की कोई भी विलक्षण वस्तु नहीं हो सकती है। हाँ, इन्ही चारुत्वाधायक तत्त्वो मे से किसी अन्यतम का अभिनव नामकरण ध्वनि हो सकता है। क्योंकि वैचित्र्य तो अनन्त हैं, एक ही उपमा का आकार और प्रकार का विस्तार बहुत हो सकता है। नई कल्पना के किसी प्रकार-विशेष मे इस ध्वनितत्त्व का भी अन्तर्भाव हो सकता है।

(२) भक्तिवादी आचार्यों का मत—

भक्ति शब्द का अर्थ लक्षणा है मुख्य अर्थ का भङ्गकर—(अर्थात् 'मुख्यार्थ-बाध) जहा अमुख्य अर्थ से काम चलाया जाता है उसे भक्ति कहते हैं। "मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येव मुख्यार्थबाधा, निमित्तम्, प्रयोजनम् इति त्रयसद्भावे, उपचारबीजमित्युक्तम्"।

भक्तिवादी आचार्यो का मत है कि शब्दो की दो प्रकार की वृत्ति मानी जाती है, एक का नाम मुख्यवृत्ति है, और दूसरी का नाम गुणवृत्ति है। इनमे गुणवृत्ति के अन्तर्गत ही ध्वनि का समावेश हो सकता है।

(३) अनिर्वचनीयवादी मत—

अनिर्वचनीयवादी आचार्यों के मत में ध्वनितत्त्व का शब्द द्वारा व्याख्यान नहीं हो सकता है। यह तो केवल अनुभूति का ही विषय है, काव्य का शब्दार्थ शरीर माना जाता है। शब्द का अर्थ या उसके सामर्थ्य की यहाँ पहुँच नहीं है। अतः वाणी का विषय न होने के कारण यह तत्त्व अनिर्वचनीय कहा जा सकता है।

इस प्रकार के विरुद्ध परिस्थिति में ध्वनिकार को ध्वनि के स्वरूप, लक्षण व ध्वनि प्रधान काव्यों में वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से पृथक् इसकी सत्ता दिखाना आवश्यक था। इसी प्रयास के फलस्वरूप इन्होंने ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ की रचना की और ध्वनि सिद्धान्त की विस्तार से विवेचना की।

ध्वनि वह तत्त्व है—

जहाँ वाच्य अर्थ के भीतर से एक अन्य रमणीय अर्थ अभिव्यक्त होता हो, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार पूर्ण हो, इसी को ध्वनि काव्य कहते हैं।

अर्थ दो प्रकार के होते हैं वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ या प्रतीयमानार्थ। वाच्यार्थ के अन्तर्गत अलंकार-वर्ग समा जाता है, और प्रतीयमान अर्थ को ही ध्वनि कहते हैं। काव्य में इसकी स्थिति या सत्ता वाच्य से कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण होती है और पृथक् से अनुभूत होती है।

जैसे किसी कामिनी के शरीर में लावण्य की चमक रहती है, जो उसके अङ्गों से भिन्न एक पृथक् वस्तु होती है, ठीक काव्य मे भी इसी तरह शब्दार्थमय उसके अंग व अलकारादिको से पृथक् एक प्रतीयमान नामक वस्तु है, जो सहृदयों का आवर्जन करती है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वाणीसु वस्त्वस्ति महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥ ४॥

यद्यपि ध्वनि काव्य के अनेक प्रभेद होते है। परन्तु मुख्यतया तीन ही प्रसिद्ध हैं—

(१) रस ध्वनि (२) वस्तु ध्वनि (३) अलंकार ध्वनि।

रसध्वनि के अन्तर्गत नवरस, रसाभास, भाव, व भावाभास आदि सभी का समावेश हो जाता है।

वस्तुध्वनि वहाँ होती है, जहाँ किसी तथ्य कथन मात्र की अभिव्यञ्जना की जाए। अलकार ध्वनि वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्त किया गया पदार्थ इतिवृत्तात्मक न होकर कल्पनाप्रसूत हो, जो अन्य शब्दों मे प्रकट किए जाने पर अलंकार का रूप धारण करे।

इन तीनों में रसध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है, वस्तु व अलकार का तो रस में ही पर्यवसान होता है।

ध्वनिवादी आचार्यों के मत में काव्य तीन प्रकार के होते हैं—

(१) ध्वनि काव्य

(२) गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य,

(३) चित्रकाव्य

ध्वनिकाव्य में वाच्य से प्रतीयमान अर्थ में अधिक चमत्कार रहता है। यही सबसे उत्तम काव्य कहा जाता है। जिस काव्य में व्यङ्ग्य तो रहे, परन्तु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण (कम चमत्कार वाला) हो, उसे 'गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य' कहते हैं। शब्द व अर्थ के अलकारो से ही जिसमें चमत्कार आता है, वह चित्रकाव्य है। यह अधम कोटि का काव्य कहलाता है।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के मूल सिद्धात के अनुसार समस्त काव्यतत्त्वो का उचित सतुलन और मूल्याकन काव्य मे दिखलाया है। विशेषत गुण व अलकारो को उनके वास्तविक स्थान पर प्रतिष्ठित कर एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। गुण रस के धर्म है और रस मे इनकी स्थिति आवश्यक है, अत ये नित्य धर्म कहे जाते हैं। अलकार रस के अनित्य धर्म हैं। ये काव्य के अङ्गभूत शब्दार्थ पर आश्रित होने वाले हैं।

ध्वनि सिद्धान्त की सार्वभौमरूप से प्रतिष्ठा हो जाने पर कुछ विद्वान् इस सिद्धात का विरोध करते रहे। ये लोग काव्य के परम तत्त्व रस को स्वीकार करते हुए भी ध्वनि-सिद्धान्त व व्यञ्जना व्यापार का विरोध करते रहे। विद्वानों ने ध्वनि प्रतिष्ठा के बाद के इस समय को "ध्वनिध्वस काल" और इन विरोधी आचार्यों के सम्प्रदाय को 'ध्वनिध्वस सम्प्रदाय' कहा है।

इस सम्प्रदाय में भट्टनायक, कुन्तक व महिमभट्ट का नाम मुख्यत उल्लेखनीय है जिन्होंने अपने-अपने प्रौढ ग्रथो का निर्माण केवल ध्वनि के विरोध मे किया।

(१) भट्टनायक ने अपने ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' मे ध्वनि का खण्डन किया था। यह ग्रथ सम्प्रति उपलब्ध नही है। एक श्लोक मे महिमभट्ट ने भी इस ग्रथ के न मिलने का सताप अभिव्यक्त किया है।

भट्टनायक काव्य मे तीन व्यापार मानते हैं—अभिधा, भावना और भोगीकृत्त्व या भोजकत्व। पण्डितराज ने इनके मत का उल्लेख इस प्रकार किया है—"एव त्र्यो-ऽशा काव्यस्य, अभिधा भावना चैव, तद्भोगीकृतिरेव वा" इत्यादि। भट्टनायक की भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकरण सिद्धान्त की महत्वपूर्ण देन है। ये साख्यमता-नुयायी हैं।

(२) दूसरे विरोधी आचार्य कुन्तक है। इन्होंने बडे सरम्भ के साथ वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना अपने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रथ मे की। यह एक तरह से अलकारवाद की ओर से अन्तिम व विफल प्रतिक्रिया थी, जो ध्वनि सिद्धान्त के प्रति

अवयव की प्रतिस्पर्धा में काव्यवाद पर अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहती थी, आचार्य कुन्तक ने ध्वनि सिद्धान्त की छाया का ही अनुसरण कर ध्वनि के सारे भेदों को वक्रोक्ति में ही समेट लेना चाहा।

इनके अनुसार "वक्रोक्ति" काव्य की आत्मा है। वक्रोक्ति की परिभाषा करते हुए कहा है—प्रसिद्ध कथन की शैली से भिन्न कथन प्रकार—"वक्रोक्तिः, प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधाः कीदृशी—वैदग्ध्यमङ्गीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छितिः तथा भणितिः, विचित्रैवाऽभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते"।

अर्थात्—प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र वर्णन शैली का नाम ही वक्रोक्ति है।

(३) महिमभट्ट भी ध्वनि-विरोधी आचार्यों मे मूर्धन्य है। आपने समस्त ध्वनि प्रपञ्च को अनुमान मे ही गतार्थ करने का प्रयास किया है। इसके लिए आपने एक स्वतन्त्र "व्यक्तिविवेक" नामक ग्रंथ की ही रचना कर डाली। आपने अभिव्यज्यमान रस, वस्तु व अलंकारों के लिए गम्य-गमकभाव मूलक अनुमान ही पर्याप्त समझा, रसादि की प्रतीति अनुमिति ही है। उसके लिए पृथक् व्यञ्जना व्यापार की कल्पना करना अनुचित है। कहा है—

"अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्" इत्यादि पद्य से यही प्रतिज्ञा भी आपने की है। आपने शब्द में केवल एक ही अभिधा-शक्ति मानी और अर्थ मे किसी प्रकार का व्यङ्ग्य् व्यञ्जकभाव न मानकर केवल लिङ्गता मानी है।

अपि च—शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरथस्यैकैव लिङ्गता।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ॥

इनके अतिरिक्त न्यायमञ्जरीकार नैय्यायिक धुरन्धर जयन्तभट्ट ने भी शब्दशक्ति वर्णन के प्रसङ्ग में ध्वनि के उपर कटाक्ष किया है—"यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चनध्वनिम्", कहकर, परन्तु बाद मे तर्कवाद तथा ध्वनिवाद के विषय में पृथक् पृथक् समझकर विरोध छोड़ दिया।

अथवा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते।
विद्वांसोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि ॥

(५) वक्रोक्ति

वक्रोक्ति प्रस्थान के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं। इन्होंने अपने प्रसिद्ध "वक्रोक्ति जीवितम्" नामक ग्रंथ में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वक्रोक्ति यह शब्द बहुत पुराना है। भामह ने इसको सभी अलंकारो का बीज बतलाया है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

यही वह वक्रोक्ति है, जिसे हम पहिले कह चुके हैं, इसके द्वारा पदार्थ चमक

उठना है, इसके बिना कौन अलंकार है ? अर्थात् कोई नहीं। अलंकारों में अलंकारत्व का सम्पादक यह वक्रोक्ति ही है। आगे वामनाचार्य के मत में यह वक्रोक्ति लक्षणा हो जाती है। उन्होंने लिखा है "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति" यही वक्रोक्ति कुन्तक के हाथ में आकर काव्य की आत्मा बन जाती है।

वक्रोक्ति का अर्थ है—किसी बात को अलौकिक रूप से प्रकट करना। बात करने के दो तरीके हैं—एक सामान्य रूप (जिसे वार्ता कहते हैं) और दूसरा विशिष्ट रूप है। तालाब में कमल खिलने का वर्णन दो तरह से किया जा सकता है, एक तो यह है कि "तालाब में सुन्दर कमल खिले हैं" यह केवल वार्ता है, स्वभाव-कथन है। इसी अर्थ को दूसरे रूप में इस तरह कह सकते हैं—"किसी सुन्दरी के मुख की समता पाने के लिए कमल जल में एक पैर से खड़ा तपस्या कर रहा है" यही वक्रोक्ति है, क्योंकि यह कथन की सामान्य शैली नहीं है, कहने का एक विचित्र ही ढंग है। इसलिए इसको "प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा, कीदृशी वैदग्ध्यभङ्गी-भणिति वैदग्ध्य विदग्धभाव कविकर्मकौशल, तस्या भङ्गी विच्छित्ति तया भणिति, विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते—अर्थात्—प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। यह एक प्रकार से वैदग्ध्यपूर्ण कथन है, विचित्र भङ्गिमा से युक्त, कौशलपूर्ण कविकर्म ही वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति काव्यमर्मज्ञों के आह्लाद-कारक, सुन्दर (वक्र) कवि व्यापार से युक्त रचना (बन्ध) में अवस्थित शब्दार्थमय काव्य में रहती है। कहा भी है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यतद्विदाह्लादकारिणि॥

इस प्रकार वक्र कवि-व्यापार-गोचर सम्मिलित शब्दार्थ को सामान्यरूप से काव्य का व्याख्यान करके काव्य-पदार्थ के योग्य विशिष्ट शब्दार्थों का व्याख्यान करते हैं—

वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धामिति यद्यपि।
तथाऽपि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥

पर्यायवाचक अनेक शब्दों के रहते हुए भी (कवि) विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक ही शब्द वस्तुतः शब्द है। इसी प्रकार सहृदयों को आनन्दित करने वाला अपने स्वभाव से सुन्दर पदार्थ ही वस्तुतः काव्यमार्ग में अर्थ शब्द से कहा जाता है—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥

विचित्र कवि व्यापार के गोचर ऐसे शब्द और अर्थ अलंकार्य—(अलंकरण करने योग्य) होते हैं। ऐसे शब्दार्थों का अलंकार—शोभाधायक तत्त्व है—विचित्रतापूर्ण-कथन का प्रकार-विशेष वक्रोक्ति है। अर्थात् वैदग्ध्यभङ्गीभणिति—कवि कौशलपूर्ण कथन ही वक्रोक्ति है—

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥

कुन्तक के अनुसार यही वक्रोक्ति का स्वरूप है, जो कि अलंकारवाद का चरम उत्कर्ष है। यह एक तरह से ध्वनिवाद की प्रतिस्पर्धा में अलंकारवाद का संघर्ष भी है। कुन्तक अपनी प्रौढ़ मेधा के वल पर अलंकार का ही परिष्कारपूर्वक परिधान वदलकर उसे ध्वनि की गद्दी में वैठाना चाहते थे। इसमें एकमात्र इनका अस्त्र है—"वैदग्ध्यभङ्गी-भणिति"। वस इससे आगे न तो व्यञ्जना व्यापार मानने की जरूरत पड़ती है और न ध्वनि सिद्धान्त की ही आवश्यकता होती है। इन्होंने अपने वक्रता के सारे प्रकारों में ध्वनि के समस्त भेदों का समावेश करने का वड़ा भारी प्रयास किया है।

कुन्तक ने वक्रता के छै भेद स्वीकृत किये हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) वर्ण विन्यास वक्रता,
(२) पदपूर्वार्ध वक्रता,
(३) पदपरार्ध वक्रता,
(४) वाक्य वक्रता,
(५) प्रकरण वक्रता,
(६) प्रवन्ध वक्रता।

वाक्यवक्रता के अन्तर्गत इन्होंने सारे अलंकार-वर्ग का अन्तर्भाव कर दिया। इनकी अलंकार-निरूपण-शैली भी अन्य आचार्यो से विलक्षण है।

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते य सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥

उपचार वक्रता के अन्तर्गत अविवक्षितवाच्यध्वनि के भेदों का समावेश कर दिया गया है।

संवृत्तिवक्रता व प्रवन्धवक्रता मे अन्यसंलक्ष्यक्रमध्वनि व असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के कुछ भेदों का अन्तर्भाव कर दिया गया है।

रसों को इन्होंने रसवत् अलंकार के अन्तर्गत मान लिया है। स्वभावोक्ति की ही तरह इन्होंने रसवत् अलंकार को अलंकार न मानकर उसे काव्य का एक महत्वपूर्ण मौलिक तत्त्व माना है। स्वयं इन्होंने तृतीय उन्मेष के ग्यारहवें श्लोक में लिखा है—

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ॥
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥

अपने स्वरूप से अतिरिक्त अन्य किसी (अलंकार्य) की प्रतीति न कराने से, और (अलंकार्य रस के साथ इस अलंकार) शब्द व अर्थ की असंगति होने से भी रसवत् अलंकार नहीं हो सकता है। इस विषय से इन्होंने ने व्युत्पत्ति के द्वारा अनेक विकल्प भी

दिखलाये हैं—जैसे—शब्द व अर्थ की असंगति होने से भी रसवत् अलंकार सिद्ध नहीं हो सकता है। रसवत्-अलंकार का विग्रह दो तरह से हो सकता है। (१) तत्पुरुष समास के रूप में इसका विग्रह होगा—"रसवत् अलंकार" इति। अर्थात् रसवान् का अलंकार। कर्मधारय समास करने पर विग्रह होगा—"रसवांश्चासौ अलंकार" अर्थात—रसवान् जो अलंकार है। ये दोनों ही विग्रह प्रायः निरर्थक से हैं। क्योंकि पहिले में रसवान् क्या है जिसका अलंकार रसवत् है। फिर रसवान् तो अलंकार्य है वह अलंकार कैसे होगा या अलंकार का विशेषण कैसे होगा? रसवान् को यदि काव्य भी माना जाय तो काव्य का अलंकार होने से यह भी सामान्य अलंकार की तरह माना जाएगा फिर तो सर्वत्र उपमादि में इसकी संकीर्णता हो जायेगी। इस प्रकार अलंकार रूप में तो इसकी संगति कथमपि नहीं हो सकती है। अतः रसवत् समस्त अलंकारों का प्राण है और काव्य का अद्वितीय सार है। इसका विवेचन कुन्तक ने स्वयं इस प्रकार किया है—

रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः।
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः ॥३/१४

अर्थात्—रसतत्त्व के विधान से, सहृदयों के लिए आह्लादकारी होने के कारण जो अलंकार रस के समान हो जाता है, वह अलंकार रसवत् कहा जाता है। इसके अन्तर्गत ध्वनिवादियों के ध्वनिकाव्य व गुणीभूतव्यङ्ग्य का अन्तर्भाव किया जा सकता है।

ठीक इसी तरह स्वभावोक्ति को भी कुन्तक अलंकार न मानकर अलंकार्य मानते हैं। दण्डी ने बहुत पहिले ही स्वभावोक्ति और रसोक्ति में कुछ पार्थक्य दिखलाया है। दण्डी के आधार पर राजा भोज ने इसका संशोधन कर वाङ्मय को तीन भागों में बाँटा है—

"वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्" ॥

इसमें अलंकार प्रधान काव्य वक्रोक्ति के अन्तर्गत आता है। रसभावादि प्रधान काव्य रसोक्ति के अन्तर्गत आता है। रीति और गुण प्रधान काव्य स्वभावोक्ति के अन्तर्गत आता है। रीति और गुण प्रधान काव्य स्वभावोक्ति के अन्तर्गत आता है। आधुनिक साहित्य-सिद्धान्तों के अनुसार यदि स्वभावोक्ति का सहजरूप मान लिया जाए तो इसका और परिष्कृत रूप इस प्रकार होगा—सत्य, भाव और कला, काव्य के ये ही प्रमुख तत्त्व हैं।

कुन्तक की वक्रोक्ति यद्यपि केवल कला पक्ष के प्रतिपादन तक सीमित नहीं रहती, फिर भी कुछ वस्तुवादी-दृष्टिकोण होने से वक्रोक्ति को कला भी कह सकते हैं। अतः इन्होंने वक्रोक्ति को "अलंक्रियते अनेन" इस अर्थ में अलंकार भी माना है। स्वभाव को अलंकार नहीं माना है। इसके समर्थन में इनकी उक्ति है—कि जो आचार्य स्वभावोक्ति को ही अलंकार मानते हैं, उनके मत में फिर अलंकार्य क्या रह जाता है—

अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ॥११॥ (प्र० उ०)

यदि स्वभावोक्ति को अलंकार मानोगे, तब उससे भिन्न कुछ अन्य अनिवार्य वस्तु होगी। परन्तु उस स्वभाव के बिना तो वस्तु का वर्णन ही सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वभाव रहित वस्तु तो निरुपाख्य असत्यकल्प होती है। शरीरादि को ही यदि अलंकार कहा जाय, तो दूसरे किस अलंकार्य को लोग अलंकृत करेंगे, क्योंकि अपने से खुद अपना अलंकरण तो हो नहीं सकता है।

इस प्रकार कुन्तक स्वभावोक्ति को अलंकार मानने के लिए तैयार नहीं हैं, जैसा कि उनका विचार है—

स्वभावव्यतिरेकेण वस्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद् रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥१२॥
शरीरं चेदलंकार, किमलंकुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥१३॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते, संक्षेप में उनके विचार इस तरह हैं—

(१) प्रस्तुत विषय और अप्रस्तुत विधान, अर्थात्—वर्ण्य वस्तु तथा वर्णन प्रणाली में स्पष्ट अन्तर है। स्वभावोक्ति प्रमुख वर्ण्य वस्तु है। अलंकार वर्णन प्रणाली है। अतः स्वभावोक्ति अलंकार नहीं हो सकती है।

(२) इसलिए भी स्वभावोक्ति अलंकार नहीं है क्योंकि उसका कोई निश्चित लक्ष्य नहीं बनता है। किसी ने उसको स्वक्रियारूप वर्णन कहा, तो किसी ने अवस्था-वर्णन कहा।

(३) मम्मटादिकों ने बालकादिकों की रूपचेष्टादि का जो वर्णन कहा है, वह तो वात्सल्यरस के अन्तर्गत आ जाता है। यदि नाना वस्तुओं के रूप व व्यापार तक स्वभाव को मान भी लिया जाय तो, वह वर्ण्य वस्तु ही है, न कि वर्णन-प्रणाली।

परन्तु महिमभट्ट व उनके अनुयायी आचार्यों की धारणा है कि कुन्तक ने सामान्य और विशेष के इस भेद को न समझकर स्वभावोक्ति का खण्डन किया है—आपका कहना है कि स्वभावमात्र का वर्णन स्वाभावोक्ति नहीं है, अपितु स्वभाव के दो रूप हैं, सामान्य और विशेष। सामान्यरूप जन सामान्य गोचर है, जातिगत रूप व गुण आदि। परन्तु विशिष्ट रूप कवि-कल्पित या कवि-प्रतिभा-प्रसूत होता है, यही स्वभावोक्ति अलंकार है। जैसा कि व्यक्ति-विवेक के द्वितीय विमर्श में कहा है—"वस्तुनो हि सामान्यस्वभावो लौकिकोऽर्थोऽलंकार्यः, कविप्रतिभासंरम्भविशेषविषयस्तु लोकोत्तरार्थोऽलंकरणमिति"।

रीति के विषय में भी कुन्तक का अपना एक अलग ही मन्तव्य है। रीति और

सम्प्रदाय के अनुसार रीति काव्य की आत्मा है, परन्तु कुन्तक के अनुसार पद रचना स्वरूप रीति केवल वक्रता का एक भेद है।

दण्डी ने जिस प्रकार रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है, इसी तरह कुन्तक ने भी मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है, जैसाकि वक्रोक्ति-जीवित के प्रथम उन्मेष में लिखा है—

सम्प्रति ये तत्र मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥

(१) सुकुमारमार्ग———(वैदर्भी रीति)
(२) विचित्रमार्ग———(गौडी रीति)
(३) मध्यममार्ग———(पाञ्चाली रीति)

कुन्तक से पूर्व ये रीतियों के नाम भौगोलिक या प्रादेशिक आधार पर थे, कुन्तक को यह आधार मान्य नहीं है। वे रीति की स्थिति किसी प्रदेश विशेष पर न मानकर, केवल कवि के स्वभाव पर आश्रित मानते हैं। इसीलिए इन्होंने इनके नामों में भी परिवर्तन कर दिया। इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त काव्य जगत् में एक नई चेतना का संदेश भी देता है, जैसा कि इस सूक्ति से विदित भी होता है—

प्रसिद्धमार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता॥

जहाँ वैचित्र्य की सिद्धि के लिए प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग कर उसी अर्थ को किसी दूसरे ही प्रकार से प्रतिपादित किया जाय वही वक्रोक्ति है।

इस प्रकार यह वक्रोक्ति शब्द अपनेमें काव्य के सभी तत्वों का समावेश करता हुआ व्यापक अर्थ का प्रतिपादक है और प्रतिपादन का वैचित्र्य भी प्रतिभापूर्ण है। रीति, गुण व अलंकार के विशिष्ट व्याख्यान पर स्वयं कुन्तक का अपना प्रभाव है, जो पुरानी परम्परा से कुछ परिष्कृत तथा अभिनवरूप में परिलक्षित होता है।

औचित्य

साहित्यशास्त्र में औचित्य का एक महत्वपूर्ण स्थान है, इसको व्यापकरूप से काव्य के जीवन (प्राण) रूप में उद्घोषणा करने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को है। इन्होंने अपने "औचित्यविचारचर्चा" नामक ग्रंथ में बड़े संरम्भ के साथ काव्य के जीवातुभूत इस औचित्य-तत्त्व की व्याख्या की है। आचार्य क्षेमेन्द्र साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य थे। यद्यपि ये भी ध्वनिवादी हैं, परन्तु ये औचित्य को एक व्यापक तत्त्व मानते हैं। इनका यह दृढ़ सिद्धान्त है कि काव्य का चाहे अलंकार, रस, ध्वनि, रीति, गुण-संघटना आदि कोई तत्त्व हो, वह औचित्य की मर्यादा से एक कदम भी आगे नहीं जा सकता है। अर्थात् काव्य के इन तत्त्वों की तभी पूर्ण प्रतिष्ठा है जबकि ये (उचितभाव) औचित्य से समन्वित हों।

जो वस्तु जिसके सदृश हो, उसे उचित कहते हैं, उचित का जो भाव है, उसे औचित्य कहते हैं—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भाव 'तदौचित्यं' प्रचक्षते ॥ (औ० वि०)

यह औचित्य ही रस का जीवितभूत प्राण है तथा काव्य में चमत्कारकारी है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ (औ० वि०)

क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किये है । पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिङ्ग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखाकर, तथा इसके अभाव में चमत्कार-हीनता का निर्देश कर सचमुच क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है ।

हमारी सम्मति में तो जीवन में जैसे औचित्य की आवश्यकता है, उससे भी कहीं अधिक आवश्यकता काव्य में है, क्योंकि काव्य को तो सभी के सामने जीवन का आदर्श उपस्थित करना है, इसीलिए काव्य को तो सर्वाङ्ग में औचित्यपूर्ण होना चाहिए । फिर काव्य के वे अङ्ग चाहे गुण हों या अलंकार हों अथवा रस ही क्यों न हो, औचित्य के विना सब फीके है । स्वयं क्षेमेन्द्र का कहना है कि—काव्य के ये अलंकार व गुण मिथ्या ही हैं, यदि काव्य के जीवितभूत इस औचित्य का विन्यास न हो तो—

अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणा मताः ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥

काव्य के जीवितभूत यदि इस औचित्य का समावेश नही है तो फिर गुण और अलंकारों से चाहे आप कितना ही कविता कामिनी का कलेवर सजा दो, उससे चमत्कार की गन्ध तक नही आयेगी—

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्या गणितैर्गणैः ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥

उचित स्थान मे विराजमान अलंकार वस्तुतः अलंकार है औचित्य से समन्वित गुण ही वस्तुतः गुण है—

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ।

आचार्य क्षेमेन्द्र की इन सूक्तियों से तो यही झलकता है कि काव्य के सभी स्तरों में तथा सभी अङ्गों मे औचित्य का समावेश जरूर होना चाहिए । इसके विना काव्य का चमत्कार सहृदयों के लिए आस्वाद्य नही होता है । जीवन के सारे व्यापार-कलाप जैसे शील व सदाचार से शोभित होते है । संयम, सदाचार और शील के विना

जैसे जीवन नीरस प्रतीत होता है, ठीक यही हाल काव्य का भी है। औचित्य काव्य का तत्त्व है जो उसके चमत्काराधायक प्रत्येक तत्त्व के सौन्दर्य को निखार देता है। इसी तत्त्व का परिणाम या कार्य है—स्वच्छता, सुशीलता तथा सौमनस्यता, जिनके समन्वय से जीवन अपनी मर्यादा या उचित दिशा में उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होता है। जीवन के ये गुण या तत्त्व लोक से भी सीखे जा सकते हैं, परम्परा में भी आ सकते हैं, शास्त्र या काव्य में भी पाये जा सकते हैं।

बौद्ध युग में जीवन में जो स्थान शील का था और आजकल जो स्थान पञ्च-महाशीलों का है, ठीक वही स्थान हमारी दृष्टि से काव्य में औचित्य का है।

औचित्य-तत्त्व की अपूर्व कल्पना का श्रेय एकमात्र क्षेमेन्द्र को ही दे देना उचित नहीं है, क्योंकि काव्य कथा के पर्यालोचन के प्रारम्भिक प्रसंग से ही औचित्य के अङ्कुर का भी उदय हो जाता है। भरत के नाट्यशास्त्र में औचित्य के विधान को परमावश्यक माना गया है—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते ॥ (२१/७२)

भरत का कहना है कि लोक ही नाट्य का प्रमाण है—लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस मुद्रा में, उपलब्ध होती है, उसका उसी रूप में, उसी वेश में तथा उसी मुद्रा में, अनुकरण करना नाट्य का चरम लक्ष्य है। नाट्यशास्त्र (प्रकृति) पात्र के भाषा-वेश आदि विधान पर इतना जोर देता है। अदेशज वेश—भारतीय राजा के लिए नाटक में इग्लैंड की पोशाक कदापि शोभा नहीं दे सकती है।

भरत के बाद भी अन्य आचार्यों ने औचित्य के विषय में अपनी स्पष्ट सम्मति प्रदान की है। राजा भोज के शृंगार-प्रकाश में उद्धृत, आचार्य रुद्रट के ये शब्द औचित्य की ही पुष्टि करते हैं—।

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता।
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ, प्रौढिश्च शब्दार्थयोः,
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैः, एतावदेवास्तु नः ॥

रुद्रट की ही औचित्य सम्बन्धिनी इस मान्यता से आनन्दवर्धन ने पर्याप्त प्रेरणा ली और रस भङ्ग के अवसर पर यह तथ्य प्रतिपादित किया कि "औचित्य" ही रस भङ्ग का प्रधान कारण है। अनुचित वस्तु के सन्निवेश से काव्य में रस का परिपाक नहीं होता है। रस के उन्मेष का परम रहस्य है—"औचित्य"—

अनौचित्यात्-ऋते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

कुन्तक के अनुसार प्रत्येक मार्ग (रीति) में दो सामान्य गुण और चार विशेष

गुण होते हैं। ये सामान्य गुण हैं—औचित्य और सौभाग्य, जो तीनों (सुकुमार विचित्र व मध्यम) मार्गों में अनिवार्य रूप में वर्तमान रहते हैं—

> एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
> पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥१/५७॥

अर्थात् —इन तीनों मार्गों में ये औचित्य और सौभाग्य दोनों गुण पद, वाक्य तथा प्रबन्ध में व्यापक तथा उज्ज्वलतः वर्तमान रहते हैं। इस प्रकार औचित्य गुण सम्पूर्ण काव्य की उज्ज्वल सम्पदा है। कुन्तक के मत में काव्य का प्राण तो निश्चित ही वक्रोक्ति है, परन्तु उस वक्रता का मूल आधार औचित्य ही है—"तत्र पदस्य तावत्—औचित्यं······वक्रतायाः परं रहस्यम्"।

औचित्य की परिभाषा भी कुन्तक ने प्रायः वही की है, जो उनके लगभग अर्ध-शताब्दी बाद क्षेमेन्द्र ने की थी—

> आञ्जस्येन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
> प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥ (५३/१ व०जी०)

अर्थात् जिस स्पष्ट वर्णन प्रकार के द्वारा स्वभाव के महत्त्व का पोषण होता है, वही औचित्य गुण है। इसका मूल आधार है उचित—यथानुरूप आख्यान-कथन।

महिमभट्ट ने औचित्य के ही आधार पर दोनों का विवेचन किया है। औचित्य के अभाव में अनेक दोष आ जाते हैं—"इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम्—अर्थविषयं शब्द विषयं चेति। दुःश्रवत्वमपि वृत्तस्य शब्दानौचित्यमेव, तस्याप्यनुप्रासादेरिव रसानुगुण्येन प्रवृत्तेरिष्टत्वात्"। व्यक्तिविवेककार वृत्तछन्दों की भी गणना अलंकारों में ही कर लेते हैं। क्योंकि जिस प्रकार अनुप्रासादि शब्दालंकारों को रसानुकूल रस के उचित होना आवश्यक है उसी प्रकार छन्द को भी रसानुगुण होना चाहिए। इस प्रकार वृत्त-छन्द का दुःश्रवत्व भी शब्दानौचित्य के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट के मत में भी औचित्य का व्यतिरेक यदि दोष है तो औचित्य का समन्वय गुण है।

साधारणीकरण और औचित्य

रसानुभूति में तो साधारणीकरण एक अनिवार्यतः अपेक्षणीय व्यापार है। इसकी सफलता के लिए कई प्रकार की पृष्ठभूमियाँ आवश्यक हैं। जैसे सन्निवेशौचित्य, लालित्य इत्यादि। विभावौचित्य—अर्थात् विभावादि का औचित्य तो उसके लिए सर्वथा अपरिहार्य है। इस प्रसङ्ग में भट्टनायक, अभिनवगुप्त व पण्डितराज की सम्मतियाँ दी जाती हैं—

साधारणीकरण व्यापार की प्रतिष्ठा करते समय भट्टनायक समक्ष कुछ नैतिकता की कुछ यथार्थ की समस्यायें हैं। राम की आलम्बन-विभाव सीता सामाजिकों का विभाव कैसे बन जाती है, देवता या महापुरुषादिमात्र से सम्पन्न होने वाले समुद्र

लधनादिकार्य नटो के द्वारा कैसे सम्पन्न होंगे। इस विषय में पण्डितराज ने भट्टनायक के मत को बडी सफाई के साथ उपस्थित किया है। उन्होंने पहिले यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया है कि सीता शकुन्तलादि सामाजिक के लिए विभाव कैसे बन सकती हैं, जबकि उनमें अगम्यात्व प्रकार का ज्ञान बना हुआ है और बिना विभाव के रीति का उदय ही नहीं सकता है।

केवल स्त्रीत्व या सामान्य कान्तात्व को भी हम विभावतावच्छेदक कोटि में नहीं ला सकते हैं, जब तक कि अगम्यात्व प्रकारक ज्ञान का विरह न हो। क्योंकि नायिका के प्रति अगम्यात्व ज्ञान तथा शोक के आलम्बन के प्रति अशोच्यता का ज्ञान रस प्रतीति में प्रतिबन्धित है, इसकी कोई न कोई निरोधक सामग्री अवश्य चाहिए—अत यह भट्टनायक की तरफ से इसमें एक ही औचित्य है, वह है भावकत्व व्यापार जिसके बल से नाट्य व काव्य में विभावादि सारे पदार्थ अपने विशेषांश से विगलित होकर सामान्य रूप से सामाजिक के प्रति समुपस्थित होते हैं।

"तस्मादभिधया निवेदिता पदार्था भावकत्वव्यापारेणागम्यात्वादिरस विरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते"

भट्टनायक की यह साधारणीकरण की कल्पना ही औचित्य के प्रश्न को लेकर हुई है। अभिनवगुप्त भी इस साधारणीकरण-सिद्धान्त के साथ औचित्य का पुट आवश्यक मानते हैं। अन्यथा रसादि की प्रतीति दुर्बल हो जायेगी, तस्मात् विभावादि का औचित्य होना परमावश्यक है—'विभावाद्यौचित्येन हि विना का रसवत्ता कवेरिति, तस्माद् विभावाद्यौचित्यमेव रसवत्ता-प्रयोजक नान्यदिति भाव" (लोचन)

यदि कवि विभावादि की उचित भूमि पर कल्पना नही कर सकता तो उसमें रसवत्ता आयेगी कहाँ से ? और तब वह कवि सहृदय तक रसवत्ता का सचार करेगा ही कैसे ? अत काव्य को रसमय बनाने के लिए अभिनव गुप्त के मतानुसार विभावादिका औचित्य परमावश्यक है। तभी सफल रसानुभूति हो सकती है, अन्यथा अनौचित्य की अनुभूति तो आभासात्मक ही होगी। ऐसे स्थलो में साधारणीकरण की कमी के कारण पूर्ण विगलित-वेद्यान्तरता या तन्मयीभवन योग्यता नही रहेगी।

पण्डितराज जगन्नाथ एक प्रौढ समालोचक ही नही थे, अपितु वे स्वय एक प्रतिभाशाली कलाकार भी थे, वे सारे इन बन्धनो से सुपरिचित से हैं, अत वे इस साधारणीकरण के लिए विभावादि सामग्री के साथ-साथ भाषा के उपकरणो को भी पूर्ण-शक्ति के साथ प्रस्तुत करते हैं। रसादिबोधोपयोगी काव्य के लिए वह दो गुणो को आवश्यक समझते हैं एक लालित्य दूसरा औचित्य, इसमें भी औचित्य पहली शर्त है—

"समुचित-ललित-सन्निवेश-चारुणा काव्येन समर्पित " इत्यादि

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में देश, काल व पात्र की परिधि पर गम्भीर

विमर्श करने वाले इस औचित्य के व्यापक तत्त्व ने निश्चित ही कुछ हद तक साहित्य को आदर्शोन्मुख, व यथार्थवादी बनाकर एक स्वच्छ जीवन प्रदान किया है।

सच तो यह है कि काव्य के रस गुण व अलंकारादि जितने भी महनीय तत्त्व हैं, औचित्य के अन्तर्गत होने पर ही इनका महत्त्व है—

क्षेमेन्द्र का यह महत्त्वपूर्ण कथन भी इसी प्रकार का है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्।
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः॥

काव्य-स्वरूप का विवेचन

काव्य के अन्तस्तत्त्वों के निरूपण के प्रसंग में यह आवश्यक है कि पहिले उसके स्वरूप या लक्षण को समझा जाय। क्योंकि किसी वस्तु के स्वरूप, लक्षण या असाधारण धर्म जिसे इतर व्यावर्तक धर्म भी कहते हैं, को जब तक नहीं समझ लिया जाय तब तक उसकी आन्तरिक समीक्षा या इतर पदार्थ से उसकी विशिष्टता कैसे जानी जा सकती है। किसी वस्तु के व्यवहार के सौविव्य के लिए भी उसके स्वरूप अथवा लक्षण का निर्वचन आवश्यक है। लिखा भी है—

"व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्"

'काव्य' शब्द अनेक प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा निष्पन्न होता है, जैसा कि लोचनकार ने भी कहा है—"कवनीय काव्यम्" कवृ वर्णने धातु से ण्यत् प्रत्यय करके काव्य शब्द की सिद्धि होती है, जिसका वर्णनीय, अथवा कवयति कविः, तस्य कर्म काव्यम्, या कौति शब्दायते विमृशति रसभावान् इति कविः, तस्य कर्म काव्यम्, अथवा लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म—काव्यम्। कहने का तात्पर्य यह है कि लोकोत्तर वर्णन से विचित्र चमत्कार को प्रकाशित करने वाला कवि कर्म ही काव्य है। काव्य में इसी पूर्वोक्त वैचित्र्य के चिन्तन या दर्शन करने के लिए अनेक सम्प्रदायों तथा आचार्यों का उदय हुआ। काव्य के तत्त्व चिन्तकों की यह एक बहुत लम्बी परम्परा है जिसमे काव्य के वाह्य तथा अन्तरङ्ग तत्त्वों का चिन्तन होता आ रहा है। काव्य का एक भेद नाट्य या दृश्य काव्य भी है, जिसके प्रभेदों में से एक प्रमुख प्रभेद नाटक भी है। सर्वप्रथम इसी नाटक के आधार पर काव्य के रस, दोष, गुण व अलंकारों का विवेचन होता रहा, जिसका भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में वर्णन किया है। श्रव्य काव्य के विषय में स्वतन्त्रचिन्तन आचार्य भामह से प्रारम्भ होता है, इसी समय से काव्य व काव्य की परिभाषा, अलंकारादि का चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है। यह संस्कृत काव्यशास्त्र का स्वस्थ चिन्तन पण्डितराज जगन्नाथ तक अविच्छिन्न गति से होता रहा था, बाद में देश के विभिन्न परिवर्तनों के साथ-साथ संस्कृत के भी विकास से ह्रास का समय आना स्वाभाविक था। फिर भी जनभाषा के आधार पर संस्कृत में न सही पर पालि, प्राकृत-अपभ्रंश व हिन्दी मे इस परम्परा का अनुसरण होता रहा।

हिन्दी साहित्य का मध्य काल जिसे रीति युग भी कहते हैं, इस काल मे हिन्दी माध्यम से रस, दोष, गुण, अलकार व नायक-नायिकाओ का विवेचन होता रहा। आज वर्तमान भारत के प्रगतिशील युग मे भी हम उन पूर्व प्रतिष्ठित रस, अलकार, रीति, ध्वनि आदि सिद्धान्तो के विम्बो को प्रतिविम्ब के रूप मे छायारहस्य व प्रगतिवाद के रूप मे या इनके दीर्घकालीन काव्य धारा के प्रवाह से कुछ विकृत, कुछ विलुप्त तथा कुछ परिष्कृत व परिमार्जित रूप मे पाते हैं। यद्यपि आज भी काव्य-सिद्धान्तो के चिन्तन का वही आधार और वही प्रकार है, पर परिस्थिति के प्रश्रय से वे नाना रूपो मे हमे उपलब्ध होते हैं। भामह से लेकर आनन्दवर्धनाचार्य तक के युग को हम तीन प्रकारो मे विभक्त कर सकते हैं।

सामान्यत अलकार युग से ध्वनि युग तक का समय व तत्तत् सामायिक काव्य प्रस्थान भी मोटे तौर पर तीन भागो मे बाँटे जा सकते हैं—

(१) अलकार प्रस्थान—अर्थात् जो लोग काव्य मे अलकार को ही सब कुछ या काव्य का सर्वस्व समझते हैं, या काव्य जन्य वैचित्र्य का निदान अलकार को ही समझते हैं।

(२) रीति प्रस्थान—जो लोग पदसघटना विशिष्ट रचना को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।

(३) ध्वनि प्रस्थान—जो लोग ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।

अलकार प्रस्थान

ध्वनि से पूर्वयुग या अलकारप्रधान युग मे काव्य मे अलकारो की ही महिमा व्याप्त थी। इस प्रस्थान के प्रधान प्रवर्तक आचार्य भामह है, जिन्होंने "शब्दार्थौ काव्यम्" कहकर, शब्दार्थ मे अलकारों का सन्निवेश आवश्यक बतलाया। भामह के अनुयायी उद्भट्ट व दण्डी भी थे। ये लोग भी काव्य मे अलकार की महत्ता का स्वीकार करते थे। भामह का ही यह सुसस्कृत काव्यलक्षण, काव्य की रूपरेखा के रूप मे आचार्य भमाह तक स्वीकृत रहा।

"शब्दाभिधेयालकारभेदादिष्ट द्वय तु न" कहकर इन्होंने शब्द तथा अर्थ उभयविध अलकारो को काव्य वैचित्र्य के प्रति हेतु माना। इस प्रकार अलकृत शब्दार्थ को ही ये काव्य मानने के पक्षपाती थे। इसी बात की पुष्टि इनके काव्यालकार-ग्रथ के निम्नलिखित श्लोक से भी होती है—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दु यान्ति वासाय पक्षिण।
इत्येवमादि किं काव्य ? वार्तामेना प्रचक्षते॥ (का०अ० २/८६)"

आचार्य दण्डी ने भी काव्य के शोभाधायक धर्मो को अलकार कहा है—
"काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते" "सौन्दर्यमलङ्कार ।"(वामन)

इन आचार्यो के अनुसार अलकार ही काव्य की शोभा का कारण अथवा पर्याय है। इस दृष्टि से इन्होंने समस्त रस प्रपञ्च को रसवदादि-अलकार चक्र मे समाविष्ट कर दिया। यद्यपि बाह्य शोभाधायक तत्त्व के रूप मे ध्वनिवादी आचार्यों ने भी इसे स्वीकार किया है पर अलकार को ही उन्होंने सब कुछ नही समझ लिया। मम्मट व

विश्वनाथ आदि अलंकारों को अस्थिर धर्म मानते हैं—"शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ।" (सा० द०)

आचार्य कुन्तक की ओर अलंकार पक्ष को पुष्ट करने का पूरा सामर्थ्य है। इन्होंने निर्भ्रान्त शब्दों में "सालंकारस्य काव्यता" कहकर अलंकारवादियो की तरफ से एक बार फिर काव्य-जगत् में एक नया ही आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया "उभौ एतौ अलंकार्यौ तयो पुनरलंकृतिः, वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते," प्रकारान्तर से यह अलंकार की ही प्रशंसा है। मालूम पड़ता है कि अलंकारयुग ही पुनः वक्रोक्ति के परिधान में काव्यशास्त्र के रङ्गमञ्च में अवतरित हुआ है। इस प्रकार साक्षात् या परम्परया कुन्तक ने अलंकार पक्ष की ओर बड़ी पहल की है। कुन्तक के मत में काव्य के मूल सौन्दर्य अलंकार पर ही निर्भर है, अतएव काव्य में सामान्य न होकर कथन के प्रसिद्ध प्रकार से कुछ भिन्न ही होता है, जिसे वक्राभिधान या वक्रोक्ति कहते हैं।

भामह और उनके अनुयायी उद्भट व दण्डी आदि इन अलंकारवादी आचार्यों ने काव्य का वर्गीकरण विषय, वस्तु, शैली, रचना आदि बाह्य उपकरणों को लेकर किया है। काव्य के चमत्कार के आधार पर होने वाला तारतम्य या प्रकारभेद अपने काव्य सिद्धान्तों में नही दिखलाया है। जैसा कि भामह के काव्यालंकार के प्रथम परिच्छेद में कहा है—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं, गद्यं पद्यं च तत् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥

भामह के अनुसार काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार है—

१—रचना शैली की दृष्टि से—

(क) गद्य काव्य (ख) पद्य काव्य =२

२—भाषा की दृष्टि से—

(क) संस्कृत (ख) प्राकृत (ग) अपभ्रंश =३

३—विषय की दृष्टि से— =४

(क) वृत्तदेवादि चरितशंसी =देवादि चरित जो अतीत हो।
(ख) उत्पाद्यवस्तु =कल्पनाप्रसूत कथानक
(ग) कलाश्रित =विभिन्न कलाओं से सम्बन्वित।
(घ) शास्त्राश्रय =विभिन्न शास्त्रों से सम्बन्धित।

४—पुनः रचना के रूपों की दृष्टि से भेद=५

(क) सर्गबन्ध =महाकाव्य।
(ख) अनिबद्ध =मुक्तक।
(ग) अभिनेयार्थ =रूपक।
(घ) आख्यायिका =गद्य भेद।
(ङ) कथा =गद्य भेद।

रीति प्रस्थान

रीति प्रस्थान के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं, इन्होंने रीति को ही काव्य की आत्मा माना है। इनके विशिष्ट सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

"काव्य ग्राह्यमलंकारात्" ॥ १ ॥

"सौन्दर्यमलंकार" ॥ २ ॥

"स दोष-गुणालंकारहानादानाभ्याम्" ॥ ३ ॥

रीतिरात्मा काव्यस्य ॥ ४ ॥

"विशिष्टा पदरचना रीतिः" ॥ ५ ॥

विशेषो गुणात्मा ॥ ६ ॥

काव्य की उपादेयता अलंकार के कारण है, इस विषय में वामन भी पूर्ण परम्परा से सहमत हैं। इनके मत में भी गुणालंकार से संस्कृत शब्दार्थ में ही काव्य शब्द का प्रयोग होता है, सामान्य रूप से या अप्रधानतया शब्दार्थ में ही जिसका व्यवहार किया जाता है। यहाँ अलंकार—"सौन्दर्य" काव्य का शोभाधायक तत्त्व है। काव्य में यह सौन्दर्य दोषाभाव या गुणालंकार के सद्भाव से सम्पन्न होता है। निर्दुष्ट रचना और गुणालंकार से सुसज्जित संघटना ही काव्य की आत्मा है, अथवा रीति ही काव्य की आत्मा है जो विशिष्ट पद-रचना स्वरूप है। इस रचना या रीति में वैशिष्ट्य गुणजनित है।

यद्यपि उद्भट व दण्डी भी भामह के ही पदचिह्नों पर चलते रहे थे, इनमें भी उद्भट को स्वयं भामह के टीकाकार होने के कारण प्रतिपद भामह का अनुसरण करना था। इसके विषय में भी इन्होंने भामह का ही अनुसरण किया है। यद्यपि ये भरत के नाट्यशास्त्र से काफी परिचित रहे हैं। शायद नाट्यशास्त्र पर इन्होंने टीका भी लिखी है परन्तु उस युग के अनुसार ये भामह का ही एक-एक बातों में अनुसरण किये हैं, जैसे रस के विषय में ये भी भामह के ही समान स्पष्ट-दर्शित—अर्थात् वाच्य कोटि में मानते हैं, जैसाकि काव्यालंकारसारसंग्रह में इन्होंने लिखा भी है—"रसवद्दर्शित-स्पष्टशृंगारादिरसोदयम्" इत्यादि। परन्तु दण्डी की रसचेतना भामह व उद्भट की अपेक्षा जागरूक है। वे काव्यशास्त्र के आचार्य ही नहीं थे बल्कि एक रससिद्ध कवि भी थे। अतः रस के विषय में उस युग में भी व्यापक दृष्टिकोण रखना दण्डी का कुछ अपना दायित्व सा हो जाता है। इन्होंने कविता कामिनी के सर्वांग में रस संचार की सुव्यवस्था की तथा इसके शब्दार्थमय कलेवर को ग्राम्य-दोष से बचाने की कोशिश की है—"कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति" इत्यादि।

दण्डी के अनुसार काव्य के दो मार्ग हैं—वैदर्भ तथा गौड़। इनमें से दण्डी को प्रथम ही अभीष्ट है, क्योंकि इस वैदर्भ मार्ग में श्लेष, प्रसाद, समता आदि दश गुण रहते

हैं। जो वैदर्भ मार्ग के गुण हैं—

अत्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ।।
श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ।।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः (काव्यादर्श)

इस प्रकार दण्डी के विवेचन से ही रस की उदात्तता, रचना की स्वच्छता व गुणो की समृद्धता प्रारम्भ हो जाती है। वामन को इन आचार्यों की यह कमी मालूम हो चुकी थी कि उक्त तत्त्वों का यथास्थान विन्यास नही हो रहा है। वामन ने इन्ही गुणों व अलंकारों का उचित उपयोग किया, "ऐसी रीति को उन्होने काव्य की आत्मा कहा जो विभिन्न गुणों से विशिष्ट थी और इन्ही गुणो में से "कान्ति" नामक गुण में रस का अन्तर्भाव कर दिया। अब तक रस केवल रसवत् अलकार के ही अन्तर्गत था। दण्डी ने उसे अपनी भावना के अनुसार सभी अलंकारो मे झांकना चाहा था, पर वामन ने उसको अलंकार की श्रेणी से उठाकर गुणों की कक्षा तक पहुंचा दिया। बस, काव्य का यह पुराण-कलेवर वामन की प्रतिभा से परिमार्जित होकर चमक उठा। अब तक केवल अलंकार ही काव्य के शोभाधायक तत्त्व थे। अब गुण ही नियमित रूप से काव्य के शोभा-धायक माने गये—"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः" अलंकार तो केवल उस शोभा के अतिशय के हेतु है—"तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः"।

अलंकार व गुणो मे गुणो का महत्त्व कही अधिक है। वे इस बात को एक दृष्टान्त देकर समझाते हैं—काव्य यदि केवल गुणो से भी युक्त हो, तब भी वह आस्वादनीय है। यदि उसमे सुन्दर अलंकारो के विकल्प-विन्यास की सघनता हो तो कहना ही क्या है। काव्य में गुणों का वही स्थान है जो स्थान युवती के अंग मे रूप का। रूपरहित अंगना में अलंकारों की झंकार भी निरर्थक है। इसी प्रकार गुणहीन केवल अलंकारों से काव्य भी अकिंचित्कर है—

युवतेरिव रूपमंगकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितऽ्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभि.।।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमंगनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते।।

दण्डी के इन वैदर्भ मार्ग के दश गुणों को शब्दार्थ विभाग द्वारा—(अर्थात् दश शब्द-गुण व दश अर्थ-गुण कर देने से) इनकी संख्या बीस कर दी है। गुणो के नाम करीब-

करीब वही हैं, आगे ध्वनिवादी आचार्यों ने भामहोक्त, माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन ही गुणों में इनका अन्तर्भाव दिखलाया है।

जिस रीति को काव्य की आत्मा माना है, वह तीन प्रकार की होती है— वैदर्भी, गौडी, पांचाली, विदर्भ आदि देशों में वैदर्भी आदि रीतियों का अधिक प्रचलन होने से इन रीतियों का नाम भी तत्तत् देशों के नाम से पड़ा है। यह कोई नियम नहीं कि विदर्भ देश का कवि वैदर्भी रीति में ही लिखे, यह सब अधिकतर कवि-स्वभाव पर निर्भर करता है।

समग्रगुणा वैदर्भी

समस्त गुण-माधुर्य, प्रसाद, ओज आदि सभी गुणों से परिपूर्ण वैदर्भी रीति है। ओज और कान्ति गुण से युक्त गौडी रीति है और माधुर्य और सौकुमार्य गुण से परिपूर्ण पाचाली रीति रहती है।

यदि समासाभाव या अल्प समास रहे, तो शुद्ध वैदर्भी कही जाती है। ऐसी वैदर्भी रीति में अर्थ-गुण की सम्पत्ति स्वत अनुभव के योग्य होती है—

इसी तरह की वैदर्भी रीति के लिए कहा गया है—

अस्पृष्टा दोषमात्राभि समग्रगुणगुम्फिता।
विपचीस्वरसौभाग्या वैदर्भीरीतिरिष्यते॥

जो दोष लेश से रहित हो और समग्र गुणों से भूषित हो और वीणा के स्वर के समान श्रव्य हो, उसे वैदर्भी रीति कहते हैं। कवि लोग उस वैदर्भी रीति की प्रशंसा इस प्रकार करते हैं—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥

सुन्दर वक्ता, अर्थ और शब्दानुशासन से परिपूर्ण ही वाणी क्यों न हो, यदि वैदभी रीति नही है तो वाक् माधुर्य प्रतीत नही होता है।

नैषधीयचरित में भी श्रीहर्ष ने तृतीयसर्ग में हंस के मुख से दमयन्ती के के सौन्दर्य व राजा नल के गाम्भीर्य की चर्चा के प्रसग में श्लिष्टोपमा के द्वारा वैदर्भी रीति की भी प्रशंसा की है—

धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इत स्तुति का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥

इसी वैदर्भी रीति के कारण नैषधीयचरित भी जगत् विख्यात है। शब्दार्थों का यह परिपाक निश्चित ही पूर्वजन्म के सुकृत के परिपाक के बिना दुर्लभ है। कहा भी है—

"वैदर्भिरीतिः कृतिनामुदेति"।

महाकवि भारवि ने किरातार्जुनीय महाकाव्य के द्वितीय सर्ग मे भीम के प्रति धर्मराज युधिष्ठिर के माध्यम से गुणालंकार से सुसंस्कृत पदकदम्ब को किस प्रकार बोलना चाहिए या काव्य में विशिष्ट पद रचना रीति का प्रकार कैसा होना चाहिए, पदों की स्वच्छता और अर्थ का गौरव, शक्ति की मर्यादा, और प्रसादगुण की प्राञ्जलता कैसी होनी चाहिए, इसके उदाहरण के रूप मे यह श्लोक दिया है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥ (कि० २/२७)

इसी काव्य के चतुर्दश सर्ग मे पुनः अर्जुन के मुंह से किरातवेशधारी भगवान् शंकर को, वचनपरिपाटी के विषय में जो वचन कहे है सचमुच वे तो वामन की इस विशिष्ट पद-रचना रीति को लक्ष्य करके लिखे हों, ऐसा मालूम पडता है—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती॥

वामन के समसामयिक आचार्य काव्य के चारुत्व को अलंकार, गुण व रीति जैसे तत्त्वों में खोजते हैं। सहृदय की अनुभूति के विषयिपरक पक्ष पर ये लोग दृष्टि नही देते है। इसलिए न तो इन्हें मनोवैज्ञानिक प्रश्नों का सामना करना पड़ता है और नहीं दार्शनिक गुत्थियों में उलझना पड़ता है। ये लोग भी प्रधान या अप्रधान रूप से रस की सत्ता तो स्वीकार करते है पर उसे अलंकार या गुण में ही अन्तर्निहित कर देते है और ध्वनि-जन्य चारुत्व सादृश्य लक्षणा का वक्रोक्ति मे समावेश कर लेते है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त के संस्थापक आचार्य कुन्तक ने रीति का एक नया अभिधान किया है जिसे मार्ग कहते हैं। इनके मत में रीति लेखक या कवि के स्वभाव से साक्षात् सम्बन्ध रखती है। यह रीति किसी देश विशेष की भौगोलिक सीमा मे नहीं बांधी जा सकती है जैसा कि अन्य लोगों ने किया है। शैली किसी कवि के स्वभाव पर ज्यादा निर्भर करती है, न कि देश पर। स्वभाव अनन्त हैं, पर मोटे तौर पर इन्हें हम तीन मार्गों में विभक्त कर सकते हैं—सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग, मध्यम मार्ग।

"सम्प्रति ये तत्र मार्गा कविप्रस्थानहेतवः। ते च कीदृशाः कविप्रस्थानहेतवः कवीनां प्रस्थान प्रवर्तनं तस्य हेतवः काव्यकरणस्य कारणभूताः (१/२८ वृत्ति)

मार्ग का अर्थ है कविप्रस्थानहेतु—कवि के प्रस्थान से अभिप्राय है—काव्यरचना, अर्थात् रचना मे प्रवृत्त होना।

पुन वे मार्ग शब्द के आशय पर प्रकाश डालते है—

सुकुमाराभिध सोऽयं येन सत्कवयो गता ।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदा ॥

यह वही सुकुमार मार्ग है, जिससे खिले हुए पुष्पो के वन मे भ्रमरों के समान सत्कवि जाते है। ये मार्ग वामन की वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली रीतियाँ ही हैं जो क्रमश सुकुमार, विचित्र और मध्यम कहलाते हैं। सस्कृत मे वाल्मीकि, व्यास, कालिदास की, हिन्दी मे सूर और तुलसी की कविताये सुकुमारमार्ग की कहलाती हैं। भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष का ही जिसमे प्राधान्य हो, अर्थात् जिन काव्यो मे शब्दार्थचित्रो का प्राचुर्य व पाण्डित्यप्रदर्शन का प्राधान्य हो उसे विचित्र मार्ग कह सकते हैं। इस मार्ग के कवि भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि हैं। जहाँ भावपक्ष और कलापक्ष का सामान्यरूप या सम्मिश्रणरूप होता है उसे मध्यममार्ग कहते है। इसमें भास, कुमारदास, शूद्रक इत्यादि कवियो की कृतियाँ आ सकती है।

आनन्दवर्धनाचार्य ने प्रथम अभाववादियो के पक्ष के उपस्थापन के अवसर पर रीतियो की चर्चा की है—

"रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतय"

इन तीन रीतियो को क्रमश असमासा सघटना, मध्यसमासा सघटना और दीर्घ-समासा सघटना कहा है। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत मे एक जगह आनन्दवर्धन ने प्रकारान्तर से वामन की प्रशसा भी की है—

उन्होंने लिखा है कि वामन के मस्तिष्क मे यह काव्यतत्त्व किंचित् स्फुरित हुआ था, पर वामन पूर्णतया इसकी व्याख्या करने मे असमर्थ से हुए, अत उन्हे—काव्यात्मा के रूप मे रीति को मानना पडा।

अस्फुटस्फुरितकाव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतय सम्प्रवर्तिता ॥ ३/४७

आचार्य मम्मट ने उद्भट के अनुसार ही रीतियों को अनुप्रास के ही भेद विशेष माने हैं। इनके नाम हैं—उपनागरिका, परुषा, कोमला राजशेखर के मत मे रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्ति के स्वरूपो मे परस्पर महान् भेद है—

इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) वेशविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, (२) विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, (३) वचनविन्यासक्रमो रीतिः।

वामन का भी काव्य का वर्गीकरण भामह की ही तरह विषय व शैली के ही आधार पर है।

ध्वनि प्रस्थान

अब तक संक्षेप मे हमने ध्वनि-पूर्वयुग की चर्चा की है जिसमे काव्यतत्त्व वेत्ता केवल अलंकार, गुण व रीतियों मे ही काव्य का चमत्कार ढूंढ़ते थे। अब संक्षेप में ध्वनि युग की चर्चा करेंगे, जिसमें सहृदयों के अन्तस्तोप के लिए ध्वनि के व्याख्याता आनन्दवर्धनाचार्य ने काव्य के एक अभिनवतत्त्व का उन्मीलन किया, जिसमें काव्यज्ञ सहृदयों के हृदय का विश्राम होता है। यह तत्त्व है "ध्वनितत्त्व"। अब इसी के पूर्वाभास, इतिवृत्त व स्वरूप के विषय में कुछ वातचीत करेंगे।

आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा निर्मित "ध्वन्यालोक" नामक ग्रन्थ के प्रथम उद्योत के प्रथम श्लोक से ज्ञात होता है कि काव्य-गोष्ठियों में बहुत पहले से आम्नाय की ही तरह ध्वनि-सिद्धान्त की भी पण्डित परम्परा मे चर्चा थी। कालान्तर में जब इस सिद्धान्त के अनुसन्धान में मान्यता आने लगी, तो अधिकांश विद्वान ध्वनि के पक्ष में न होकर, सीधे गुणालंकार की प्रशंसा करने लग गये, फलतः इन अलंकार व गुणो से ही मुग्ध होकर ध्वनि तत्त्व की उपेक्षा सी करने लगे। इनके मत में काव्य के वाह्य शोभाधायक तत्त्व ही सब कुछ थे, फिर ध्वनि नाम के किसी तत्त्व की सत्ता नही थी।

इसके वाद कुछ लोग ध्वनितत्त्व का गुण, वृत्ति, भक्ति या लक्षणा में इसका अन्तंभाव करने लग गये थे क्योंकि प्रथम भामहादि के अनुयायी आचार्य काव्य का सर्वस्व अलंकार ही मानते थे। ये रस भाव तक का अलकारो में अन्तंभाव कर लेते थे, फिर ध्वनितत्त्व पर इनके लिए विचार करने की कोई गुंजाइश ही नही थी। वाद मे वामन ने रीति को काव्य की आत्मा उद्घोपित कर दिया, तथा काव्य के अन्य उपादेय तत्त्व सब उस रीति के ही उपस्कारक वन गये। फलत: जितने भी काव्य के चारुत्व-हेतु थे, वे सब रीति में आकर डेरा डाल गये। तदतिरिक्त किसी भी चमत्कारिक तत्त्व की तो कोई बात ही नही थी, हां गुणवृत्ति-लक्षणा के द्वारा प्रसिद्ध अर्थ से अतिरिक्त अप्रसिद्ध कुछ अर्थ कभी प्रयोजनवश निकाला जाता है। वह भी गुण द्वारा जहां व्यवहार किया जाता था, अन्य रुढिलक्षणा को अभिधा का एक प्रसिद्ध भेद माना जाता था। इन आचार्यो का कहना था कि ऐसे प्रसिद्ध से अतिरिक्त लक्ष्यार्थ के लिए सम्भवतः ध्वनिवादी का कुछ वक्तव्य होगा। इसलिए प्रसिद्ध अर्थ वाच्य है ही, अप्रसिद्ध अर्थ कही गुणों

की समता से जो कल्पित किया जाता। जैसे "सिंहो माणवक" इत्यादि स्थलो मे लक्षणा या गुणवृत्ति मानी जाती है, जिसे भक्ति भी कहते हैं, उस भक्ति या लक्षणा से जाने वाले अर्थ को भाक्त=लाक्षणिक कहते है, अत लक्षणा से अतिरिक्त ध्वनि नाम की कोई वस्तु नही जिसका कि पृथक् से निवेदन किया जाय।

कुछ लोग वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से व्यतिरिक्त ध्वनितत्त्व को जानते हुए भी उसके लक्षण के विवेचन मे असमर्थ होते हुए ध्वनि को अनिर्वचनीय कहने लगे अर्थात् कुछ है ध्वनि नाम की वस्तु जिसका इदमित्थतया व्याख्यान नही किया जा सकता है अत ध्वनितत्त्व वाणी का अविषय है। इस प्रकार के ध्वनि के विषय मे आनन्दवर्धनाचार्य तक के समय मे कल्पनायें की जाती थी।

कहने का तात्पर्य यह है कि तब तक ध्वनि विवाद का विषय था, ऐसे विप्रतिपत्ति के संघर्ष काल मे सहृदयो के स्वान्त सुख के लिए ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य का ध्वनितत्त्व के समुन्मेष द्वारा संकुचितसहृदयहृदयारविन्द को प्रफुल्लित करना उचित ही था—

इसीलिए कहा भी—"तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्"। इसी प्रसग मे इन्होने सक्षेप मे ध्वनिपूर्ववृत्त भी प्रस्तुत किया है कि एक पक्ष सहृदयश्लाघ्य अर्थ को काव्य की आत्मा मानता है और दूसरा पक्ष वाच्य या वाच्यालकार को काव्य की आत्मा मानता है—

योऽर्थ सहृदयश्लाघ्य काव्यात्मेति व्यवस्थित।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥ १/२

ध्वन्यालोक के लोचनटीकाकार अभिनवगुप्त का इस कारिका के उपर व्याख्यान इस प्रकार है—आपका कहना है कि पहिले "तेन, ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्" ऐसी प्रतिज्ञा करके "अब इस कारिका मे उस काव्यात्मा" के दो भेद होते हैं एक प्रतीयमान और दूसरा वाच्य। काव्यात्मा के प्रसग मे वाच्यार्थ का अप्रासङ्गिक अवतरण कैसे हो गया? यह बात तो एक प्रकार से असगत जैसी लगती है, फिर खुद इसका समाधान भी दे देते हैं—जैसे किसी अभिनव भवन के निर्माण के लिए सर्वप्रथम उसके लिए भूमि आवश्यक होती है, इसी प्रकार अभिनव ध्वनि प्रासाद के लिए निश्चित ही वाच्य भूमिका की जगह है। क्योकि वाच्यार्थ के बाद ही ध्वन्यमान अर्थ और अच्छी तरह प्रकाशित हो सकता है और वाच्य के साथ-साथ इसकी गणना करने का यह भी अभिप्राय है कि ध्वन्यमान दशा में भी वाच्यार्थ का विगलन नही होता है। "स्मृतौ" इस पद से "य समाम्नातपूर्व" इसकी दृढता होती। मतलब यह है कि जिस ध्वन्यर्थ का निरन्तर अभ्यास किया गया है, उसी की स्मृति भी होगी अथवा जिस ध्वनि

पदार्थ को पूर्व सूरियों ने आम्नायवत्-वेदवत् माना है, या शिष्य-परम्परया वेद की तरह जिसकी सुरक्षा की है, उसी पदार्थ की मन्वादिस्मृति की तरह हम व्याख्या करने जा रहे हैं। अर्थात् जिस प्रकार वेदादि ग्रन्थों के ही अनुकूल मन्वादि-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है—जैसा कि महाकवि कालिदास ने भी कहा है—"श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्" इसी वेदार्थ की तरह जिस ध्वनि तत्त्व को पूर्वसूरि काव्यात्मा के रूप में प्रकट किया करते थे, उसी विषय में तदनुकूल ही मन्वादि स्मृति की तरह हम भी व्याख्यान करेंने जा रहे हैं। पुनश्च "शब्दार्थशरीरं काव्यम्" इत्यादि। काव्य लक्षण मे शरीर का ग्रहण किया है। शरीर ग्रहणमात्र से ही समझ लेना चाहिए कि इसमें जरूर आत्मा होगी, जो अर्थ आत्म-स्थानीय है, अर्थात् सहृदयश्लाघ्य या प्रतीयमान है वही आत्मा है।

तात्पर्य यह है कि जब ध्वनिकाव्य का लक्षण कर रहे हैं, तो पहिले उसकी भूमिका जमा रहे हैं, अतः वाच्यार्थ भूमिका स्थानीय है और सहृदयश्लाघ्यार्थ काव्य की आत्मस्थानीय है अतः साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ का यह आक्षेप भी असंगत ही मालूम पड़ता है।

विश्वनाथ का कहना है कि ध्वनिकार जब यह प्रथम कारिका में कह आये हैं कि "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" काव्य की आत्मा ध्वनि है फिर वे दूसरी ही कारिका में अपनी बात कैसे बदल रहे हैं, कि "वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदौ उभौ स्मृतौ"। एक जगह, जब काव्य की आत्मा ध्वनि है यह बात कह दी फिर वाच्य को भी उस आत्मा या काव्यात्मा का भेद कह देना कहाँ तक उचित है। यह तो ध्वनिकार का वदतोव्याघात है, अर्थात् खुद उन्ही के वचन से उनकी बात कट जाती है।

विश्वनाथ के इस आक्षेप का समाधान, साहित्यदर्पण के टीकाकार शालिग्रामः शास्त्री जी ने बहुत अच्छा दिया है—

आपका कहना है कि यहाँ साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ इन प्रथम द्वितीय, दोनों कारिकाओं में स्ववचन देख रहे हैं, इन दोनों कारिकाओं में ध्वन्यालोककार का कोई भी अपना मत नहीं है। इन कारिकाओं में तो ध्वनिकार ने सिर्फ ध्वनिपूर्वयुग का अलंकारशास्त्र का इतिहास मात्र दिखाया है।

पहिले श्लोक के पहिले चरण के अर्थ से उन्होंने यह दिखलाया कि प्राचीन सम्प्रदायाचार्य ध्वनि को ही काव्यात्मा के रूप में अनादि परम्परा से मानते आये हैं। "बुधैः" इस बहुवचन के द्वारा अपनी भी उनके सिद्धान्त में सम्मति या पक्षपात सूचित किया।

यह प्रथम युग अलंकार का उत्कर्षमय युग था। तदनन्तर—

"तस्याभाव जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तदन्ये"

इत्यादि कथन से यह युग निरीश्वरवादियो की तरह वाचालो का युग था, जिसमे ध्वनि के विषय मे मनमानी कल्पना कर देते थे।

पुन "तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्" इत्यादि से मालूम पड़ता है कि यह ध्वनि के जीर्णोद्धार का या पुनर्जीवन का तीसरा युग है।

यहा "तत्स्वरूप ब्रूम" इस वाक्य से ग्रन्थकार ने वक्ष्यमाण ग्रन्थार्थ की सूचना दी है, न कि अपना कोई मत या सिद्धान्त का उल्लेख किया है। आगे स्वय सहृदयश्लाघ्य प्रतीयमान अर्थ को काव्यात्मा के रूप मे व्यवस्थित करेंगे, परन्तु यहाँ तो वे यही कह रहे हैं कि किन्ही विद्वानो ने वाच्य और प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा कहा है। यह बात 'स्मृतौ' इस पद से स्पष्ट मालूम हो जाती है कि यह परमत है। आगे भी तृतीय कारिका मे "तत्र वाच्यप्रसिद्धो य" इत्यादि मे "अन्यै" पद से यह बात और साफ हो जाती है "अन्यै" इस पद का अर्थ है भामह, दण्डि, भट्टोद्भट प्रभृति आचार्य उपमा आदि अलकारो के प्रकार को ही काव्य की आत्मा मानते थे। जो लोग वाच्यार्थ-अतिरिक्त व्यग्यार्थ को नहीं मानते हैं, उनके लिए पुन चतुर्थ कारिका—

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीपु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवागनासु॥

इत्यादि मे वाच्यार्थ से पृथक् व्यग्य प्रतीयमान अर्थ हैं, जैसे किसी सुन्दरी के कर-चरणादि अवयवो से पृथक् सहृदयहृदयावर्जक प्रतीयमान लावण्य है। इससे पृथक् प्रतीयमान वस्तु की सिद्धि की। इस प्रकार दो अर्थों को वाच्यार्थ और प्रतीयमानार्थ को लोगों ने काव्यात्मा के रूप में माना है।

इसमे वाच्य जो अलकार वर्ग है, उपमा उत्प्रेक्षादि, उसका विवेचन बहुत से भामहादि आचार्यों ने किया है, और प्रतीयमान व्यग्यार्थ को भी कह दिया है, आगे कहा भी जायेगा। ग्रन्थकार इस समय पूछ रहे हैं मध्यस्थों से, इसमे आप लोगो की क्या राय है, वाच्यार्थ को काव्यात्मा माना जाय, या प्रतीयमानार्थ को काव्यात्मा माना जाय या दोनो को काव्यात्मा माना जाय ?

इसी प्रश्न के उत्तर के रूप मे पुन पाचवीं कारिका का अवतरण करते हैं—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेस्तथा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत॥

प्रतीयमान रसादिरूप ही काव्य की आत्मा-जीवनाधायक तत्त्व है, इस बात को क्रौञ्च-पक्षी कथानक द्वारा भी पुष्ट कर रहे हैं कि— व्याध के द्वारा मारे गये अपने प्राणप्रिय

सहचर क्रौञ्च पक्षी के वियोग से अत्यन्त विह्वल क्रौञ्ची के करुणामय क्रन्दन से महर्षि वाल्मीकि का दया से द्रवित चित्तवृत्ति-विशेष शोक ही इस श्लोक में परिणत हुआ—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

—हे निषाद ! तुम निश्चय ही अधिक वर्षों तक प्रतिष्ठा को प्राप्त मत करो, क्योंकि क्रौञ्चपक्षी के जोड़े में एक को जोकि अत्यन्त कामातुर था, उस निरपराध को तुमने मार डाला । करुणरस का स्थायिभाव शोक ही प्रतीयमान होता हुआ सहृदयों के आस्वाद का विषय होता है । अतः इस इतिहास द्वारा भी यही प्रतीत होता कि प्रतीयमान रस ही काव्य की आत्मा है न कि वाच्यार्थ । यद्यपि ध्वन्यमान वस्तु और अलंकार भी काव्य की आत्मा है, परन्तु चमत्कारोत्कर्ष रसादि में ही प्रतीत होता है । इसीलिए इतिहास के व्याज से रसाद्यर्थ को उपस्थित किया है । ऐसे चमत्कारपूर्ण प्रतीयमानार्थ को कोई ही अर्थ और तद् व्यञ्जक कोई ही शुद्ध अभिव्यक्ति कर सकता है । यद्यपि सैकड़ों शब्द व अर्थ है, परन्तु उस निश्चित चमत्कारसार्थक अर्थ को तो कोई विरले ही शब्दार्थ अभिव्यक्त करते हैं । ऐसे व्यङ्ग्य-व्यञ्जक शब्दों के प्रयोग के विना महाकवियों का महाकवित्व सम्पत्ति लाभ होना भी मुश्किल है । इस प्रकार व्यंग्य-व्यंजक भाव समन्वित शब्दार्थों के समुचित प्रयोग से ही ध्वन्यमान या प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, जैसा कि ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक ग्रन्थ में ध्वनिकाव्य का लक्षण किया है—

यत्रार्थशब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

[1]जिस काव्य में अर्थ स्वय अपने को और शब्द अपने अभिधेय=अर्थ को अप्रधान बनाकर किसी विलक्षण चमत्कारजनक व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने ध्वनिकाव्य या उत्तमकाव्य कहा है । अतः केवल वाच्यमात्र का आश्रय लेने वाले अर्थालंकार उपमादि, और केवल वाचकमात्र का आश्रय लेने वाले शब्दालंकार से वाच्यवाचक के सामर्थ्य से आक्षिप्त रहती है, क्योंकि विशिष्ट रमणीयार्थ को अभिव्यक्त करने वाले ध्वनि का केवल वाच्य-वाचक के चारुत्व-हेतुभूत अलंकारों में कथमपि अन्तर्भाव नही किया जा सकता है । अतः शब्दार्थालकारो व ध्वनि की विलक्षणता स्पष्ट ही है ।

ध्वनि लक्षणा का प्रतिपादन करने वाली "यथार्थ शब्दो वा" इस कारिका की व्याख्या में लोचन टीकाकार अभिनवगुप्त ने यह नायक की तरफ से कुछ आक्षेप प्रस्तुत कर उसका समाधान भी दिया है ।

---

१. स्वश्चार्थश्च तौ स्वार्थौ, तौ उपसर्जनीकृतौ=गुणीकृतौ याभ्यं यथासंख्येन तेन अर्थो गुणीकृतात्मा—शब्दो गुणीकृताभिधेयः (लोचन)

भट्टनायक का कहना है कि उक्त (ध्वनि लक्षण) कारिका में 'वा' शब्द का अर्थ समुच्चय है तो फिर रचना इस प्रकार होनी चाहिए—'यत्र शब्दार्थों व्यङ्क्त" अथवा विकल्पार्थक वा शब्द है तो फिर ७८ शब्दो वा व्यनक्ति अर्थो वा व्यनक्ति, इस प्रकार की रचना होनी चाहिए। अत ध्वनिकार का इस कारिका मे यह, व्यङ्क्त मे द्विवचन का विन्यास गलत सा मालूम पडता है। लोचनकार ने भट्टनायक की इस आलोचना को "गजनिमिलिका" कहा है अर्थात भट्टनायक इस विषय मे मदमस्त गजराज की चाल म चल रहे हैं, उन्हे आगे पीछे कुछ भी नही सूझता है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन का यहाँ द्विवचन रखने का तात्पर्य यह है कि व्यञ्जन-क्रिया मे कर्तृत्वेनयुक्त शब्दार्थो की स्थिति वैकल्पिक रूप से है अत गुणप्रधानभाव से शब्दार्थ-व्यञ्जकता की दृष्टि से विकल्परूप मे भी है।

यद्यपि अविवक्षितवाच्यध्वनि मे शब्द ही प्राधान्येन व्यञ्जक रहता है, परन्तु अर्थ की भी वहा सहकारिता रहती ही है। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि मे प्राधान्येन अर्थ की व्यञ्जकता रहने पर भी शब्द की सहकारिता रहती ही है। क्योंकि विशिष्ट शब्द के बिना उस अर्थ मे व्यञ्जकता आ ही नही सकती है। अत सामान्येन शब्दार्थो के कर्तृत्व के रूप मे शब्द का अर्थसमुच्चय है, और प्राधान्याभिप्राय से 'वा' शब्द का अर्थ विकल्प है।

"व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह—यद्यप्यविवक्षितवाच्य शब्द एव व्यञ्जकस्य तात्पर्यस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्यापि सहकारित्व, भवत्येव, विशिष्टशब्दाऽभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वनन व्यापार तेन यद् भट्टनायकेन द्विवचन दूषित तद् गजनिमीलिकयैव अर्थ-शब्दो वेति तु विकल्पाभिधान प्राधान्याभिप्रायेण।"

इस प्रकार यह काव्यविशेष व्यजना व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त होता है। अत-व्यजक शब्द अर्थ व व्यापार और व्यग्य, व्यग्यप्राधान्य ध्वनिकाव्य व्यजना के सारे समुदाय मे ध्वनि शब्द का प्रयोग हुआ है।

अनुमितिवादी आचार्य महिमभट्ट न तो व्यजना व्यापार को मानते हैं, न व्यग्यार्थ को ही मानते हैं, वे व्यग्यार्थ को अनुमान में ही कर देते हैं, जैसाकि उनका कहना है—

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तर प्रकाशयति।
सम्बन्धत कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥

---

१ शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तर यत, अर्थस्य व्यजकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता। (का० प्र० ३/५)

ध्वनिकार की उक्त ध्वनिलक्षण वाली कारिका का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा है कि विचार किया जाय तो यह सब अनुमान का ही लक्षण मालूम पड़ता है, पुनश्च आनन्दवर्धनाचार्य ने उक्त कारिका के पद-पदार्थ की संगति का भी सम्यक् विन्यास नही किया है—

सर्वप्रथम इस कारिका के अर्थ की उपसर्जनता को ही लीजिए, इसे शब्दतः नही कहना चाहिए, क्योंकि यदि किसी अर्थ को अर्थान्तर की प्रतीति के लिए ग्रहण किया गया है तो स्वाभाविक है कि उसका उपसर्जनीभाव अप्राधान्य रहेगा। इसमे कही भी व्यभिचार (दोष) नही देखा गया है, जैसे—अग्नि आदि की सिद्धि के लिए धूमादि लिंग का ग्रहण किया जाता है, तो यह स्वतः सिद्ध है कि अग्नि के प्रति धूम का उपसर्जनीभाव-अप्राधान्य। अतः यहाँ भी स्वतः सिद्ध अर्थान्तर के प्रति गुणीभूत अर्थ का पुनः उपादान करना व्यर्थ है, क्योंकि शास्त्रीय पदार्थो के विवेचन मे आचार्यो ने विशेषण वाचक शब्द का प्रयोग वही ठीक समझा है, जहाँ उसके विना अर्थ का ज्ञान न हो सके। शास्त्रीय भाषा में इसे हम सम्भव व व्यभिचार कह सकते है या तो सम्भव हो तब विशेषण सार्थक है, अथवा व्यभिचार हो, (नियत किसी अर्थ की सत्ता हो या अनियत) तब भी विशेषण सार्थक है।

जैसे कमल मे नील व नीलेतर-रक्त-पीत-श्वेत आदि गुणों का सम्भव है और नील में रक्त का अभाव रूप व्यभिचार है ही। अतः रक्तपीतादि की व्यावृति के लिए हम कमल का नील (गुण) विशेषण के रूप में दे सकते हैं—नील कमल, यह विशेषण सार्थक है क्योंकि नील पीतादि का भेद दिखलाता हुआ कमल के नील गुणवत्ता का बोधक है।

दूसरा दोष व्यभिचार है—(जो अर्थ किसी दूसरे अर्थ में नियमतः रहता है, या नियमतः नही रहता है।) जैसे—उष्णता अग्नि में नियमतः रहती है, अतः अग्नि का विशेषण के रूप में उष्णता को रखना व्यर्थ है।[1] या जो चीज जिसमें नियमतः नही रहती है—जैसे शीतलता अग्नि में नही रहती है, अतः शीतल अग्नि है यह कहना भी ठीक नही है।

इसी प्रकार काव्य में वाच्यार्थ भी प्रतीयमान अर्थ के प्रति नियमतः अप्रधान-उपसर्जन रहता ही है, पुनः उसके उस अर्थ को उपसर्जनादि शब्दों से कहना उचित नही है।

---

१. सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्।
न शैत्येन न चोष्णेन वह्निः क्वाऽपि विशिष्यते ॥ (कुमा. तन्त्र. प्र. तृ. पा.)

इस प्रकरण को समझाने के लिए आचार्य रुय्यक का व्याख्यान बहुत उपयोगी है, अतः पाठकों की सुविधा के लिए इसे उद्धृत कर देना यहाँ उचित मालूम पड़ता है—

"तथाहि, सम्भवव्यभिचाराभ्यां विशेषणविशेष्यभावो भवति । न केवलेन सम्भवेन, 'उष्णोऽग्नि' इतिवत् न केवलेन व्यभिचारेण 'शीतोऽग्नि' इतिवत् । नीलोत्पलादौ तु स्वरूपे सम्भवात् रक्तोत्पलादौ तदभावाच्च, सम्भवव्यभिचारौ विद्येते इति भवत्येव विशेषणविशेष्यभाव । अर्थस्य पुनरर्थान्तरप्रकाशने प्रत्युपसर्जनीकृतात्मत्व-व्यभिचारो नास्ति, ततो न तस्य विशेषणत्वं घटते, इत्यादि" ।

यदि ध्वनिवादी की तरफ से गुणीभूतव्यङ्ग्य स्थल मे अर्थ की प्रधानता का हवाला दिया जाए तो, महिमभट्ट वहाँ भी अर्थ की प्रधानता मानने को तैयार नही क्योंकि आपके मत मे गुणीभूतव्यङ्ग्य मे भी प्रतीयमान अर्थ की ही प्रधानता रहती है । कहा भी है—

उक्त गुणीकृतात्मत्व यदर्थस्य विशेषणम् ।
गमकत्वान्न तत् तस्य युक्तमव्यभिचारत ॥

इस प्रकार महिमभट्ट के मतानुसार ध्वनिलक्षण मे अर्थ का उपसर्जनभाव व्यर्थ ही सिद्ध होता है, परन्तु व्यक्तिविवेक के टीकाकार रुय्यक ने ध्वनि-सिद्धान्त की तरफ से इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—

गुणीभूतव्यङ्ग्य स्थल जो समासोक्ति आदि अलकार हैं, वहाँ प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से प्रतीत होने पर भी, अपने आप मे निराकाक्ष नही रहता है पुन लौटकर वाच्यार्थ का ही उपस्कार करता है । ऐसे स्थलो मे वाच्यार्थ की ही प्रधानता रहने से ध्वनि लक्षण की या उत्तम काव्य की अतिव्याप्ति हो सकती है, अत लक्षण मे अर्थ का उपसर्जनीभाव आवश्यक ही है । जैसाकि ध्वनिकार का कहना भी है—

"उपोढरागेण विलोलितारकम्" इत्यादि मे—समारोपित नायिका नायक व्यवहारयो निशाशशिनोरेवावयार्थत्वात्" महिमभट्ट का उत्तर देते हुए रुय्यक का कहना है अर्थ की गुणीकृतात्मता का अभिप्राय यहाँ प्रतीति या प्रतीयमान अर्थ के प्रति उपाय होना नही और न अर्थ का असत्व होना ही है । अपितु प्रतीति अर्थो की अनुपकार्यता ही है—

गुणी कृतात्मतार्थस्य न प्रतीतावुपायता ।
नाचारुत्वमपि स्वयँवोंऽर्थैरनुपकार्यता ॥

ध्वनि लक्षण में पुन शब्द के विषय मे महिमभट्ट को आपत्ति है । आपका कहना है कि शब्द का तो यह कार्य ही है अपने अर्थ का अभिधान करना, इसके सिवाय और कोई

दूसरा व्यापार थोड़ी शब्द का है, अतः ध्वनि लक्षण में शब्द का उपादान भी व्यर्थ है—

इस पर ध्वनिवादी का कहना है कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्य बन जाता है, ऐसी जगह जैसे—

"दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्ट मया"।

ऐसे गुणीभूत व्यङ्ग्य स्थल में "श्लेश" शब्द तब तक स्पष्ट नही होता जब तक कि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नही होती है, अतः यहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक हुआ, यहाँ शब्द का जो अभिधेयार्थ है वह व्यङ्ग्यार्थ के प्रति उपसर्जन नही है, अत. इस गुणीभूतव्यङ्ग्य में ध्वनि लक्षण की अतिव्याप्ति न हो जाए, इसीलिए उपसर्जनीकृतार्थत्व विशेषण शब्द के लिए अपनाया है। ध्वनिकार ने स्वयं इसका आशय अपनी एक कारिका में दिया है—

आक्षिप्त एवालंकार शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिनुक्तः शब्देन, शब्दशक्त्युद्भवो हि, सः ।। इत्यादि।

पुनः महिमभट्ट का कहना है कि जिस प्रकार ध्वनिलक्षण में शब्दार्थ का उपसर्जनभाव स्वीकार किया है, उसी प्रकार अभिधा-शक्ति का भी उपसर्जनीभाव का उपादान करना आवश्यक है, क्योकि दीपकादि अलंकारों में दूसरे उपमा आदि प्रतीयमान रहते है। ऐसे ध्वनि के लक्ष्य स्थलो में भी यदि अभिधा को अप्रधान न कहा जाए तो ध्वनि लक्षण में अव्याप्ति नामक दोष आयेगा क्योकि अलंकारों का भी अभिधा रूप माना गया है। ये अलंकार भी भङ्गीभणिति—उक्तिवैचित्र्य रूप है। उक्त प्रतीयमान उपमानोपमेय भाव की निष्पत्ति के लिए ही तो इन दीपकादि अलंकारों में उक्तिवैचित्र्य का आश्रय लिया जाता है, और ध्वन्यमान जो अलंकार है उसी में चारुत्व है। स्वयं ध्वनिकार का भी कथन है कि 'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धः हि ध्वनिप्रतीति' इत्यादि। यह तभी हो सकता है जबकि शब्दार्थ की तरह अभिधा का भी गुणीभाव स्वीकार किया जाए।

इस पर व्यक्तिविवेक के व्याख्यानकार का समाधान है कि चिरन्तन भट्टोद्भट्टप्रभृति अलकारो के प्रजापतियों ने शब्द और अर्थ के धर्म अलंकार हैं ऐसा कहा है न कि अभिधा के धर्म। यदि अलंकार अभिधा के धर्म होते तब कही उस अभिधा पर विचार किया जाता, पर अभिधा तो एक शब्द शक्ति है, शब्द-व्यापार अर्थोपस्थिति कराना जिसका अपना कार्य है न कि शब्दार्थगत सौन्दर्य का आधान करना, फिर काव्य में जो शास्त्र इतिहास आदि से विलक्षणता आती है, वह तो सिर्फ शब्दार्थ के वैचित्र्य से आती है, जो कि अभिधा के वैचित्र्य से।

और दीपकादि मे जो उपमा के प्रति अनुपकार्यता को दूषित ठहराया है वह सब हमारे ध्वनिवादियो के मत को न समझने के कारण। यहाँ अतत्परता का अर्थ है प्रतीयमान से उपकृत न होना। यह बात यहाँ नही है। यहाँ तो उपमादि प्रतीयमान दीपकादि का उपकार ही करते हैं। अत यह स्थिति ध्वनि की न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य की ही है। ध्वनिलक्षण कारिका मे पुन जो "व्यङ्ग्यत काव्यविशेष," इस प्रकार कहा है, यहाँ पर काव्य विशेषण अर्थात काव्य का कुछ भी वैशिष्ट्य न दिखलाकर काव्यत्व सामान्य से ही ध्वनिकाव्य का लक्षण करना चाहिए। क्योंकि यह वैशिष्ट्य तो इसके द्वारा ही सम्भव है, पर ध्वनि का व्यवहार तो वस्तु और अलकार मे भी होता है। वस्तु आदि के विभावादि होने से रसाभिव्यक्ति मे हेतु होगे अत व्यञ्जक की विचित्रता से व्यङ्ग्य मे भी वैशिष्ट्य आ सकता है ऐसी कल्पना भी नही कर सकते, जैसे—गाय चितकबरे होने से गोत्व मे उस वर्ण-वैचित्र्य-व्यञ्जक द्वारा कोई फर्क नही आता है, इसी प्रकार विभावादि रूप से व्यजक-वस्तु आदि व्यङ्ग्य-ध्वनि मे भी कोई वैशिष्ट्य नही आ सकता है। 'तुष्यतु दुर्जनन्याय,' से किसी प्रकार वस्तु आदि व्यञ्जक ध्वनि मे वैशिष्ट्य मान भी लिया जाए तो क्या उन दोनो के व्यजक रहने से वैशिष्ट्य आयेगा या एक के, फिर जो केवल रसात्मक काव्य है, उसमे अतिव्याप्ति होगी, अर्थात वह विशिष्ट काव्य नही समझा जायेगा। तस्मात् ध्वनिकार को केवल काव्यत्व सामान्य मे ध्वनि का व्यवहार करना चाहिए न कि तद्विशेष मे।

तात्पर्य यह है कि अनुमितिवादी केवल रसयुक्त शब्दार्थ को ही काव्य मानता है, एकमात्र रस से ही चमत्कार मानता है, रस शून्य को तो काव्य ही नही मानता है। इसमे उसे व्यङ्ग्य या ध्वनि की उच्चावच—निम्नोन्नत स्थिति भी मान्य नही है, जिसके द्वारा उत्तम, मध्यम व अधम इस प्रकार का काव्य का वर्गीकरण किया जा सके। इनके मत मे जो उत्तम—(रसध्वनियुक्त) काव्य होता है, वही काव्यत्व सामान्य युक्त है। इसलिए व्यक्तिविवेक मे लिखा भी है—

"अत एव च गुणालकारसस्कृतशब्दार्थमात्रशरीर तावत् काव्यम्, तस्य यथोक्तव्यङ्ग्यार्थोपनिबन्धे सति विशिष्टत्व शक्य वक्तु, तस्य रसात्मताभावे मुख्य-वृत्त्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात्, किमुत विशिष्टत्वम्।

व्याख्यान में व्यक्त का समाधान इस प्रकार है—

ध्वनिकार ने प्रसिद्ध लक्ष्य को देखकर ही लक्षण बनाया है और लक्ष्य मे दो प्रकार के काव्य दृष्टिगोचर होते हैं। इनमे जहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता रहती है वह मुख्य है, और जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ मे चमत्कार रहता है, उसे गुणीभूत-व्यङ्ग्य कहते हैं। बहुत पहले से ही दोनो तरह के काव्य प्रसिद्ध हैं, परन्तु यहाँ ध्वनि

काव्य के लक्षण-प्रसङ्ग में गौण मुख्य न्याय अभीष्ट नही है। इस समय ग्रंथकार केवल ध्वनिकाव्य का ही लक्षण करने जा रहे हैं। एतदर्थ विशेषपद के द्वारा गुणीभूतव्यङ्ग्य का निरास आवश्यक है। इसीलिए ध्वनिलक्षणकारिका मे "काव्यविशेष:" कह कर ध्वनिकाव्य का इतरगुणीभूत व्यङ्ग्य से उसका वैशिष्ट्य दिखाना परमावश्यक है।

और भी "सूरिभि: कथित:" यहां कथन क्रिया से ही कर्ता का आक्षेप किया जा सकता है, पुन: कर्त्ता का उपादान करना अवाच्यवचन दोष है। दोनों पक्षों में कर्ता को ग्रहण करना ठीक नही है, क्योंकि यदि कर्ता सामान्य है या सामान्य कर्ता का विपक्ष हो तो क्रिया से उसका आक्षेप सरलतया हो सकता है। यदि कोई विशिष्ट कर्ता है या असाधारण व्यक्ति विशेष है तो उस कर्ता के बनाए हुए ध्वनिलक्षण से ही उसके वैशिष्ट्य का अनुमान किया जा सकता है। अत: उभयपथ में कर्तृत्व का उल्लेख करना अनुचित ही है।

यहाँ व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ध्वनिकार के ध्वनिलक्षण का प्रतिपद खंडन करते आ रहे थे। जब पूरे श्लोक पर आक्षेप हो चुका था, तो अन्तिम में एक "सूरिभि:" यह पद दिखाई दिया। उनके मन में आया कि लगे हाथ यह पद भी क्यों छोड़ा जाय, इस आवेश में इन्हें फिर पूर्वापर कुछ भी प्रसंग नही सूझा। उन्हें यह भी पता नही कि "सूरिभि:" यह पद पूर्ववृत्त का भी संकेत कर रहा है। और यहाँ तक तो ध्वनि-सिद्धान्त का केवल संक्षिप्त इतिहास ही दिखलाया गया जैसा हम पहले ही लिख चुके हैं। ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में "बुधै:" शब्द जिनका निर्देश किया गया था, इस ध्वनिलक्षण कारिका में पुन, "सूरिभि:" इस शब्द द्वारा उन्ही का प्रति निर्देश किया जा रहा है, और "कथित:" इस पद के द्वारा केवल कर्तृत्वमात्र आक्षेप हो सकता है, ताकि उसके बहुत्व का, जो कि ग्रन्थकार का विवक्षित है—और शब्दत: कर्ता का निर्देश करने से ध्वनि के विषय में परम्परा द्वारा प्रामाणिकता आ जाती है—जैसा कि महामाहेश्वर अभिनवगुप्ताचार्य ने भी लोचन मे इस "बुधै:" पद की व्याख्या की है—

"बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाभिधानं स्यात्, न तु भूयसां तद्युक्तम्, तेन बुधैरिति बहुवचनम्, (अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तम्) न च बुधा भूयसोऽनादरणीयं वस्तु आदरेणोपदिशेयु:, एतत्त्वादरेणोपदिष्टम्।"

इस प्रकार महिमभट्ट ने "महतां संस्तव एव गौरवाय" कहकर केवल अपनी ही गौरव की चिन्ता करते हुए, ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य के प्रति प्रतिपद अन्धाधुन्ध धूल उछाली है।

इस प्रकार लक्ष्यानुसार लक्षण का परीक्षण करके ध्वनिकाव्य—उत्तमकाव्य का लक्षण करके व्यङ्ग्य के तीव्र, मध्य व मन्दस्थिति के अनुसार उत्तम, मध्यम व अधम

काव्यों का विभाजन किया, यह स्थिति भी ठीक आध्यात्मशास्त्र में चैतन्य के तीव्र, मध्य व मन्द प्रकाश की तरह है। यद्यपि चैतन्य की स्थिति सर्वत्र समान रूप से है परन्तु तत्तत् उपाधियों के स्वच्छतम्, स्वच्छतर व स्वच्छ होने से तदुपहित चैतन्य में भी यह अन्तर आ जाता है। जीव की यह स्थिति सत्त्वादि गुण-प्रयुक्त होती है। अर्थात् जहाँ सत्त्व उत्कट होगा, वहाँ अधिक प्रकाश होगा। जहाँ रजोगुण उत्कट होगा वहाँ कम प्रकाश होगा, और जहाँ तमोगुण उत्कट होगा वहाँ अत्यन्त कम प्रकाश होगा। यही स्थिति व्यङ्ग्य की भी है। उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य में व्यङ्ग्य की स्थिति सर्वोच्च है, मध्यम-गुणीभूतव्यङ्ग्य में मध्यम दर्जे की, अधम चित्रकाव्य में अस्पष्ट मन्दरूप में है। तृतीयाद्योत में स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है—

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थितम् ।
द्विधा काव्यं, ततोऽन्यद् यच्चित्रमभिधीयते ॥

ध्वनिपूर्वयुग में अर्थात् वामनाचार्य पर्यन्त काव्य के वर्गीकरण की स्थिति कुछ दूसरी ही थी, उस समय काव्य के वर्गीकरण का आधार उसकी विषयवस्तु, शैली आदि बहिरंग साधन ही थे। काव्य के चारुत्व की सम-विषम, या उच्चावच स्थिति के आधार पर या काव्य के अन्तरंग आधार पर उसका विभाजन नहीं किया जाता था। ध्वनि संस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य की काव्यव्यवस्था में अब यह काव्य का विभाजन उसके अंतरंग-साधन, चारुत्व पर निर्भर रहने लगा। अर्थात्—आह्लादजनकता या रमणीयता अथवा सौन्दर्यानुभूति के आधार पर अब काव्य का वर्गीकरण प्रारम्भ हो गया।

ललना में लावण्य के समान काव्यसौन्दर्य ही सहृदयसाक्षिक होकर काव्य की उत्तमता का मापदण्ड था। चारुता के आधार पर आनन्दवर्धनाचार्य के काव्य का विभाजन तीन प्रकार से होता है।

(१) उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य—जहाँ व्यङ्ग्य की स्थिति सर्वोच्च है।

(२) मध्यम काव्य या गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य—जहाँ व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य में चमत्कार अधिक हो।

(३) अधम काव्य या चित्रकाव्य—जहाँ शब्दालंकार या अर्थालंकार का ही चमत्कार अधिक हो, व्यङ्ग्य अस्पष्ट हो।

(४) ध्वनिकाव्य—जहाँ शब्द तथा अर्थ अपने को प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ से गौण रहते हैं, प्राधान्येन प्रतीयमान अर्थ की ही अभिव्यक्ति होती है उसे ध्वनिकाव्य या उत्तम काव्य कहते हैं।

(५) जहाँ प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ का चारुत्व अधिक होता है, उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य या मध्यमकाव्य कहते हैं। यद्यपि यहाँ भी

व्यङ्ग्य का संस्पर्श रहता है, पर वह वाच्य के चारुत्व से गुणीभूत होता है। इसीलिए इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं।

(६) चित्रकाव्य—जहाँ केवल वाच्य—अर्थ और वाचक शब्द का ही केवल वैचित्र्य रहता है अर्थात् जहाँ शब्दालंकार तथा अर्थालकार ही प्रधान रहता है। व्यङ्ग्यार्थ विवक्षा से रहित होता है या व्यङ्ग्य की स्थिति अस्पष्ट होती है, उसे चित्रकाव्य या अधम काव्य कहते हैं।

मम्मट ने ध्वनिकार की ही सरणि का अनुसरण किया है। वे पूर्वोक्त तरीके से ही काव्य का वर्गीकरण करते हैं—

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः"।

(१) उत्तम काव्य—जब व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अतिशय-युक्त होता है।

"अतादृशि गुणीभूत व्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्"॥

(२) मध्यम काव्य—जब व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अनतिशायी हीन अथवा समकक्षी होता है, इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं।

"शब्दचित्रमर्थचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्"।

(३) चित्र काव्य—शब्द चित्र और अर्थ चित्र, अव्यङ्ग्य, अवर या अधम काव्य होता है। अव्यङ्ग्य पद का अर्थ है—स्फुट—प्रतीयमानरहित।

चित्र शब्द का अर्थ यहाँ गुणालंकार-युक्त है, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है—

"चित्रमितिः गुणालंकारयुक्तम्"।

सम्भवतः मम्मट ने इस चित्रकाव्य के विषय में वामनादि प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया हो, इसलिए वे शब्दगुण व अर्थगुणों का भी अलंकार के साथ समावेश करते हैं। अथवा उन्हें स्वयं अपने काव्यलक्षण का ख्याल आ गया हो "तददोषौ सगुणौ" इत्यादि, परन्तु गुण के आधार पर काव्यभाव का विभाजन करना इतना उचित प्रतीत नहीं होता है, यद्यपि यह शर्त भी किसी न किसी रूप में काव्य का अनुगमन करती है, पर सर्वथा यह अनिवार्य नहीं है।

विश्वनाथ ने काव्य का वर्गीकरण दोनों दृष्टि से किया। विषय-वस्तु या काव्य रूपों की दृष्टि से—दृश्य व श्रव्य २. ध्वनि परम्परा की दृष्टि से भी—

(क) ध्वनिकाव्य—जहाँ व्यङ्ग्य वाच्यातिशायी होता है।

"वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्।"

गौणभूतव्यङ्ग्य—जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा न्यून अथवा समान होता है।

"अपरन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्य वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये।"
अनुत्तमता च न्यूनतया साम्येन च सम्भवति।"

विश्वनाथ मम्मट के तृतीय भेद अर्थात् अधम को स्वीकृत नही करते, इसकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि—

"केचिच्चित्राख्य तृतीय भेदमिच्छन्ति" इत्यादि उद्धरण द्वारा—

विश्वनाथ की दृष्टि मे व्यङ्ग्य की केवल दो ही स्थितियाँ हैं—एक प्रधान, दूसरी गौण। प्रथमस्थिति मे ध्वनिकाव्य है दूसरी स्थिति मे गुणीभूतव्यङ्ग्य है, इसके बाद तीसरी स्थिति विश्वनाथ के अनुसार असम्भव है। क्योंकि मम्मट का यह व्यङ्ग्य बड़े झमेले की चीज है। अपने मत की पुष्टि के लिए वे ध्वनिकार के वाक्यों को प्रमाण रूप मे रखते हैं—

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्य स्यैव व्यवस्थिते।
उभे काव्ये ततोऽन्यत्तत चित्रमित्यभिधीयते।

इसका अर्थ वे अपने पक्ष में इस प्रकार कर लेते हैं—

व्यङ्ग्य की प्रधान व गुणभाव से दो स्थितियाँ हैं—ध्वनि एव गुणीभूतव्यङ्ग्य इन भेदो से भिन्न तो काव्य नही होता, वह तो चित्रमात्र है। इतना कहकर वे चतुर्थ परिच्छेद का "ड्राप्सीन" कर देते हैं। जिस आशय को लेकर वे ध्वनिकार के शब्दो को उपस्थित करते हैं, उसे अपनी वृत्ति मे उपस्थित नही करते, क्योंकि ध्वनिकार की व्याख्या उनके हक मे नही होती।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य-भेदो की सख्या और बढा दी। उन्होंने काव्य के तीन भेदो में एक सख्या और बढाकर चार कर दी है।

(१) उत्तमोत्तम काव्य, (२) उत्तम काव्य, (३) मध्यम काव्य, (४) अधम-काव्य। ध्वनिकार का उत्तम काव्य पण्डितराज का उत्तमोत्तम काव्य है। इसका लक्षण भी ध्वनिकार से मिलता जुलता है—

"शब्दार्थो यत्र गुणीभावितात्मानो कमप्यर्थमभिव्यक्तस्तदाद्यम्"

शब्द व अर्थ स्वय अपने को गौण करके जब किसी चमत्कारपूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं तब उस काव्य को उत्तमोत्तम काव्य कहते हैं।

"यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव तच्चमत्कारकारण तद् द्वितीयम्"

जहाँ व्यंग्य अप्रधान होते हुए भी चमत्कारी होता है, वह 'उत्तम' काव्य होता है। यह काव्य भेद भी स्पृहणीय होता है। आनन्दवर्धन ने काव्य के इस रूप की भी प्रशंसा की है—

"ये चेते अर्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यवन्धास्तेषु सर्वेत्वयं प्रकारो गुणीभूतव्यंग्यो नाम योजनीयः"।

"यत्र व्यंग्य-चमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत् तृतीयम्"।

जहाँ वाच्य चमत्कार से व्यंग्य चमत्कारहीन होता है वहाँ मध्यम काव्य होता है।

"यत्र च शब्दार्थचमत्कृत्योरैकाधिकरण्यं, तत्र तयोर्गुणप्राधान्यभावं पर्यालोच्य यथालक्षणं व्यवहर्त्तव्यं, समप्राधान्ये तु मध्यमतैव"

जहाँ शब्दार्थ चमत्कार बराबर हो, वहाँ उनमे से प्राधान्याप्राधान्य का विवेचन कर लक्षणानुसार व्यवहार करना चाहिए अर्थात् शब्द की प्रधानता मे शब्द चित्र और अर्थ की भिन्नता मे अर्थचित्र, शब्दार्थ व चमत्कार की समानरूपता में तो मध्यम काव्य होगा।

प्रतिभा

कवि के लिए काव्य निर्माण का मुख्य साधन प्रतिभा ही है। प्रतिभा के बिना काव्य का निर्माण सर्वथा असम्भव सा है, अतः काव्य के क्षेत्र में प्रतिभा का बड़ा महत्व है। यदि कवि में प्रतिभा है, तो समस्त पदार्थ सार्थ उसके सामने समुपस्थित हो जाता है। ऐसे ही कवि के लिए ऋषि या क्रान्तदर्शी कहा गया है। प्रतिभा शब्द के मूल में "भा दीप्तौ" दीप्त्यर्थक भा धातु है, प्रति उपसर्ग के संयोग से प्रति उपपद भा धातु से "आतश्चोपसर्गे" सूत्र से क प्रत्यय होगा "आतो लोप इटि च" से आकार का लोप स्त्रीत्वात् टाप् होकर 'प्रतिभा' शब्द बन जाता है, जिसका अर्थ है ज्योति या प्रकाश, प्रतिभाति इति प्रतिभा, जिसके द्वारा किसी वस्तु का रूप प्रकाशित हो। संस्कृत साहित्य में प्रतिभा शब्द की परिभाषा अनेक रूपों में मिलती है, काव्यशास्त्र के अनेक ग्रन्थो में इसका विवेचन किया गया है।

संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम आलंकारिक भामह ने शास्त्र—काव्य के अध्ययन करने वालों में बहुत अन्तर दिखलाया है। भामह का कहना है कि जड़ बुद्धि शिष्य भी गुरु के उपदेश से या किसी प्रकार रटकर भी शास्त्र को अच्छी तरह पढ़ सकता है, परन्तु काव्य की स्फूर्ति तो उसी व्यक्ति को होगी जो प्रतिभा सम्पन्न होगा—

गुरूपदेशादध्येतु शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ॥

प्रतिभा सम्पन्न कवि ही काव्य के निर्माण में सर्वथा समर्थ होता है, क्योंकि प्रतिभाहीन व्यक्ति के लिए देखते हुए भी समस्त पदार्थसार्थ परोक्ष की तरह है। अब जिसे पदार्थ दर्शन ही नहीं हुआ तो वह फिर वर्णन कैसे करेगा। दर्शन से यहाँ तात्पर्य प्रतिभापूर्ण दृष्टि द्वारा पदार्थ की विषय रूप में उपस्थिति अपेक्षित है। जो प्रतिभा तत्व से युक्त है, वह सब कुछ बाह्य कारणों से न देखते हुए भी अन्तर्दृष्टि से यावत् विषयों का साक्षात्कार कर लेता है। अतः प्रतिभा सम्पन्न कवि ऐसी कविता करता है, जिसमें एक पद भी निन्दनीय नहीं होता है। दोषयुक्त कविता की सर्वत्र निन्दा होती है, कुकविता साक्षात् मृत्यु है, इस साहित्यिक मृत्यु को वही जीत सकता है, जिसके पास प्रतिभा का बीजमन्त्र हो। कवि न होना कोई बुरी चीज नहीं है, परन्तु कुकवि होना तो एक तरह की मृत्यु ही है। किसी विद्वान् की यह सूक्ति ठीक ही है—

"नाऽकवित्वमधर्माय मृतये दण्डनाय च ।
कुकवित्वं पुनः साक्षात् मृत्युमाहुर्मनीषिणः ॥

प्रतिभा के विषय में विभिन्न विद्वानों के मत इस प्रकार हैं—

१ आचार्य भट्टतौत के मतानुसार "नये नये अर्थों का उन्मीलन करने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है,—"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता"

२ अभिनवगुप्त के अनुसार अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा ही प्रतिभा है,—"प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा"।

३ जो उचित शब्दार्थ समुदाय को, अलंकार व उक्तिवैचित्र्य को, हृदय में उद्भासित करती है, ऐसी प्रज्ञा-विशेष ही प्रतिभा है।
"या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमपि हृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।" (राजशेखर का मत)

४ मम्मट के अनुसार कवित्व बीजरूप संस्कार विशेष ही शक्ति-प्रतिभा है, "शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः"

तात्पर्य यह है कि प्रतिभा ही कवि के हृदय में अभिनव कल्पनाओं को जाग्रत करती है।

प्रतिभा के साथ साथ काव्यशास्त्रियों ने काव्यनिर्माण के विषय में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को भी आवश्यक माना है। क्योंकि कवि कर्म केवल कवि के ही लिए या परिमित सहृदयों के ही लिए न होकर कभी कभी जन-सामान्य के लिए भी होता है।

ऐसी स्थिति में कवि को भी 'लोक हृदय' होना आवश्यक है। इसके लिए व्यापक लोक वृत्त का ज्ञान अपेक्षित है। लोकवृत्त का अर्थ है चराचरात्मक जगत् के व्यवहारों व परिस्थितियों का सुन्दर ज्ञान, इसके अतिरिक्त शास्त्र, वृद्धकवि या उनके निर्मित काव्यों से विभिन्न प्रकार की कलाओं का ज्ञान भी प्राप्त करना कवि के लिए आवश्यक है।

इस प्रकार प्रतिभा व व्युत्पत्ति के साथ-साथ काव्य-शिक्षा या काव्य रचना का निरन्तर अभ्यास करना भी कवि का एक मुख्य कर्म है। यद्यपि प्रतिभा-युक्त कवि के लिए काव्य एक प्रकार की स्वानुभूति है, पर व्युत्पत्ति व अभ्यास की दृष्टि से यह सरस्वती की पवित्र साधना भी है।

काव्य के समुन्मेष में पूर्वोक्त इन प्रतिभा, व्युत्पत्ति व अभ्यास तीनों तत्त्वों की कारणता है, या इनमे से एक या दो तत्त्वों से भी काव्य का उदय हो सकता है। इस विषय में काव्यशास्त्रियों के विभिन्न मत हैं—

इस विषय में कुछ प्रमुख आचार्यों के मतों का सारांश दे देना उचित होगा—

आचार्य भामह के मत में—मूलतः प्रतिभा ही काव्य निर्माण में समर्थ है, जैसा कि उन्होंने लिखा है—**"काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः"**। परन्तु इसके साथ साथ शास्त्रज्ञान, काव्यविद् की उपासना, अन्य निबंधों के अवलोकन को भी आवश्यक बतलाया है, **"कार्यः काव्यक्रियादरः"** के द्वारा अभ्यास की ओर भी संकेत किया है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥

आचार्य दण्डी के मत में काव्यसम्पत्ति के लिए नैसर्गिक प्रतिभा, निर्मलशास्त्र ज्ञान, व निरन्तर अभ्यास, ये तीनो अपरिहार्य हैं।

नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥

भामह ने जहाँ प्रतिभा के ऊपर अत्यधिक जोर दिया, वहाँ दण्डी ने प्रतिभा को अत्यावश्यक न मानकर, केवल व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के द्वारा भी कवि-कर्म में सफलता प्राप्त की जा सकती है, ऐसा उल्लेख किया है—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्॥
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता एवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

व्युत्पत्ति व अभ्यास के स्वतन्त्र अस्तित्व की यह उपलब्धि आचार्य दण्डी मे देखी गई है।

आचार्य वामन ने इस विषय पर कुछ विस्तार से विचार किया है, जो परवर्ती आचार्यों का भी उपजीव्य रहा है। इन्होंने प्रथम काव्यागो को तीन वर्गों मे विभक्त किया है—लोक,—विद्या,—प्रकीर्ण

"लोको विद्याप्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि" ॥

प्रथम अग मे लोकवृत्त का ज्ञान आता है, द्वितीय अग मे समस्त शास्त्रो का ज्ञान आता है, तृतीय अग मे निम्नलिखित छै बाते आती हैं—

(१) लक्ष्यज्ञत्व—अन्य कवियो की कृतियो का परिचय।

(२) अभियोग—काव्यरचना का उद्यम।

(३) वृद्ध सेवा—काव्यकला के मर्मज्ञो की उपासना।

(४) अवेक्षण—रचना मे अधिक से अधिक उचित शब्द रखने का अभ्यास।

(५) प्रतिभान—कवित्व का बीज प्रतिभा।

(६) अवधान—चित्त की एकाग्रता।

लोकपद से यहाँ स्थावर-जगमात्मक लोकवृत्त का ग्रहण किया जाता है अर्थात् लोकवृत्त का अथ लोक व्यवहार का समुचित ज्ञान कवि को होना चाहिए। बिना लोकवृत्त जाने कवि समाज का प्रतिनिधित्व नही कर सकता है, और न औचित्य का पालन ही कर सकता है। एतदर्थ यह आवश्यक है कि कवि तत्तत् देशों के लोकवृत्त से भी सुपरिचित हो, अन्यथा कवि का प्रभाव विपरीत भी हो सकता है, जिससे समाज की आस्था कम हो जाती है और कवि उपहास का पात्र बन जाता है। यथा अवृत्तज्ञ कवि यदि इगलैंड मे आम के सौरभ का वर्णन कर दे, या तिब्बत आदि शीतप्रधान प्रदेश मे त्रिकाल स्नान या जलविहार आदि दिखलाना सरासर अनुचित होगा।

विभिन्न शास्त्रो का ज्ञान भी काव्य निर्माण के लिए परमावश्यक है। जैसे शब्द साधुत्व के लिए व्याकरण शास्त्र का ज्ञान, सन्दिग्धार्थ के निर्णय के लिए कोषादि का ज्ञान, पद्य निर्माण के लिए उसके गुरु, लघु वा यति आदि को नियमित करने के लिए छन्द शास्त्र का ज्ञान भी आवश्यक है। नृत्यगीतवाद्य आदि कलाओ का ज्ञान सगीतादि शास्त्रो से करना चाहिए।

प्रकीर्ण मे—लक्ष्यज्ञत्व का अर्थ है काव्य का पुन पुन अवलोकन-परिचय करना, काव्यो के पुन पुन अभ्यास से ही व्युत्पत्ति बढ़ती है।

अभियोग—का अर्थ है काव्य रचना का उद्योग करना। यह उद्योग काव्य रचना में उत्कर्ष लाता है।

वृद्धसेवा—का अर्थ है काव्य का उपदेश देने वाले गुरुजन। उनकी सेवा से काव्य सफल होता है।

अवेक्षण का अर्थ है—काव्यरचना में उपयुक्त शब्दों का विन्यास करना और अनुपयुक्त शब्दों का त्याग करना तथा रचना की रमणीयता का निरीक्षण करना।

प्रतिभान—यह एक तरह का संस्कार-विशेष है जो पूर्वजन्म के सुकृत से प्राप्त होता है जिसके बिना काव्यप्रसार नहीं होता है, अथवा निष्पन्न होने पर भी हास्यास्पद होता है।

अवधान—चित्त की एकाग्रता है, क्योंकि एकाग्रचित्त ही किसी पदार्थ को समझने में सक्षम होता है, यह चित्त की एकाग्रता देश और काल से प्राप्त होती है। इसके लिए विविक्त एकान्त देश और रात्रि के चौथे पहर अर्थात् प्रातः चार बजे का समय बहुत उचित है, ऐसे देश व काल में चित्त विपरीत विषयों से उपरत रहता है।

इस प्रकार वामन ने काव्य की कारणता के विषय में विस्तृत विवेचन किया है जिनका संकलन आचार्य मम्मट ने केवल एक ही कारिका में कर दिया है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

आचार्य मम्मट ने वामन के ही अनुसार काव्यकारणसामग्री का वर्णन किया है, ये समुचित कारणतावादी है। वे काव्य के प्रति शक्ति, निपुणता, व्युत्पत्ति व अभ्यास को दण्डचक्रचीवरादिन्याय से कारण मानते हैं, तृणारणिमणि न्याय से पृथक् पृथक् कारण नहीं मानते हैं।

आचार्य कुन्तक के अनुसार पूर्वजन्म व इस जन्म के संस्कारों से परिपक्व बुद्धि का नाम ही प्रतिभा है। यद्यपि यह गुण पूर्वजन्म के पुण्यविशेष से ही लभ्य है, पर इस जन्म में भी समुचित परिस्थिति उपलब्ध हो तो व्यक्ति प्रतिभावान् हो सकता है ऐसी कुन्तक की धारणा है, अथवा पूर्वजन्म के पुण्य के बल से प्राप्त प्रतिभा के अंकुर को समुचित परिस्थिति द्वारा इस जन्म में भी उसे पल्लवित कर सकता है। ये केवल प्रतिभावादी आचार्य हैं।

प्रतिभा में वह शक्ति है जिससे बिना प्रयत्न के ही शब्दार्थ में कोई अपूर्व सौन्दर्य प्रस्फुरित होता है—

प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ॥

अर्थात्—कवि प्रतिभा का मुख्य कार्य है शब्द और अर्थ मे अपूर्व सौन्दर्य का प्रस्फुरण कराना, क्योंकि कुन्तक का यह मत है कि अम्लान प्रतिभा के द्वारा ही शब्द और अर्थ मे नवीन चमत्कार प्रस्फुटित होता है—

यम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुर ।
अयत्ननिहितस्वल्पमनोहारिविभूषण ॥

कुन्तक के मतानुसार सम्पूर्ण काव्यविधान का केन्द्रबिन्दु ही प्रतिभा है—' यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत्प्राधान्येनैव वाक्योपनिबन्धस्तथापि कविप्रतिभाप्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते" । (वक्रोक्ति० 1)

अर्थात्—"यद्यपि दोनो (उदाहरणो) मे उम शब्दार्थ के साहित्य के प्राधान्य से ही काव्य रचना की गई है, फिर भी कवि प्रतिभा की प्रौढता ही प्रधानरूप से अवस्थित रहती है" । व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट के मतानुसार कवि के समाहित चित्त मे रसानुकूल शब्दार्थों का स्मरण कराने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है, इसीके द्वारा कवि अतीत वर्तमान व अनागत के सभी पदार्थों का साक्षात्कार करता है। इसी को ज्ञानचक्षु भी कहते हैं।

महाकवि दण्डी ने स्वभावोक्ति और जाति नामक अलकारो को माना था, कुन्तक ने स्वभावोक्ति का बडे जोरदार शब्दो मे खण्डन किया था—

"अलकारकृता येषा स्वभावोक्तिरलङ्कृति ।
अलकार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ॥
स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।
वस्तु तद्रहित यस्मान्निरुपाख्य प्रसज्यते," ॥ इत्यादि

जिन अलंकारकारो अथवा अलकारशास्त्र के रचना करने वाले आचार्यों ने 'स्वभावोक्ति' को अलकार माना है, उनके मत मे फिर अलकार्य क्या रह जाता है। क्योंकि जो कुछ भी कहा जाता है वह स्वभाव के अतिरिक्त और कुछ नही होता है। स्वभाव से रहित वस्तु का तो निरूपण ही असम्भव है। इस प्रकार स्वभाव की उक्ति ही तो काव्य का शरीर है, तब वह स्वय अलकार और अलकार्य कैसे हो सकता है, स्वय अपने आप अपने कधे पर नही चढा जा सकता है।

इसी स्वभावोक्ति के अलकार रूप मे समर्थन के प्रसग मे महिमभट्ट ने प्रतिभातत्त्व का विश्लेषण किया है—

उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते ।
तत्रैकमत्र सामान्य यद्विकल्पैकगोचर ॥
स एव सर्वशब्दाना विषय परिकीर्तित ।
अत एवाभिधेय त सामान्य बोधयन्त्यलम् ॥
विशिष्टमस्य यद्रूप तत् प्रत्यक्षस्य गोचर ।
स एव सत्कविगिरा गोचर प्रतिभाभुवाम् ॥

यत:—

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतस: ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्या प्रज्ञैव प्रतिभा कवे: ।।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिन: ।।
इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम् ।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्य इति नेह प्रपञ्चितम् ।।
अर्थस्वभावस्योक्तिर्या सालंकारतया मता ।
यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्था प्रतिभार्पिता ।।

स्वभावोक्ति के अलंकारत्व के पक्ष मे महिमभट्ट का कहना है कि संसार में वस्तु के दो रूप होते है, इनमें से एक सामान्यरूप होता है—जिसमे प्रायः सन्देह रहता है। यही अर्थ सभी शब्दों का विषय बतलाया गया है, इसीलिए ये शब्द सामान्य अर्थ का बोध कराते रहते हैं।

जो इस वस्तु का विशिष्ट रूप है, वह प्रत्यक्ष का विषय है। यही अच्छे कवियों की प्रतिभापूर्ण वाणी का विषय है, क्योंकि कवि की वही प्रज्ञा प्रतिभा है—जो रसानुकूल शब्दार्थो का निश्चल चित्त में स्फुरण कराती है।

यही भगवान् शंकर का तृतीय नेत्र है, जिससे वे अतीत-वर्तमान व भविष्यत्-कालिक पदार्थों का साक्षात्कार करते हैं। अपने "तत्त्वोक्ति-कोश" नामक ग्रन्थ में हमने इस प्रतिभा तत्त्व का विस्तार से विवेचन कर दिया है।

अर्थ के स्वभाव की जो उक्ति है—वह अलंकार इसीलिए मानी गई है, क्योंकि उत्तम प्रतिभा ही उन पदार्थो को चित्रित करती है और वे पदार्थ आँखों देखे जैसे लगते हैं।

आनन्दवर्धनाचार्य ने काव्य-हेतुओं पर पृथक् से कोई विचार नही किया है, किन्तु ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में संघटना के विवेचन के प्रसंग मे उन्होंने शक्ति का प्रतिभा-तत्त्व पर प्रकाश डाला है।

आपका कहना है कि जब यह पक्ष मान लिया जाय कि संघटना और गुण एक-रूप ही हैं, अर्थात् संघटना और गुणों का परस्पर तादात्म्य है, तब एक आपत्ति यह आयेगी कि संघटना की तरह गुणो का भी कोई नियत रूप नही रह जायेगा। इसमें ऐक्य पक्षवादी का कथन है, कि कही एक या दो उदाहरणों में इस प्रकार का दोष आ सकता है।

"न ह्येकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति"

अर्थात् कहीं लक्ष्य में, एकाध जगह विपरीत व्यवस्था देखकर लक्षणात्मक नियम को नहीं बदला जा सकता है, अपितु उस लक्ष्य को ही लक्षणानुसार बदल देना चाहिए।

इस पर यदि कोई उक्त लक्ष्य की अवास्तना की आशंका करे तो, इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ऐसे दोष कवि की शक्ति से तिरोहित हो जाते हैं—

कवि का दोष दो प्रकार का होता है—एक तो अव्युत्पत्ति जन्य अर्थात् कवि के अज्ञानवश किया गया। दूसरा अशक्ति जन्य, अर्थात् कवि की प्रतिभा की कमी के कारण। इसमें जो अव्युत्पत्तिजन्य दोष है वह कदाचित् कवि की प्रतिभा के चमत्कार से तिरोहित भी हो जाता है, परन्तु जो अशक्तिजन्य दोष है वह शीघ्र ही लक्षित हो जाता है। कहा भी है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोष शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्येव भासते॥

ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने लोचन टीका में शक्ति पद का व्याख्यान इस प्रकार किया है—"शक्ति प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्" अर्थात्—शक्ति का अर्थ—प्रतिभा है जो वर्णनीय वस्तु के विषय में अभिनव व चमत्कारपूर्ण अर्थ का उन्मेष कराती है।

जैसे प्रतिभासम्पन्न महाकवि कालिदास के द्वारा वर्णित शिवपार्वती विषयक संभोग शृंगार भी चमत्कार में तल्लीन हृदय वाले सहृदयों को पूर्वापर परामर्श के लिए अवकाश प्रदान नहीं करता है।

इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य व अभिनवगुप्ताचार्य के मत में प्रतिभा ही काव्य का सर्वस्व है।

आगे चतुर्थ उद्योत में स्वयं कहते हैं कि यदि कवि में प्रतिभा है तो तत्प्रयुक्त काव्य में भी आनन्द आ जाता है, क्योंकि वही पूर्वोपवर्णित पदार्थ कविप्रतिभा के गोचर होते हैं तो मधुमास के वृक्षों की तरह सब नये ही मालूम पड़ते हैं—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥

प्रतिभा-व्युत्पत्ति व अभ्यास इन काव्यकारणों के विषय में विशिष्ट आचार्यों की मान्यतायें इस प्रकार हैं।

समुदितत्रितयवादी	केवल प्रतिभावादी
१ आचार्य दण्डी	१ आचार्य कुन्तक
२ आचार्य वामन	२ आचार्य महिमभट्ट
३ आचार्य मम्मट	३ आचार्य आनन्दवर्धन

—पण्डितराज भी केवल प्रतिभावादी—

पंडितराज जगन्नाथ केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं। पर पुनः उस प्रतिभा के भी दो कारण मानते है—

(१) अदृष्ट (२) व्युत्पत्ति एवं अभ्यास

(१) अदृष्ट मे भी किसी देवता महापुरुष आदि के प्रसाद अथवा वरदान से अदृष्ट की उत्पत्ति होती है।

(२) व्युत्पत्ति एवं अभ्यास—

पण्डितराज व्युत्पत्ति व अभ्यास को भी प्रतिमा के प्रति कारण मानते हैं। बहुत परिश्रमपूर्वक काव्य की साधना करने से भी कभी कभी प्रतिभा का उदय हो जाता है। इस प्रकार पण्डितराज एक प्रकार से राजशेखर के शास्त्र कवि को भी मान्यता प्रदान कर देते हैं या रुद्रट के अनुसार जो प्रतिभा उत्पाद्या है, उसको भी पण्डितराज की तरफ से मान्यता मिल जाती है।

पण्डितराज के मत में प्रतिभा का स्वरूप

काव्यरचना के अनुकूल शब्द तथा अर्थ की अवसर पर उपस्थिति ही प्रतिभा है—"सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः" प्रतिभा मे प्रतिभागत धर्म= प्रतिभात्व ही वस्तुतः काव्य का कारण है—या काव्यरूपी कार्य के प्रति कारणतावच्छेदक धर्म = प्रतिभात्व ही जातिविशेष है।

नैयायिक व्याख्या—

प्रतिभात्व जो कि काव्य-कारणतावच्छेदक है, इसे एक जाति-विशेष कहा गया है। नैयायिकों का सामान्य या जाति का लक्षण इस प्रकार है—"नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्" जाति नित्य होते हुए, अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहती है या एकाकार प्रतीति कराती है।

काव्यरूपी कार्य की विविधता को देखकर उसके कारण प्रतिभागत वैलक्षण्य या विविधता की कल्पना कर ली जाती है। अतः प्रतिभात्व वह तत्त्व है जो विविध प्रतिभाओं मे अनुगताकार से व्याप्त है, अतः अनेक समवेतत्व है, और प्रतिभात्व न एक है, इस प्रकार प्रतिभात्व एक जाति है। इसे जाति विशेष इसलिए कहा है कि—यद्यपि शास्त्र व इतिहासादि का निर्माण करने वाली भी प्रतिभाएँ है, यह प्रतिभात्व धर्म तो उनको भी है, परन्तु काव्य की कारणतावच्छेदक प्रतिभा कुछ अन्य शास्त्रीय प्रतिभा से विलक्षण है। यदि सामान्यशास्त्रीय प्रतिभा केवल जाति है तो यह कविनिष्ठ काव्यविषयक—कारणतावच्छेदक प्रतिभा विलक्षण होने से जाति विशेष है। इस प्रकार न्याय की दृष्टि से पण्डितराज ने प्रतिभा का स्वरूप इस प्रकार दिया है—"तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतयासिद्धो जातिविशेषः"।

वेदान्ती व्याख्या—

न्यायदर्शन की व्याख्या के अनुसार प्रतिभा का केवल शास्त्रीय रूप उपस्थित होता है, परन्तु उसका चेतनोन्मुख रूप परिलक्षित नहीं होता है। यह बात वेदान्ती पण्डितराज को बहुत खटकी, क्योंकि इस तत्व के विवेचन में पण्डितराज का वेदान्तपक्ष ही प्रबल है, अतः इस कमी की पूर्ति के लिए उन्होंने काव्य की प्रतिभा के चेतनात्मक मूलरूप पर अधिक प्रकाश डालने के लिए उसकी अखण्डोपाधि से कल्पना की है। तदनुसार प्रतिभा को अखण्डोपोधि कहा गया है, "तद्गतं च प्रतिभात्वं उपाधिरूपं वाखण्डम्"

वेदान्त दर्शन के अनुसार चिति या चैतन्य की दो स्थितियाँ हमारे सामने आती हैं—विशुद्ध और औपाधिक। निरुपाधिक ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव है। यही निरुपाधिक ब्रह्म अखण्ड है, परन्तु उपाधि में मिली जुली चिति की स्थिति व्यवहारोपयोगी है। प्रतिभा व्यवहार की वस्तु है, अतः पण्डितराज ने भी उसे अखण्ड-मात्र न कह कर, अखण्डोपाधि कहा है।

प्रतिभा को अखण्ड-उपाधि कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिभा मूलरूप में निर्विकल्पात्मक चेतना है, यह स्थिति विकल्प या विलक्षणताओं की दृष्टि से अव्यक्त अथवा अनुन्मीलित है। विभिन्न रूप अदृष्टों से अथवा व्युत्पत्ति और अभ्यास से इसका उन्मीलन होता है, फलतः प्रतिभात्व-विशिष्ट प्रतिभा उन्मीलित अवस्था में आती है। प्रतिभा की यह उन्मीलित अवस्था उन्मीलक कारणों की विविधरूपता के कारण विविध रूपा ही होती है। तदनुरूप उसका काव्यसर्जन भी विविधरूप ही होगा। इस सखंड उपाधि या सविकल्पात्मक प्रतिभा के विलक्षण रूपों में प्रतिभा का यह मूल रूप, अखंड उपाधिस्वरूप प्रतिभात्व ही सन्निविष्ट रहता है।

इस प्रकार पण्डितराज के अनुसार प्रतिभा का मूलरूप प्रतिभात्व जो अखंड उपाधि है और अदृष्टादिकारण सामग्री से उन्मीलित प्रतिभा सखंड उपाधि है।

इस प्रकार पण्डितराज के अनुसार संक्षेप में प्रतिभा का विवेचन इस प्रकार है—

१—काव्य का कारण केवल प्रतिभा है।

२—व्युत्पत्ति व अभ्यास तथा अदृष्ट ये प्रतिभा के उन्मीलक हेतु हैं।

३—प्रतिभा का मूलरूप प्रतिभात्व है जो अखंड उपाधि है। न्याय की दृष्टि में वह सिद्ध जाति विशेष है।

४—रमणीय अर्थों तथा तदनुरूप शब्दों की उद्भावना करना प्रतिभा का कार्य है। इसका सम्बन्ध काव्य से है।

५—इस प्रकार अदृष्टादि के विवेचन को लेकर मीमांसा, जाति को लेकर न्याय और अखण्ड उपाधि को लेकर वेदान्त, इन तीनों दर्शनों के अनुसार प्रतिभा एवं काव्यकारणता का मौलिक विवेचन हुआ।

काव्य का प्रयोजन

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते"

इस विशाल विश्व में निम्न से निम्नतर कृति का भी कोई न कोई प्रयोजन दृष्टिगोचर होता है, तो फिर काव्य जैसे महनीय व महत्वपूर्ण कृति का भी निश्चित ही कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होगा, क्योंकि पूर्वोक्त सूक्ति तो हमें यही बतलाती है कि कितना ही मन्द या मतिमन्द क्यों न हो वह भी निरर्थक या निष्प्रयोजन किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है।

यदि परमेश्वर की शुभप्रेरणा प्रयुक्त इस प्रकृति कृति में कोई उद्देश्य निहित है, तो निश्चित ही कवि इस रमणीय कृति में भी जो कि प्रकृति की ही प्रतिकृति समझी जाती है अवश्य कोई न कोई प्रयोजन होगा। इसी कवि के कृति-निहित अस्तित्व-रूप प्रयोजन के विषय में काव्यशास्त्रियों ने विस्तार से विवेचन किया है, संक्षेप में जिनका सारांश हम यहां प्रस्तुत करेंगे। 103436

सर्वप्रथम हमे यह विचार करना चाहिए कि काव्य का उदय किस परिस्थिति में हुआ। तत्त्व-द्रष्टा महर्षि वाल्मीकि एक दिन मध्याह्न स्नान करने के लिए तमसा नदी की ओर जा रहे थे, तो उस तट में उन्होंने देखा कि एक व्याध ने क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक पक्षी को मार डाला, जैसा कि रामायण मे लिखा भी है—

तस्मात्तु मिथुनादेकं पुमांसं पापनिश्चयः।
जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्यतः॥

व्याध के द्वारा मारे गये अपने प्राणप्रिय क्रौञ्च-पक्षी के वियोग से अत्यन्त विह्वल क्रौञ्ची के करुणमय क्रन्दन से महर्षि वाल्मीकि का दया से द्रवित चित्तवृत्ति विशेष शोक ही श्लोक में परिणत हुआ—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह शोक करुण रस का स्थायीभाव है, यह श्लोक है महर्षि का परवेदना से द्रवीभूत संवेदनशील सहानुभूतिपूर्ण चित्तवृत्ति, बस यहीं से काव्य का अवतरण होता है। शब्द-ब्रह्म का यह प्रथम परिणाम श्लोक रूप में हुआ। तदनन्तर आकाशवाणी हुई कि हे ऋषे! आप शब्दब्रह्म में प्रवृद्ध हैं। रामचरित का वर्णन कीजिए, इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि आदि कवि हैं और रामायण आदि काव्य है। इस प्रकार सहानुभूति में काव्य का उदय हुआ और रस ही काव्य की आत्मा है। इसका संकेत ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धनाचार्य ने भी किया है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

इसी बात को महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में इस प्रकार कहा है—

"निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः"। जब एक पक्षी के लिए भी कवि के हृदय में या उसके हृदय के प्रतिबिम्बीभूत काव्य में इतनी सहानुभूति है, तो ज्ञानदयादाक्षिण्यादिगुण सम्पन्न मनुष्य के काव्य में या कवि में क्या नहीं हो सकता है। अर्थात् काव्य मनुष्य के ऐहलौकिक या पारलौकिक श्रेय व प्रेय का साधन है।

तस्मात् काव्य का प्रयोजन है मनुष्य को इस लोक में महामोह के संकट से मुक्ति पर्यन्त में परमपुरुषार्थ की प्राप्ति कराना जैसा कि काव्यशास्त्र के अधिकारी विद्वानों का कथन भी है।

अलंकार शास्त्र के प्रथम आचार्य भामह का कहना है कि सुन्दर काव्य का परिशीलन कलाओं में कुशलता का आधान करता है और धर्मार्थकाम व मोक्ष की प्राप्ति के साथ साथ कीर्ति व प्रीति का भी विस्तार करता है।

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥

आचार्य वामन का कहना है कि काव्य ऐहलौकिक व पारलौकिक दोनों तरह के फल को देता है। जीवन काल में काव्य आनन्द देता है और मृत्यु के बाद यश देता है, अतः विद्वानों ने काव्य-रचना की प्रतिष्ठा को यश-प्राप्ति का मार्ग कहा है। अतः कीर्ति की प्राप्ति के लिए और अपकीर्ति के निराकरण के लिए श्रेष्ठ कवियों को अवश्य काव्य रचना एवं काव्यालंकारप्रधानग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिए।

किं पुनः फलमलंकारवता काव्येन? येनदेर्थोऽयमित्याह—

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ॥

प्रतिष्ठा काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः। इत्यादि

आनन्दवर्धनाचार्य के मत में काव्य का पार्यन्तिक फल या प्रयोजन आनन्दाप्ति है, जैसा कि चतुर्वर्ग-व्युत्पत्ति का फल भी पर्यन्त में आनन्द ही है। ध्वन्यालोक के प्रथम श्लोक के चतुर्थ चरण में यह बात स्पष्ट होती है—

"तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्'

ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने लोचनटीका में इसका स्पष्टीकरण किया है, कि सहृदयों के हृदय में प्रीति—आनन्द की अनुभूति के लिए हम काव्य के स्वरूप का विवेचन करने जा रहे हैं। यद्यपि कवि को काव्य के द्वारा कीर्ति लाभ भी होता है, परन्तु यह कीर्ति भी प्रीति का ही साधन है। प्रधानता प्रीति में ही है, इसी को

पार्यन्तिक फल भी कह सकते हैं, अन्यथा अनुसम्मित वेदादिशास्त्रों से और मित्र-सम्मित पुराणेतिहासादि से, कान्ता सम्मित उपदेश योग्य इस काव्य की विशेषता ही क्या होगी ?

"सहृदयमनःप्रीतये" कहने से यह ध्वनित होता है कि जैसे वेदान्तशास्त्र का अधिकारी साधनचतुष्टय सम्पन्न होता है, वैसे ही इस काव्य या काव्यशास्त्र का अधिकारी या पात्र सहृदय ही हो सकता है। सहृदय की परिभाषा करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त लिखते हैं कि—

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरेवर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।

अर्थात्—निरन्तर काव्यानुशीलन से जिनका हृदयदर्पण स्वच्छ हो चुका है और उसमें वर्णनीय विषय के अवगम की योग्यता आ चुकी है। ऐसे कविहृदय के तुल्य हैं हृदय जिनके, उन्हे सहृदय कहते हैं।

इस प्रकार यह अलौकिक कवि, कर्म या काव्य रचना की कला बड़ी विलक्षण है, जिसके बलप्रसाद से कवि का भौतिक शरीर यदि इस धराधाम मे न भी रहे तो काव्यमय कमनीय कलेवर से तो सदा के लिए अमर हो जाता है—

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातंकं कान्त काव्यमयं वपुः॥

आचार्य कुन्तक के अनुसार काव्यबन्ध या काव्य उच्चकुल मे प्रसूत, सुकुमार स्वभाव राजकुमारादि के लिए हृदय को आह्लादित करने वाला और कोमल सरणि से उपदिष्ट धर्मादि की सिद्धि का मार्ग है—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयानन्दकारकः॥

और यह काव्य ही नवीन औचित्यपूर्ण व्यवहार में सुन्दरता लाने वाला परिमाण भी है।

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यंव्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥

और यह काव्यामृत का रस सहृदयों के अन्तःकरण मे चतुर्वर्ग-फल से भी कहीं अधिक चमत्कार उत्पन्न कर देता है।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य के तीन प्रयोजन है। (१) चतुर्वर्ग-फल प्राप्ति, (२) व्यावहारिक औचित्य का परिज्ञान, (३) चतुर्वर्ग-फलास्वाद से भी अधिक

अन्तश्चमत्कार की प्राप्ति। काव्य प्रयोजन की विवेचना के प्रसंग में कुन्तक की यह विशेषता है कि उन्होंने काव्य के मूलभूत प्रयोजनों के स्तर को उदात्त किया और सभी प्रयोजनों में श्रेष्ठ अन्तश्चमत्कार को स्वीकार किया। इस प्रकार कुन्तक ने आनन्दवर्धनाचार्य व अभिनवगुप्त की तरह काव्य के मूल प्रयोजन आनन्द को ही गम्भीर रूप में प्रतिष्ठा की। यह प्रेरणा भी इन्हें आनन्दवर्धनाचार्य से ही मिली। आचार्य महिमभट्ट ने स्वतन्त्रतया काव्य-प्रयोजन के विषय में यद्यपि कुछ नहीं लिखा है, परन्तु वे भी रस को आस्वाद का विषय मानते हैं। भले ही वे इसे व्यञ्जनाव्यापार का विषय न मानकर केवल अनुमान का ही विषय मानकर रस की अनुमति माने, पर वे भी इसे लौकिक विषयों के सुख से उत्कृष्ट एवं सौहृदयैकवेद्य मानते हैं। व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में रस को जहाँ वे साध्य-साधन भाव द्वारा गमार्य मानते हैं, उसी प्रसंग के मध्य में कुछ रस के स्वरूप के विषय में प्रश्नोत्तर-रूप में निर्वचन किया है, इससे प्रतीत होता है कि वे भी काव्य का प्रयोजन आनन्द प्राप्ति ही मानते हैं—

"तत् कोऽतिशय काव्यादौ, यत् तत्रैव रसास्वादो न लोके, इति, प्रयोजनाशासम्भवाद् रत्यादिषु स्थायित्वोपचारोऽनुपपन्न एव"।

"उच्यते—यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकसंवेद्यो रसास्वादोदय इति वस्तुस्वभाव एवायं न पर्यनुयोगपदवीमवतरति प्रामाणिकानाम्"।

तात्पर्य यह है कि रति आदि का अनुमान लोक में भी होता है। वहाँ कोई आनन्दानुभूति नहीं होती, इसके विपरीत वहाँ तो केवल घृणा ही होती है। वे ही तो रति आदि काव्य में हैं, काव्य में उन्हें आनन्दानुभूति का कारण कैसे माना जाता है—

इसके उत्तर में कहते हैं कि—प्रामाणिक पुरुषों को लोक व काव्य की स्थिति पर समान रूप से विचार नहीं करना चाहिए। यह तो एक पारमार्थिक स्थिति है कि रसास्वाद तभी होता है जबकि विभावादि द्वारा भावों का आस्वादन। यह आस्वाद भी एकमात्र उन्हें होता है जो सहृदय होते हैं। आचार्य मम्मट के मतानुसार काव्य के छः प्रयोजन हैं—(१) यश का लाभ, (२) धन की प्राप्ति, (३) व्यवहार ज्ञान, (४) अमंगल निवारण (५) परमानन्द की प्राप्ति, (६) कान्ता के समान उपदेश दान।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

काव्य और यथार्थ

कुछ भारतीय विद्वान् व कुछ पाश्चात्य विद्वान् काव्य को केवल उच्छृंखल कवि-कल्पना मानते हैं। ये लोग एकान्तत काव्यानुशीलन के विपरीत होते हैं इस पक्ष के भारतीय विद्वानों की उक्तियाँ ये हैं—

(१) काव्यालापांश्च वर्जयेत् ।

(२) काव्येन हन्यते शास्त्रम् ।

(३) शास्त्रेषु हीनाः कवयो भवन्ति ।

(क) इन लोगों का कहना है कि काव्य केवल निरर्थक आलापों का भंडार है । इसमे यत्र तत्र ऐसी असत् कल्पनायें होती हैं कि जिन पर एकमात्र विश्वास करना उचित नही है । अतः ऐसी कुकल्पनाओं या ऐसे सम्वादों का अनुशीलन नहीं करना चाहिए जिससे हानि की सम्भावना हो ।

(ख) निरन्तर काव्याभ्यास से बुद्धि कोमल व मन्द हो जाती है, जिससे वह आगे कठिन शास्त्रों में परिश्रम नही कर सकती और न शास्त्रार्थ का कोई लाभ ही उठा सकती है ।

(ग) इस प्रकार जिन लोगों की बुद्धि शास्त्रों में कारगर नही होती प्रायः वे ही कवि होते हैं ।

इसी प्रकार 'प्लेटो' का प्रमुख पाश्चात्य विद्वानों के काव्य पर भी भारी आक्षेप है ।

इन लोगों का कहना है कि ये काव्य एक प्रकार से प्रकृति के ही अनुकरण-स्वरूप है । अनुकरण-परायण कवि सत्य-उल्लेख प्रायः नही करते है । कवियों की ये कृतियाँ भी आध्यात्मिक उपदेश देने में अक्षम हैं । ये लोग जनता की भावुकता व चपलता को ही बढ़ावा देते हैं । कवि केवल हृदयस्थित राग-द्वेष भाव विकारादिकों का उद्‌बोधन, वर्धन व वर्णन करते है । इन सब व्यर्थ के वर्णनो के द्वारा लोगो के विचार के सामर्थ्य का हनन करते हैं । अतः एक सुनियन्त्रित या सुनियोजित राष्ट्र मे कवि के लिए कोई प्रशंसनीय पद नही देना चाहिए, न उसका कोई महत्त्व ही समझना चाहिए ।

प्लेटो महोदय के शिष्य अरिस्टोटल ने अपने गुरु प्लेटो के सभी आक्षेपों का उत्तर बड़ी गम्भीरता के साथ दिया है—

अरिस्टोटल ने अपने काव्यमीमासा के ग्रन्थ 'पोयटिक्स' मे प्लेटो के इस प्रश्न का 'काव्य केवल प्रकृति की अनुकृति है'—उत्तर दिया कि काव्य केवल प्रकृति की अनुकृतिमात्र नही है अपितु कवि हृदय में प्रकृति जिस रूप मे प्रतिभासित होती है उसका रसानुकूल उचित शब्दो के द्वारा वर्णन करना कवि का कर्म है । वैज्ञानिक केवल देखे हुए द्रव्य या पदार्थ के केवल स्वरूप मात्र का वर्णन करता है, परन्तु कवि तो इस विषय में प्रजापति ही है । रस व भाव के अनुकूल जैसा भी उसका मनोभाव होगा वैसे उस पदार्थ का वर्णन करेगा, कवि की दुनियाँ मे निर्जीव पदार्थ भी सजीव हो जाता है, पर्वत वृक्ष आदि भी बातचीत करते है और पत्थर भी रोते हैं । कहा भी है कि—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

प्लेटो ने वियोग, शोक, भयादि अमंगल वस्तु को उद्देश्य करके जो आक्षेप किया है कि ऐसे निकृष्ट वर्णन भी कवि अपने काव्य में करता है ।

इसके उत्तर में अरिस्टोटल का कहना है कि—इस प्रकार के वर्णनों के द्वारा तो सहृदय पाठकों के या दर्शकों के अन्तःकरण में विद्यमान भय, दैन्य, द्वेष व असत् विषय रागादि का निःसारण ही होना है। काव्यानुशीलन से तो एक प्रकार से चित्त का संशोधन ही होता है जिससे चित्त की निर्मलता, शान्ति व आनन्दानुभूति होती है ।

जिस प्रकार होमियोपैथिक सिद्धान्त में विष की दवा विष ही है, इसी प्रकार काव्य भी है जो रागादि के वर्णन या दर्शन के माध्यम से मानव की निखिल कलुषित भावनाओं को दूर कर देता है और धर्म-बुद्धि का प्रसार करता है ।

अतः निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि काव्य मानव-मात्र के कल्याण के लिए है, इसलिए एक समुन्नत व सुनियन्त्रित राष्ट्र में कवि के लिए सर्वोच्च स्थान होना चाहिए ।

काव्य और नैतिकता

काव्य के साथ नैतिकता का क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न को लेकर कुछ पाश्चात्य व भारतीय इस अलौकिक विषय में भी गहरी छानबीन करते हैं ।

कुछ आलोचकों का कहना है कि कला कला के लिए है (आर्ट फार आर्ट सेक) अर्थात् एक कला की दृष्टि से काव्य में फिर नैतिकता या औचित्य पर विशेष ध्यान नहीं देना चाहिए ।

परन्तु भारतवर्ष के आलोचकों का यह स्पष्ट कहना है कि काव्य का उद्देश्य सदा ही नैतिक होना चाहिए । काव्य यदि इस मार्ग को छोड़कर ऐसा वर्णन करता है जिससे पाठक का या श्रोता का मन कुनीति पर अग्रसर हो, तो उस काव्य को हम काव्य ही नहीं समझते । काव्य को हम आनन्द के लिए अवश्य पढ़ते हैं परन्तु इतने मात्र से काव्य की इतिश्री नहीं, अपितु काव्य को जीवन की आलोचना भी समझना चाहिए । एक सत्काव्य से अपने जीवन में यदि कोई ऐसी त्रुटि आ जाती है तो हम उस काव्य के ही आधार पर उसे दूर करने की कोशिश करते हैं ।

कुछ आलोचकों के दूसरे प्रकार के भी आक्षेप हैं—इन लोगों का कहना है कि आप काव्य को जब जीवन का कल्याणकारक मानते हैं जैसा कि काव्यप्रकाश में कहा

"शिवेतरक्षतये" फिर दूसरी तरफ काव्य में नायक व नायिकाओं के ऐसे गुप्त-विषयक कुत्सित वर्णन क्यों करते हैं ? या आलोचनाशास्त्र में अत्यधिक नायक व नायिकाओं के भेद-प्रभेद का वर्णन क्यो करते हो, इतने पर भी काव्य में नैतिकता का दम भरना दम्भ नही तो क्या है ?

इसके उत्तर मे आचार्यो का कहना है कि असलीयत में ये वाते जिस तरह आप आक्षेप कर रहे हैं वैसी हैं नही, काव्य कभी भी अनैतिकता का उपदेश नहीं देता।

नायिकाओं का या धृष्ट नायक आदि का जो चरित्र-चित्रण काव्य मे किया जाता है, वह भी साभिप्राय होता है। इसका तात्पर्य यह है कि आपाततः कही यदि अशिव विषयों का वर्णन काव्य मे मिलता है, तो कवि का तात्पर्य यही है कि पाठक ऐसे विषयों से भी परिचित हो जाएँ, क्योकि यह ससार अनेक प्रकार की वासनाओं का पुञ्जमात्र है। जब तक इन कुत्सित-प्रवृत्तियों से पाठक परिचित नही होगा, तो उसे छोड़ने का प्रयास ही कैसे करेगा, अतः कौन वस्तु हेय है या कौन उपादेय है, यह दिखाना भी कवि का अपना कर्तव्य है। आलोचक-शिरोमणि रुद्रट की यह उक्ति इस विषय में स्पष्ट तथा समुचित है—

नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्या।
कर्तव्यतयाऽन्येषां न तदुपायो विधातव्यः ॥

किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषो न तेन दोषः कवेरत्र ॥

उक्त आक्षेपों का यह सुन्दर उत्तर है कि काव्य जीवन के नाना पक्षों का स्पर्श करता है। ऐसी दशा मे जीवन के इस काव्यपक्ष के वर्णन का अभाव काव्य को सर्वाङ्गीणता से च्युत करा देगा, फलतः ऐसे वर्णन के लिए कवि किसी अपराध का भागी नही होता है।

अतः काव्य का परम लक्ष्य यही है कि वह जीवन के इन नाना पक्षों की व्याख्या करता हुआ संसार के सुन्दर व कुत्सित भावों के संघर्ष मे शिवेतर-क्षति के अर्थात् मंगलकामना के लिए उन त्याज्य भावनाओं या वासनाओं को त्यागकर उपादेय अंश को ग्रहण कर परमानन्द का आस्वाद करे। आचार्य मम्मट के शब्दों मे काव्य का परम प्रयोजन सद्यः परानिर्वृत्ति है।

रस और ध्वनि

रस ध्वनिकाव्य का सर्वोत्तम भेद हैं, जिसे रसध्वनि कहा जाता है। इस ध्वन्यात्मक उत्तम काव्य के भी तीन भेद होते हैं—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकार-

ध्वनि। उत्तम काव्य के इन भेदों को हम आधुनिक भाषा में या मनोविज्ञान के सिद्धान्त के आधार पर भी विभाजन कर सकते हैं, जिन्हें क्रमश भावात्मक आनन्द-रसध्वनि बौद्धिक आनन्द—वस्तु ध्वनि तथा कल्पनात्मक आनन्द—अलंकार ध्वनि कह सकते हैं।

यह रसध्वनि का सारा प्रपंच—रसभाव, रसाभास व भावाभास इत्यादि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत आ जाता है। अभिनव गुप्त ने तो वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि का पायन्तिक पर्यवसान भी रसध्वनि में ही माना है। यही काव्य का सर्वस्व माना है।

इसलिए संक्षेप में रसोन्मीलन प्रक्रिया के विषय में विभिन्न आचार्यों की विभिन्न धारणाओं का स्वरूप थोड़े शब्दों में प्रस्तुत करेंगे।

रस के विषय में विवेचन करने वाला सर्वप्रथम ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र है, जिसमें केवल नाटक की परिधि तक रस का विवेचन मिलता है, इसीलिए इन्होंने रसों को नाट्य रस भी कहा है। भरत ने जिस सूत्र में रस-निष्पत्ति की चर्चा की है, वह इस प्रकार है।

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः"।

अर्थात्—विभाव, अनुभाव व व्यभिचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। उक्त सूत्र की विभिन्न प्रकार की व्याख्यायें विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से की हैं, जिसमें विशेष कर "संयोगात्" और "निष्पत्ति" इन दो पदों के विषय में परस्पर विरुद्ध व्याख्यान हैं जिन्हें हम यथावसर दिखलाने की कोशिश करेंगे।

इस समय प्रसंगवश यह दिखलाने जा रहे हैं कि काव्य में रस की स्थिति आनन्दवर्धनाचार्य से पहले क्या थी, और उसके बाद क्या रही।

भामह

जिस प्रकार रस के विषय में भरत का दृष्टिकोण अभिनयपरक था, उसी प्रकार भामह का दृष्टिकोण काव्यपरक है। यद्यपि काव्य शब्द के व्यापक अर्थ में उन्होंने गद्य, पद्य व दृश्य आदि सभी भेदों का ग्रहण किया है, तथापि विवेचन की दृष्टि से वे दृश्य वर्ग को इससे अलग ही रखना चाहते हैं, जैसा कि उन्होंने निर्देश किया है।

"उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः। (का १/२४)

अर्थात् नाटकादि के भेदों का वर्णन विस्तार के साथ अन्य आचार्यों-भरतादियों ने कर दिया है, उसके विषय में ज्यादे कुछ नहीं कहना है, हमें तो सर्गबन्ध, सालंकार पंच-सन्धि-युक्त महाकाव्यों के विषय में ही कुछ कहना है, जहां समस्त रसों का विधान रहता है "युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्"। इस प्रकार भामह रस-चेतना से

अत्यन्त अपरिचित तो नही हैं, परन्तु अलंकारों के सन्दर्भ को ही काव्य का आकर्षण मानते हैं। अतः रस अलंकार में ही वे शृंगारादि रसों का अन्तर्भाव कर देते हैं। जैसा कि इसका लक्षण किया है—

"रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम् ।

इस प्रकार भरत से भामह का विचार-साम्य नही है। भरत जहाँ रसानुभूति को सब कुछ समझते हैं, वहां भामह का दृष्टिकोण वस्तून्मुख उत्पत्तिवादी है। रस-निष्पत्ति के लिए भरत को विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव तीनो की अपेक्षा है वहां भामह केवल विभाव से ही रसोदय मान लेते हैं। ये पण्डितराज के उस पक्ष में आते हैं, जिसमें उन्होंने "भाव्यमानो विभाव एव रसः" ऐसा उल्लेख किया है।

दण्डी

दण्डी की रस चेतना भामह की अपेक्षा कुछ जागरूक है। वे एक आचार्य ही नही अपितु एक रस सिद्ध कवि भी हैं। दण्डी के अनुसार काव्य के दो मार्ग हैं—वैदर्भ और गौण, इनमें से इन्हें दशगुण वाला वैदर्भ मार्ग ही अभीष्ट है। मधुर गुण व प्रत्येक अलंकार दण्डी की दृष्टि में अर्थ में रस सञ्चार करता है।

वामन

वामन ने दण्डी की रूप-रेखा व सामग्री को उपादान रूप मे लेकर उसका परि-मार्जन किया। इन्होंने एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि काव्य की आत्मा के रूप में रीति की घोषणा कर दी और कान्ति नामक गुण में सभी रसों का समावेश कर दिया। वामन के हाथों में आकर रस अलंकार क्षेत्र से निकालकर गुणो की परिधि में आ गया। अब रस का अलंकारों से वाह्य सम्बन्ध न होकर, गुणो से आंतरिक सम्बन्ध हो गया, पर रस की अभी भी वस्तुनिष्ठता दूर नहीं हुई। वामन यद्यपि रस के स्थान-निर्धारण के प्रति सावधान रहे, परन्तु रस के स्वरूप-विवेचन के विषय में मौन हैं।

इस प्रकार ये अलंकारवादी आचार्य रस को एक पदार्थ के रूप मे ही देखते रहे, न कि चेतना की दृष्टि से। सहृदय की अनुभूति के विषयी-परक पक्ष पर ये दृष्टि नहीं ले गये, काव्य के व्यंजन व्यापारसे भी ये लोग अपरिचित ही हैं। काव्य के मूल चारुत्व को गुण, अलंकार व रीति में ही खोजते हैं।

ध्वनि-पूर्ववर्ती भरतसूत्र के टीकाकार

भट्टलोल्लट—

भट्टलोल्लट एक उत्पत्तिवादी आचार्य हैं। रस के विषय में ये अपने से पूर्व चली आती हुई परम्परा का ही अनुसरण करते हैं। जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है—

"चिरन्तनानां चायमेव पक्षः तथाहि दण्डिना स्वालङ्कारलक्षणेऽभ्यधायि इत्यादि"

(अभिनवभारती)

रस के सम्बन्ध मे हमारे सामने तीन समस्यायें आती हैं। एक मूल अनुकार्य (पात्र) की, दूसरी अभिनेता (नट) की तीसरी दर्शक (सामाजिक) की, अब लोल्लट रस की स्थिति किस मे मानते हैं मम्मट के काव्यप्रकाश मे समुद्धृत व्याख्या के अनुसार भट्टलोल्लट रस को मुख्यत अनुकार्य मे उत्पन्न मानते हैं, सामाजिक नट मे रामादि का अनुसंधान कर लेने से नटगत रूप मे प्रतीत होता है। अभिनवभारती के अनुसार भट्टलोल्लट रस को अनुकार्य व अनुकर्ता दोनो मे मानते हैं।

"स चोभयोरपि, अनुकार्ये, अनुकर्त्तरि अपि चानुसंधानबलात्।"

(अभिनवभारती)

नट मे रस कैसे उत्पन्न होता है? इसका कारण बतलाया है कि नट अपने मे राम-दुष्यन्तादि तथा नटी अपने मे सीता शकुन्तलादि के तद्रूपतानुसंधान करते हैं। अर्थात् नट व नटी अपने को उक्त राम, दुष्यन्त व सीता शकुन्तला से अभिन्न समझ लेते हैं। मम्मट के अनुसार सामाजिक नट को उसके अभिनय कौशल के कारण रामादि के रूप मे ग्रहण करता है, इसका फल यह होता है कि उसे अनुकार्यगत वास्तविक रस नटगत रूप मे प्रतीत होने लगता है। अत अभिनयकला मे 'तद्रूपतानुसंधान' का एक विशिष्ट स्थान है, सामाजिक जब नट मे रामादिरूपता का अनुसंधान करता है, तो वह मूल राम व नट का भेद भूल जाता है। आज के सिने-मञ्चो पर तो यह अभेद कल्पना और भी गहरी होती है। बिना इस अभेद भावना के सामाजिक की प्रतीति आगे बढ़ नही सकती। लोल्लट ने कला का यह एक सत्य हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

शंकुक—

शंकुक का रस सिद्धान्त अनुमानवाद पर आधारित है। इनकी मान्यता है कि ये रत्यादि भाव मूल रामादि पात्रो मे ही होते हैं, नट इनका अनुकरण करता है। नट द्वारा यह अनुक्रियमाण रत्यादि स्थायी ही 'रस' है। सामाजिक विभावादि लिंगो के द्वारा इनका अनुमान करता है सामाजिक की यह अनुमानात्मक प्रतीति ही रस है सामाजिक राम का अभिनय करने वाले व्यक्ति को नट समझते हुये भी नट रूप मे उसे ग्रहण नहीं करता है। अथवा उन अनुभूति के क्षणो मे सामाजिक चेतना, दम विवेक एवं पर्यालोचन की ओर जाती ही नही। चित्र मे बने घोडे को हम केवल कुछ रग रेखाओं का खेल जानते हुए भी घोडा ही समझते हैं "चित्रतुरगन्याय" से सामाजिक नट को नट जानते हुए भी नट न मानकर रामरूप मे ग्रहण करता है। कला के क्षेत्र मे यह यथार्थ के ऊपर कल्पना की विजय है। अतः यह लौकिक—सम्यक्, मिथ्या, संशय व सादृश्य प्रतीतियो से एक विलक्षण ही प्रतीति होती है।

इस प्रकार मूल पात्र के भाव का नट द्वारा अनुकरण करना व सामाजिक द्वारा उसकी अनुमानात्मक प्रतीति करना ही रसानुमिति है।

सांख्यवादी व्याख्या—

अभिनव गुप्त ने शंकुक के बाद एक सांख्य-सिद्धांतपरक रस की व्याख्या की है, जो इस प्रकार है—

सांख्य दर्शन के अनुसार वाह्य विषय सामग्री स्वतः सुख-दुःख व मोहमय है। यही सामग्री भोक्ता के अन्तःकरण में सुख-दुःखादि भावों को उत्पन्न करती है, यही सुख-दुःखादि भाव ही रस हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। ये सत्त्व, रज व तम सुख-दुःख, मोह, स्वभाव वाले हैं।

प्रत्येक पदार्थ भोक्ता के अन्तःकरण में सुख-दुःख मोह को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। जैसे एक ही रमणी अपने प्रिय के लिए सुखदायिका हो सकती है, और सपत्नियों के लिए दुखदायिका हो सकती है और अन्य के लिए मोहदायिका हो सकती है। इस प्रकार वाह्य पदार्थ सुख-दुःख मोहरूप होते हैं और भोक्ता के अन्तः-करण में सुख-दुःख मोह उत्पन्न करने की क्षमता भी रखते हैं। सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार कोई नई चीज उत्पन्न नहीं होती अपितु पूर्वतः विद्यमान तत्त्वों की अभिव्यक्ति ही होती है। अतः सुख-दुःख उत्पन्न होने का अर्थ है—अन्तःकरण के सुख-दुःखों का वाह्य सामग्री के सम्पर्क में आकर अभिव्यक्त हो जाना।

इस दार्शनिक व्याख्या के अनुसार वाह्य सामग्री को सुख-दुःख-मोहस्वभावा तथा सुख-दुःख-मोह-जननशक्ति-युक्ता कहा है। यही वाह्य सामग्री उसका रस है। यहाँ इस व्याख्याकार ने रस को वनस्पति के दलों के निष्यन्द के समान बतलाया है। इसमें विभाव दल-पत्रस्थानीय हैं, अनुभाव व व्यभिचारीभाव संस्कार स्थानीय हैं, इन वाह्य सामग्री से निष्पन्न निष्यन्दरस स्थानीय है।

"सुख-दुःख जननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव, सांख्यदृशा सुख-दुःख स्वभावा रसः, तस्यां च सामग्र्यां दलस्थानीया विभावाः, संस्कारका अनुभावव्यभि-चारिणः, स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुख-दुःखस्वाभावा इति।"

उक्त व्याख्या अपने युगसीमा में आवद्ध है। केवल रंगमंच तक ही सीमित भी है—"विषय सामग्री वाह्यैव रसः" इतने में सिमिट कर रह जाती है। परन्तु इसका अपना ऐतिहासिक महत्व भी है कि भट्टनायक से पूर्व भी रस की व्याख्या सांख्यदर्शन के दृष्टिकोण से हो चुकी थी।

आनन्दवर्धनाचार्य

रसविषयक चर्चा जब वस्तुवादी दृष्टिकोण से अपेक्षाकृत उदारावस्था में आ चुकी थी, अर्थात् भरत के टीकाकारों के बीच रस पर जब गम्भीर विचार प्रारम्भ हो

गया था, एसे ही समय मे आनन्दवर्धन की कृति ने काव्य समीक्षा क्षेत्र मे एक नई चेतना व क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। जिस प्रकार नाट्यशास्त्र के रूप में अभिनय का एक सुदृढ शास्त्र उपस्थित था, उसी प्रकार श्रव्यकाव्य या पठ्यकाव्य का भी एक अपना (काव्यशास्त्र) ध्वन्यालोक के रूप मे सामने आया। इसका फल यह हुआ कि अब रस के समीक्षकों के सामने नाट्यरस मे नही, बल्कि काव्यरस पर भी विचार होने लगा। रस विवेचन मे विषयपक्ष की अपेक्षा विषयि-पक्षीय दृष्टि का अधिक उन्मीलन हुआ। सहृदयगत रस का वास्तविक विश्लेषण भट्टनायक से प्रारम्भ हो जाता है। ध्वनिपूर्वीय आचार्यों मे विवेचन की यह गम्भीरता नही दिखाई पडती है।

आनन्दवर्धन ने रस स्वरूप पर पृथक् से विचार प्रस्तुत नही किया, न उन्हें इसकी आवश्यकता ही थी, क्योकि रस स्वरूप के विषय मे भरत के टीकाकार पर्याप्त विचार कर चुके थे, यह दूसरी बात है कि वे रस को सर्वथा व्यञ्जनावृत्तिगम्य न मानकर भाव्य-उत्पाद्य या अनुमेय मानते हैं, रस की सामग्री विभाव-अनुभाव व सचारी, भाव मे या रस निष्पत्ति मे किसी का विरोध नही था। समस्या यही थी कि रस को किस व्यापार से अभिव्यक्त माना जाय, और कैसे रस को व्यङ्ग्य माना जाय, इसको उत्पाद्य व अनुमेय कोटि से कैसे उन्नत किया जाय, इन्ही सब समस्याओ के समाधान के लिए उन्होंने ध्वन्यालोक जैसे युगान्तरकारी ग्रथ का प्रणयन किया। ध्वनि सिद्धान्त के आधार पर व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना की और ध्वनि नामक उत्तम काव्य के तीन भेद किये। रस, वस्तु, अलकार इन तीनो प्रकारो का आधार व्यजना है, ये रस वस्तु व अलकार इसी व्यजना व्यापार द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। इसी अभिव्यक्तिवाद का खडन व्यजना विरोधी भट्टनायक ने किया था। जिसका उल्लेख ध्वन्यालोक की लोचन टीका मे अभिनवगुप्त ने पूर्वपक्ष के रूप मे इस प्रकार रखा है—

'तत्र उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्ति शक्तिरूपस्य हि शृगारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जन-तारतम्यप्रवृत्ति स्यात्, तत्रापि कि स्वगतोऽभिव्यज्यते रस, परगतो वेति पूर्ववदेव दोष तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते काव्येन रस। किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्य काव्यात्मन शब्दस्य त्र्यशताप्रसादात् तत्राभिधायकत्व वाच्यविषयम्, भावकत्व रसादि-विषयम, भोगकृत्व सहृदयविषयमिति त्रयोऽशभूता व्यापारा"।

सम्भवत आनन्दवर्धन के इसी अभिव्यक्तिवाद का, जिसका आदर्श घटप्रदीप न्याय प्रतीत होता है। पूर्वोक्त रीति से भट्टनायक खण्डन कर गये, बाद मे इस घट-प्रदीप न्याय मे भी कुछ परिवर्तन हुआ, जैसा कि विश्वनाथ के साहित्यदर्पण मे हमे रसस्वरूप विवेचन के प्रसग मे मिलता है।

'व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो, न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते।"

अब घटप्रदीप न्याय के स्थान पर दध्यादि न्याय की स्थापना की गई।

इस अभिव्यक्तिवाद की स्थापना हो जाने पर भी ध्वनिवादी के सामने रस के प्रसङ्ग मे अभी (काफी अड़चनें) वहुत सी समस्याएँ विद्यमान थी। रस को स्वगत माना जाय या परगत और साधारणीकरण सिद्धांत के प्रश्नों को भी कैसे सुलझाया जाए, सम्भवत. आनन्द वर्धन के समय तक ये प्रश्न इतने उलझे न हों, और रसस्वरूप-विवेचन की प्रक्रिया के साथ-साथ ही भट्टलोल्लट का तद्रूपतानुसंधान व शंकुक का चित्र तुरगन्याय पूर्वपरम्परा से चले ही आ रहे थे और किसी न किसी रूप मे यह साधारणीकरण सिद्धान भी उस समय सम्भवत: विद्यमान था, परन्तु यह भाषा की अभिधा शक्ति मे ही सीमित था। अर्थात् ये प्राचीन आचार्य यह मानकर चलते थे कि काव्य या नाट्य मे ये राम-सीता आदि की लौकिक या वास्तविक स्थिति तो 'असाधारण" ही होती है, किन्तु काव्य शब्दों के वीच आकर वह "साधारण" सी हो जाती है। इसलिए लोग इसको "साधारणीकरण" कहते हैं। इस प्रकार व्यंजना व्यापार या रसाभिव्यक्ति के अन्तर्गत आने वाले इन अवान्तर प्रश्नो पर ध्वनिकार का शायद विशेष ध्यान न गया हो, क्योंकि उस समय सवसे वड़ी विपत्ति ध्वनि के उस विशाल वैभव पर थी, जिसका एक-एक अंश लुप्त होने जा रहा था, इसी ध्वनि की महासमृद्धि के लिए आनन्दवर्धन का सारा प्रयास था। इसी स्वरूप के सस्थापन में उन्होने अपनी शक्ति का व्यय किया। जो कुछ भी हो इसमे कोई सन्देह नही कि आनन्दवर्धन की कृति ने रससमीक्षा या काव्यसमीक्षा को अभीष्ट गन्तव्य स्थान पर पहुंचने का सुगम मार्ग दिखलाया।

ध्वनि-परिवर्ती युग

ध्वनि स्थापना के वाद या ध्वनिपरवर्ती युग मे भरत के टीकाकारों मे हमें सर्वप्रथम भट्टनायक उपलव्ध होते हैं। भट्टनायक की भरतसूत्र पर स्वतन्त्र व्याख्या इस समय उपलब्ध नही है उद्धरण के रूप में अभिनव भारती व लोचन में इनके सिद्धांत हमें देखने को मिलते हैं। रस के विषय में काव्यप्रकाश में भी इनके मत का सारांश वर्णित है। ये व्यजना व्यापार के विरोधी थे। इसके लिए इन्होंने 'ध्वनिध्वंस' नामक एक स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना की थी, जिसे "सहृदयदर्पण" भी कहते हैं। परन्तु सम्प्रति यह ग्रंथ उपलव्ध नही है। भट्टलोल्लट की तरह भट्टनायक भी अभिधावादी हैं परन्तु काव्य में भट्टनायक अभिधा के अतिरिक्त दो भावकत्व और भोजकत्व नामक व्यापार अधिक मानते हैं।

रसोन्मीलन प्रक्रिया मे न तो आप रस की उत्पत्ति मानते हैं न प्रतीति, और न ही अभिव्यक्ति। अपितु अभिधा व्यापार द्वारा वाच्यार्थोपस्थिति होने पर भावकत्व व्यापार के द्वारा रस भावित हो जाता है। तदनन्तर उस भावित रस का भोगकृत्त्व व्यापार के द्वारा भोग होता है।

इस द्वितीय भावकत्व व्यापार के अन्तर्गत, भाषा का काव्यात्मक भावप्रवण प्रयोग (रीतिगुणअलकारादि सस्कृत) विभावादि का साधारणीकरण और प्रमातृ-चेतना का मोहसकटता निवारण (अर्थात् सहृदय सामाजिक हृदयस्थ—परिमित भाव) आदि सभी बाते इसी भावकत्व व्यापार मे आ जाती है।

विभावादि के साधारणीकरण का अर्थ यह है कि काव्य शब्दों के द्वारा जो विभावादि उपस्थित किये जाते हैं वे अभिधा की सीमा मे "असाधारण" ही होते हैं। उनका स्वरूप "विशेष" ही होता है, पीछे भाषा के कलात्मक प्रभाव के फलस्वरूप साधारणीकृत हो जाते हैं। साधारणीकृत हो जाने का मतलब उनका व्यक्तित्व ही समाप्त नहीं हो जाता हो ऐसा नही, अपितु वे प्रमाता (सामाजिक) के द्वारा साधारण रूप मे ही ग्रहण किए जा सकने योग्य हो जाते हैं। साधारण रूप मे ग्रहण किए जाने का अर्थ है—उन्हे किसी अपने या पराए के विशेष सम्बन्धो के साथ न अपनाया जाना, यह साधारणीकरण विषय व विषयी दोनो का होता है।

विषय पक्ष मे—विभाव, अनुभाव व सञ्चारी भाव आते हैं।

विषयि-पक्ष मे—प्रमाता, उसके भाव तथा उसकी भावानुभूति।

अभिनव भारती के अनुसार भट्टनायक ने इस बात को सूचना इस प्रकार दी है—

"निबिडनिजमोहसकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणी-करणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसविद् विश्रान्ति-लक्षणेन परब्रह्मस्वादसवधेन भोगेन पर भुज्यते'

इसका तात्पर्य यह है कि भट्टनायक मोहसकटता-निवारण को तो भावकत्व व्यापार से मानते हैं, किन्तु चेतना के सत्वोद्रेक को भोगकृत्व से। वैसे तमस् का उपशम और सत्व का उद्रेक वे एक ही क्रिया के दो पहलू हैं किन्तु भट्टनायक दोनो मे अन्तर करके चलते हैं।

इनके अनुसार "मोह सकटता-निवारण एक अभावात्मक निषेधरूप (नेगेटिव) प्रतिक्रिया है। जब कि "सत्वोद्रेक" एक भावात्मक विधिरूप (पोजेटिव) प्रक्रिया है।

वेदान्त मे भी इसी तरह का उदाहरण मिलता है—अन्धकार मे रखे हुए घट को दीपशिखा प्रकाशित करती है, इसमे सर्वप्रथम दीप प्रकाश द्वारा अन्धकार का नाश करता है, और दूसरी बात यह है कि घट का प्रकाशन भी करता है। पहला व्यापार ध्वसात्मक होता है, दूसरा भावात्मक।

यहाँ एक प्रश्न यह है कि रामचरित या सीतादि के चरित्र चित्रित करने वाले काल मे प्रमाता की स्वगत प्रतीति तो हो नही सकती है जब सीता के प्रति स्वगत रस की प्रतीति ही नही होती है तो फिर सीतादि सामाजिक के लिए विभाव कैसे होगे?

विना विभाव के भावोदय का होना ही असम्भव है। अभिनवभारती में इस बात को इस प्रकार कहा है—

"न च सा प्रतीतिर्युक्ता, सीतादेरविभावत्वात्, स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात् देवतादौ साधारणीकरणस्यायोग्यत्वात्, समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्, सा चायुक्ता सीतायाः सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्, कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत् —देवतादौ तदपि कथम्"

"तस्मात् काव्ये दोषाभाव गुणालंकारमयत्वलक्षणेन, निविडनिजमोहसंकटता-निवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो भोगेन परं भुज्यते"।

सीतादि जैसे श्रद्धेय पात्रों मे, देवतादि के अद्भुत चरित्रों में, रामादि के समुद्रलंघनादि में अलोकसामान्य जो कार्य हैं, इनमें जनसामान्य की अनुभूति के लिए साधारणीकरण का अवकाश ही कहाँ है।

तस्मात् भट्टनायक के परिष्कृत साधारणीकरण व्यापार द्वारा जो कि भावकत्व व्यापार के अन्तर्गत है, प्रमातृचेतना का मोह संकट का निवारण हो जाता है। इस प्रकार इस भावित स्थायी —जो कि रस रूप में परिणत हो रहा है, जिसके भोग के लिए प्रशस्त अवकाश है, भोगकृत्व या भोजकत्व व्यापार द्वारा उसका भोग होता है।

"भाविते च रसे तस्य भोगः"

यहां भावकत्व व्यापार व साधारणीकरण ये पर्यायवाची शब्द नहीं हैं, किन्तु साधारणीकरण एक प्रकार से भावकत्व व्यापार का अङ्ग है। वैसे भावकत्व व्यापार के अन्तर्गत तीन बातें आती है—

(१) भाषा व भाव का कलात्मक प्रयोग, दोषाभाव व गुणालंकार का उपादान, दृश्य में चतुर्विध अभिनय या अभिनय कलाकौशल।

(२) विभावादि का साधारणीकरण यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, इसे भावकत्व की आत्मा कह सकते हैं।
"विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण।"

(३) निजमोहसंकटतानिवारण—प्रमातृचेतना के मोहावरण का विनाशकारी, यह मोह संकटनिवारण एक प्रकार से भावकत्व व्यापार या साधारणीकरण का फल है।

भट्टनायक ने रस के इस भोग को ब्रह्मस्वादसंविद्य या ब्रह्मस्वादसहोदर कहा है। चित्त दो प्रकार के हैं—एक रजस्तमोनुविद्ध-सत्त्वोद्रेकी चित्त, दूसरा विश्रांत संविद् का। रस दशा को भट्ट नायक परा या शुद्धसंविद् नहीं मानते हैं। वे काव्यानुभूति वैषयिक-संस्पर्श स्वीकार करते हैं फलतः रस भोग ब्रह्मानन्द न हो कर ब्रह्मानन्द-सहोदर ही है।

अभिनवगुप्त

रस विवेचन के प्रसग में अभिनवगुप्त की प्रक्रिया सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। परवर्ती युग उन्हे ही आदर्श मानकर चलता है। अभिनव एक महान् काव्यशास्त्री आचार्य ही नही अपितु वे एक महान दार्शनिक तथा सर्वोच्च साधक भी थे। उत्पल के प्रत्यभिज्ञा सिद्धात को एक महान् दर्शन का रूप देने का श्रेय इन्ही को है। इसी अद्वैत शैव-दर्शन की छाया मे इन्होने काव्य-रस की व्याख्या करके उसे चरम-प्रतिष्ठा प्रदान की है।

शैव दर्शन के अनुसार आनन्द का मूल 'सविद विश्रान्ति' है। जब चित्त की वहिर्गामिता रुककर विश्रान्त अवस्था होती है इसी मे आनन्द की सभावना हो जाती है। इस दृष्टि से ब्रह्मानन्द या काव्यानन्द व विषयानन्द मे स्वरूपत कोई भेद नही होता है भेद केवल प्रक्रिया और विश्रान्ति की मात्रा का रह जाता है।

वैषयिक आनन्द मे आत्म परामर्श मे विषयो का व्यवधान रहता है। काव्यानन्द मे उसका साक्षात् व्यवधान तो नही रहता, तथापि उनके सस्कारो का अनुवेध तो होना ही है, किन्तु ब्रह्मानन्द मे तो शुद्ध सवेदनरूपता होती है, स्वतन्त्र चित्त का पूर्ण-परामर्श होता है।

अत यही परमानन्द है, या सच्ची निवृत्ति है। अभिनवगुप्त के अनुसार इन आनन्दो की कोटियो का थोडा सा परिचय यहाँ दिया जाता है—

वैषयिक आनन्द या विषयानन्द—

जैसे कोई एक क्षुधार्त व्यक्ति है, वह अन्न की चिन्ता मे लीन है, उसकी बुद्धि मे सिवाय रोटी के और कुछ नहीं दीखता है। जब उसे रोटी मिल जाती है तो उसका पेट भर जाता है, उसकी अपूर्णता समाप्त हो जाती है। अब उसकी चेतना को आत्म-परामर्श का अवसर मिल जाता है। वह उसे आनन्दोपलब्धि हो जाती है, यह आनन्द उसके आत्म परामर्श का है, जो कि उसे रोटी से मिला है, अब आगे चलिए, जैसे ही उसकी चेतना एक क्षण के लिए आत्म परामर्श कर सकी वैसे ही उसकी दूसरी भूख जाग उठी, दूसरे अभावो की ओर चेतना मुड गई पेट की भूख न सही, पर सस्कार रूप से न जाने कितने विषयो की अभिलाषाये उसमे सन्निहित हैं। अब तत्तत् विषयो के इन अभावो की ओर बढ जाने के कारण क्षुधा-तृप्ति से हुआ आत्म परामर्श-जन्य आनन्द कभी परमानन्द की कोटि तक पहुँच ही नहीं सकता, फिर यहाँ जो कुछ भी आनन्द का अंश है वह स्वात्मपरामर्श से ही है। यही हाल समस्त वैषयिक आनन्दो का है। उसमे अन्य विषयो की अकाड्क्षा का पूर्णरूप से अभाव ही है और न आनन्द का स्थायी रूप से लाभ ही है।

काव्यानन्द—

यह विषयानन्द से विलक्षण है। वैषयिक आनन्दो मे चेतना दूसरे विषयों की ओर दौडती है, काव्यानन्द की अनुभूति मे किसी भी विषय के अर्जन-विसर्जन की बात ही नही

होती है। इसलिए इसे 'वीतविघ्ना' कहा जाता है परन्तु यह भी परमानन्द की कोटि में नहीं होती है। कारण यह है कि इस प्रतीति में दो भाग होते हैं—एक प्रकाश-मयी संविद् का दूसरा चित्तवृत्तियों का प्रकाश भाग वेद्य विश्रान्त होता है और व्यवस्थित होता है। चित्तवृत्ति भाग में हृदय तत्त्व की प्रधानता होती है। इसी में रस प्रतीति भी होती है। अतएव इसे "सहृदयता" भी कहा जाता है। सहृदयता कहने से यह स्पष्ट है कि इसमें प्रकाश तत्त्व की अपेक्षा हृदय तत्त्व प्रधान है। इस प्रकार विषय संस्कारों का अनुवेद्य होने के कारण काव्यानन्द भी परमानन्द की कोटि तक नहीं पहुंच पाता।

परमानन्द या ब्रह्मानन्द—

इसमें विषयता का स्पर्श भी नहीं होता है, शुद्ध संवेदनरूपता ही होती है। 'स्वतंत्र' या चित् का एक-घनता से इसमें परामर्श होता है। यह पूर्ण स्वात्म-परामर्श ही परमानन्द कहलाने योग्य होता है।

अतः अभिनव के अनुसार यह संविद् विश्रान्ति ही आनन्दका मूल मूल है, इस विश्रान्ति की एक मात्र प्रयोजिका है आत्म-परामर्शरूपता। आत्म परामर्श के द्वारा संविद् की यह विश्रान्ति विभिन्न भूमिकाओं में हो सकती है। विषयों की भूमिका में भी, भावों की भूमिका में भी, और निज-चित्-स्वभाव की भूमिका में भी। इनमें से भावों की भूमिका में होने वाली संविद् विश्रान्ति ही काव्य का रस है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार भावों की भूमिका में आत्मपरामर्श होने से जो संविद् विश्रान्ति होती है, वही 'रस' है। यद्यपि इन भावों का अनुभव हम दैनन्दिनीय जीवन में करते ही हैं, परन्तु शुद्ध साधारणीकृत भावो की भूमिका मे, जब कि भाव स्व और पर के सम्बन्ध से असंयुक्त हों, ऐसे स्व-पर सम्बन्ध-विशेषरहित भाव भूमिका में जब आत्मपरामर्श से, जो संविद् विश्रान्ति होती है वही रस है।

ऐसे भावभूमिका मे विश्रान्त-संविद् रूप रसानुभूति का अधिकारी 'सहृदय' होता है। यह सहृदय कुछ विशेष योग्यताओं से विशिष्ट व्यक्ति होता है। काव्य सामग्री के द्वारा उद्बुद्ध शुद्ध भाव भूमि मे आत्म-परामर्श की क्षमता ही वस्तुतः उसकी सहृदयता है।

यह सहृदय एक विशिष्ट नैतिक धरातल का व्यक्ति होता है। नाट्य में गीत-वाद्य-गणिका आदि का प्रयोग भी होता है। अनैतिक दर्शक के मन में इनसे कुत्सित वासनायें भी उद्बुद्ध हो सकती हैं, काव्यनाट्य उन्हीं व्यक्तियों पर निर्मल प्रभाव छोड़ सकते हैं, जिनका मानसिक धरातल नैतिकता-पूर्ण हो।

रसानुभूति के लिए सहृदय में दो बातें और अपेक्षित हैं—एक तो उसकी चेतना अन्य सांसारिक भावों से विनिवृत्त हो, दूसरे काव्य की सामग्री से उसका स्वगत या परगत सम्बन्ध नहीं जुड़ना चाहिए। "निजसुखादिविवशीभाव और नियमेन देश-कालादिविशेषावेश" ये दोनों रसप्रतीति के विघ्न होते हैं।

साधारण भावों को अभीष्ट भूमि तक पहुँचने के लिए जिस प्रकार प्रमाता सामाजिक एक विशिष्ट स्तर का व्यक्ति चाहिए उसी प्रकार रस की सामग्री भी रसोपयोगिनी होनी चाहिए। सहृदय को रस की भूमिका तक पहुँचाने के लिए इस वस्तु-पक्ष का भी महत्त्व कुछ कम नहीं है।

विषय-सामग्री हमारे सामने दो रूपों में आती है—एक तो दुष्यन्त-शकुन्तला, राम-सीता आदि और उनकी परिस्थितियाँ दूसरे नट, उसकी वेशभूषा, रंगमञ्चीय-उपकरण, गीत वाद्य, नृत्य आदि, प्रथम प्रकार की सामग्री को हम सुविधा के लिए 'मूल सामग्री' कह सकते हैं और दूसरे प्रकार की सामग्री को "नटादि सामग्री"

श्रव्यकाव्य में दूसरी प्रकार की सामग्री का स्थान—काव्य शब्दों की विशिष्ट-सज्जा, भाषा का लालित्य दोष-हानि, गुणालंकार योजन आदि,-जैसा कि लोचन में भी कहा है—"काव्येऽपि च लोक-नाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेना लौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता"।

मूल सामग्री का धरातल लौकिक है, लौकिक धरातल पर किसी भाव से सम्बद्ध सामग्री को, कारण कार्य—व सहकारी कारण ही कहा जाता है और यही मूल सामग्री जब काव्य में या नाट्य में दूसरे नटादि रूप में उचित वेशभूषा व गीत-वाद्य के साथ प्रस्तुत होती है तो वह क्रमशः विभाव, अनुभाव व सञ्चारी भाव का रूप धारण कर लेती है।

तब काव्य द्वारा प्रादुर्भूत अलौकिक व्यापार से (या व्यंजना व्यापार से) चैतन्य के अन्य स्थूल आवरण निवृत्त हो जाते हैं, (यदि कोई आवरण है तो वह काव्य सामग्री के द्वारा डाला हुआ अपना है,) जैसे आधुनिक कलावादी कहना है कि कला पर कोई प्रतिबन्ध नहीं, उसके कोई नियम नहीं, यदि कोई प्रतिबन्ध है तो उसके अपने, कोई नियम है तो उसके अपने हैं) इसीलिए तो मम्मट भी कविभारती को "नियतिकृतनियम-रहिता" और "अनन्यपरतन्त्रा" कहते हैं। इस प्रकार उत्तम व्यापार द्वारा चैतन्य के सभी आवरण निवृत्त हो जाते हैं, यदि कोई आवरण शेष है तो वह विभावादि सामग्री द्वारा विभावित है। अथवा अभिव्यक्त स्थायी भावों का है।

इस प्रकार मुक्तहृदय न कि निर्हृदय प्रमाता की चेतना द्वारा गृहीत या विषयी-भूत रत्यादि ही रस कहलाते हैं।

ध्वनि-ध्वंस सम्प्रदाय या ध्वनि-विरोधी आचार्यों का रस विषयक मन्तव्य—

रस के विषय में पूर्वोक्त विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र के टीकाकारों की परम्परा में सम्पन्न हुआ है।

अब आगे इसी युग से सम्बद्ध ध्वनि की प्रतिक्रिया में निर्मित प्रौढ़ग्रन्थों से उन ग्रन्थकारों के रसविषयक मन्तव्य को संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे। इस युग में ध्वनि की प्रतिक्रिया के रूप में जिन आचार्यों ने रस का विश्लेपण किया है, इनके प्रमुख नाम हैं—धनञ्जय एवं धनिक, कुन्तक और महिमभट्ट।

यद्यपि ये आचार्य अभिनव की समुन्नत तथा उदार रस चेतना के सामने अपना कोई वैशिष्ट्य नही रखते, तथापि ध्वनि के विरोध में अर्थात् व्यंजना व्यापार के बिना भी आनन्दघनस्वरूप रस आस्वाद में किसी प्रकार का अन्तराय नही आता है। सहृदय किस तन्मयता के साथ इनके द्वारा अपनायी गई नई प्रक्रिया से रस का आस्वाद कर लेता है। इस प्रकार के विशिष्ट प्रतिभा के प्रकार का दिग्दर्शन कराना भी काव्य-मीमांसा के प्रसंग में कोई अनुचित नही है। अतः संक्षेप में उक्त आचार्यो का रस-विषयक विचार प्रस्तुत करेंगे—

(१) धनञ्जय एवं धनिक—

धनञ्जय दशरूपक के कर्ता हैं, धनिक दशरूपक के टीकाकार हैं, इनकी टीका का नाम "अवलोक" है। दशरूपक को समझने के लिए अवलोक एक महत्वपूर्ण टीका है, डा० काणे के अनुसार दशरूपक की रचना दशम शती के अन्तिम दशकों में हुई तथा अवलोक की रचना एकादश शती के प्रथम दशकों में।

धनञ्जय एवं धनिक भट्टनायक से अत्यन्त प्रभावित हैं, वे उन्ही के समान व्यञ्जना का विरोध करते हुए काव्य तथा रस में भाव्य-भावक सम्बन्ध मानते हैं—

"अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्य-व्यजकभावः, किं तर्हि भाव्य-भावक सम्बन्धः। काव्यं हि भावकं, भाव्याश्च रसादय." । (दशरूपकावलोक च०)

रस के स्वरूप का जहाँ तक प्रश्न है, वहां ये भी दार्शनिक पदावलियों का प्रयोग करते हैं—**"विभावानुभावव्यभिचारिसात्विकैः श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादि स्वादगोचरतां निर्भरान्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः"** इस प्रकार इनके मत में 'निर्भरानन्दसंविदुन्मीलनरूप' ही रस है। ये भट्टनायक की तरह न तो भावकत्व व्यापार का कोई खास उपयोग करते हैं, और न रसास्वाद के लिए भोगकृत्व व्यापार का। बस मीमांसा दर्शन के अनुसार पदार्थ व वाक्यार्थ न्याय से भाव्य-भावक व्यापार को ही प्राथमिकता देते हैं। रसादि ध्वनियों को मीमांसा की रूपरेखा पर फिट करने का प्रयास करते हैं। इनका कहना है कि समस्त ध्वनियाँ तात्पर्य से भिन्न नही हैं। रस भी काव्य शब्दों का वाक्यार्थ है, और विभावादि इसकी योजना मे पदार्थ है, **"तत्र विभावादयाः पदार्थस्थानीयाः तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः"** अतः पदार्थ व वाक्यार्थ के रूप मे भाव्य स्वर्गादि का भावक जैसे याग आदि हैं इसी प्रकार काव्य में वाक्यार्थ-भूत रसादि भाव्य है, और विभावादि भावक है। इसी भाव्य भावक सम्बन्ध के इस तात्पर्यावृत्ति से रत्यादि की प्रतीति हो जाती है व्यर्थ ही पृथक् ध्वनि-सिद्धान्त या व्यञ्जना व्यापार मानने की कोई आवश्यकता नही है, कहा भी है—

"तात्पर्यव्यतिरेकाच्च व्यंजकत्वस्य न ध्वनिः"

कुन्तक—

आचार्य कुन्तक अभिनवगुप्त के समकालीन हैं, परन्तु इनके परस्पर परिचय के सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है। कुन्तक एक असाधारण मेधावी थे। इन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित मे, वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानकर उसे ध्वनि के समान ही एक व्यापक रूप देने का कठिन प्रयास किया है। वस्तुतः अलकारवाद की ओर से यह ध्वनि की प्रतिस्पर्धा मे प्रबल अभियान था।

रसस्वरूप के विषय मे कुन्तक ने कोई उल्लेखनीय विचार प्रस्तुत नही किये, जहाँ तक काव्य मे उसकी महत्ता या उपादेयता का सम्बन्ध है, कुन्तक उससे पूर्णतया सहमत हैं। कुन्तक की प्रकरणवक्रता व प्रबन्धवक्रता मे चमत्कार का आधार रस ही है, रस को ये पृथक् व्यञ्जनावृत्ति का विषय नही बनाते हैं, एक तरह से अलकार्य की स्थिति मे रखकर—रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित इन तत्वो मे रसभाववादियो का अन्तर्भाव कर देते है। युक्ति व प्रमाण-पुरस्सर यह निर्धारण करते हैं कि उक्त रस-वदादि अलकार न होकर अलकार्य हैं।

अन्य आचार्यों की तरह रसस्वरूप के विषय मे स्वतन्त्रतया इन्होंने कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया है, यदि कही किया भी है तो वह भी गुण, मार्ग व अलकार-आदि ससृष्टस्थिति मे ही।

महिमभट्ट—

आनन्दवर्धनोत्तर-काल मे फिर रस की महत्ता का प्रश्न इतना नही रह गया जितना कि उसकी प्रक्रिया का दिखाई देता है। रस ध्वन्यमान है, या भाव्य है अथवा अनुमेय है—इत्यादि विपक्ष के विविध वादो की विवेचना ही उस युग की सुन्दर उपलब्धि है।

अब रस की स्थिति सामाजिक मे है, या अनुकार्य अथवा अनुकर्ता मे,—इस प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ प्राय मिट चुकी थी, न रस का काव्य के महत्वपूर्ण तत्त्व के विषय मे भी कोई विवाद रह गया था।

महिमभट्ट को भी इसमें कोई आपत्ति नही थी, वे भी रस को काव्य का एक उपादेय तत्व मानते थे। "किन्तु रस व्यञ्जनाव्यापार द्वारा व्यग्य है" इस बात को मानने मे उन्हें बडी आपत्ति थी, महिमभट्ट ध्वनि के समूचे समुदाय को अनुमान मे गतार्थ करने के आग्रह को लेकर ग्रन्थरचना मे लगे थे। उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ का निर्माण ही इसी उद्देश्य से किया। महिम के अनुसार रस अनुमेय है, जहाँ भी विभावादि हेतुओ के द्वारा भावो का अवगमन होता है, प्रमाता को रसास्वादोदय हो जाता है। यह काव्य की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इनके अनुसार रस का स्वरूप इस इस प्रकार है—

"तैरेव कारणादिभिः, कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैः असन्त एव रत्यादयः, प्रतिबिम्बकल्पाः, स्थायिभावव्यपदेशभावाः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तः रसा इत्युच्यन्ते"

यहाँ यह स्पष्ट है कि महिम ने अभिनव के हृदयसंवाद एवं प्रतिपत्तृ-प्रतीति' को लेकर शंकुक के अनुमानवाद पर अवतरित होने का प्रयास किया है। मिथ्या ज्ञान से प्रामाणिक फल कैसे होता है, इस विषय में वे शंकुक का ही अनुसरण करते हैं—

तदुक्तं भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा—

"मणिप्रदीपप्रभयोः" इत्यादि, विभावादि को कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम न मानना, भावों को सामाजिक में न मानकर चलना "असन्त एव रत्यादय" इत्यादि शंकुक का ही प्रभाव है। परन्तु ये असत् भावों को शैव दर्शन के प्रतिबिम्बवाद के माध्यम से ही अपनाते है। प्रकाशरूप चैतन्य मे विमर्श पक्षीय स्थायिभावों की प्रतिबिम्बात्मक स्थिति, हृदयसंवाद से मिलकर आस्वाद कोटि मे पहुँचती हुई रस है। इस मान्यता मे स्पष्टतः अभिनवगुप्त का प्रभाव है। अभिनव जहाँ स्थायी भावों को वासनारूप में मानकर चलते है, वहाँ महिम शब्दार्थ के प्रभाव में आकर 'असत्' मानकर चलते हैं। इस प्रकार ध्वनि के सारे प्रपञ्च को वे अनुमान मे ही गतार्थ कर देते है। महिम ने अपनी सारी प्रतिभा का व्यय अपने दुराग्रह के निमित्त किया, जैसाकि उन्होंने ग्रंथ के प्रारम्भ मे ही प्रतिज्ञा की है—

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

महिमभट्ट के इस अनुमितिवाद का खण्डन काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट बड़े सबल तर्कों द्वारा किया है।

महाराजा भोज—

ग्यारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध में राजा भोज ने रस का अपने श्रृंगारप्रकाश नामक ग्रन्थ मे कुछ नये ही तरीके से किया। अन्य आचार्यो की तरह भोज रस के बहुत्ववाद से सहमत नही है। इस विषय मे अपने में स्वतन्त्र है, उन्हे रसाद्वैत ही अभीष्ट है। भोज केवल एक श्रृंगार रस को ही मानते हैं।

श्रृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयन्तु श्रृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः॥

वस्तुतः दार्शनिक दृष्टि से आनन्दतत्त्व का विश्लेषण करने पर रस एक एवं अखण्ड ही सिद्ध होता है। अभिनवगुप्त भी जब रस को चित् के धरातल पर, आनन्द-शक्ति की विश्रान्ति के रूप में स्वीकार करते है, तब उसके एकता और अखण्डता को ही स्वीकार करते है। पण्डितराज भी उसे "भग्नावरणा चित्" कहकर उसकी अखंडता को ही स्वीकार करते हैं। किन्तु हृदय की विभिन्न वृत्तियों के भेद के कारण रसो के औपचारिक या औपाधिक भेद स्वीकार किये जाते हैं।

भोज कहते हैं कि—अनुकूल प्रतीति को ही हम सुख कहते हैं, और सुखादि अनुभूतियो मे अनुभव का हेतु 'अभिमान तत्त्व' है। सविद् इसी अभिमान के धरातल पर सुखादि की अनुभूति करती है, अत यह अभिमान या अहकार तत्त्व ही रस है, उसी का नाम शृगार रस है। साख्य की दृष्टि मे भी समस्त अनुभूतियो के आश्रय अन्त करण का मूल अहकार ही है।

वेदान्त की दृष्टि से भी जब शुद्ध चैतन्य 'अहमस्मि' के धरातल पर उतर आता है, तब अहतत्व की सृष्टि हो जाने पर अनुभूतियो का द्वार खुलता है।

भोज ने शैव दर्शन की पृष्ठ भूमि पर अहतत्व को लेकर उसे सुखादि अनुभूतियो का मूल तत्व स्वीकार किया है। उस तत्व की एकता के कारण रस की एकता प्रतिपादित की। भावो से तथा विभावादि मे प्रकाशित होकर आनन्दरूप मे परित होने वाला अहकार ही रस है। उसी का नाम शृगार है।

अहकार तत्व को रस मान लेने से फिर भोज को यह मानने की आवश्यकता नही कि शृगार रतिप्रभव है, अपितु समस्त भावो की उत्पत्ति अहतत्व से होती है।

अहवृत्ति को शृगार मानकर भोज ने उसकी व्यापक कल्पना की है। शृगार के दो रूप हैं—पर और अपर। अपर रूप तो अन्य आचार्यों का माना हुआ शृगार रस है जिसके सयोग व वियोग दो भेद होते हैं। परन्तु यहा पर शृगार के चार भेद होते हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, उपनिषदो के अनुसार "एकाकी न रमते सोऽकामयत एकोऽह बहुस्याम्" मे शुद्ध चैतन्य मे जिस काम अथवा वृत्ति का उदय हुआ, यही समस्त सृष्टि का मूल है। यही व्यापक वृत्ति चतुर्वर्गस्कारक कही जाती है। भोज की पर शृगार की यह कल्पना वैसी ही व्यापकता मे रमी हुई है।

मम्मट—

यद्यपि अभिनव गुप्त ने रस चेतना को सुप्रतिष्ठित कर दिया था, फिर भी धनञ्जय, धनिक, कुन्तक व महिमभट्ट जैसे आचार्यों की स्थापनाओ मे ध्वनि क विरोधी पक्ष बडे बल के साथ उभर आया था, इन विरोधी स्वरो के रहते अभिनव की रस व्याख्या पूर्ण प्रतिष्ठित नही कही जा सकती है।

मम्मट ने इन विरोधी स्वरो का अपने प्रबल तर्कों के द्वारा मुख-मुद्रण कर, व्यञ्जना की पृष्ठ भूमि मे शैव अद्वैतवाद की चिन्तनधारा के माध्यम मे व्याख्यान अभिनव के रस-सिद्धान्त को चिरकाल तक प्रतिष्ठित रहने की क्षमता प्रदान कर एक महत्वपूर्ण कार्य किया।

अलकार और ध्वनि

अलकार काव्यसौन्दर्योत्पत्ति का प्रसिद्ध साधन रहा है। "न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनिताननम्" की प्रसिद्ध सूक्ति मे भी यही प्रतीत होता है कि वनिता वदन

चाहे कितना ही कान्त क्यों न हो, यदि अलंकार रहित है तो उतनी रमणीयता का आधान नहीं करता है। इसके विपरीत कितना ही कुरूप किसी का वदन क्यों न हो यदि सालंकार है यो अवश्य सुषमा-समन्वित होगा।

काव्य की भी ठीक यही दशा है, कितना ही उच्चकोटि का काव्य क्यों न हो, यदि शब्दार्थगुणालंकारादि से सुसंस्कृत नही हैं तो अलकारशास्त्रियों के मत में तो वह वार्तामात्र है, न कि काव्य, जैसा कि अलंकार शास्त्र के आद्य आचार्य भामह का कहना है—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः
इत्येवमादि किं काव्यं ? वार्तामेनां प्रचक्षते ॥२/८६

अर्थात्—सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा का उदय हो गया है। पक्षीगण अपने अपने निवास स्थानों को लौट रहे हैं। इत्यादि यह कोई काव्य है क्या? इसको तो वार्ता कहते हैं, अनलंकृत इन वाक्यों में काव्यत्व की सम्भावना नही की जा सकती है, ऐसी अलंकार-वादियों की धारणा है। क्योंकि इसमे काव्यत्व-सम्पादक अलं की समग्रता नही है। प्रतिष्ठा व समुचित भूषण के विना शिलाशकल साधारण प्रस्तर मात्र है, चाहे वह फिर नर्मदेश्वर ही क्यों न हो।

यद्यपि अलंकार एक बाह्य आभूषण या परिधान है पर उस युग में इसी में काव्य की समग्रता का अनुशीलन किया जा रहा था। यह क्रम कुछ शिथिल रूप में आनन्दवर्धन तक चला ही आ रहा था, दण्डी व वामन जैसे विचारकों ने भी इसी स्वर में अपना स्वर मिलाना उचित समझा।

(दण्डी)—काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

(वामन)—सौन्दर्यमलंकारः इत्यादि—

यहां तक कि ध्वनिवादी आचार्य भी अलंकार की अत्यन्त उपेक्षा न करते हुए समुचित अपेक्षा ही करते हैं—

"काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्" कहकर अलंकार को उसका न्यायोचित भाग प्रदान करते हैं। ध्वनि के प्रवल समर्थक पण्डितराज भी काव्य को गुणालंकारादि से निरूपणीय मानते हैं—

"काव्यस्य व्युत्पत्तेः कविसहृदययोरावश्यकतया, गुणालंकारादिभिर्निरूपणीये तस्मिन् विशेष्यतावच्छेदकं तदितरभेदवुद्धौ साधनं च तल्लक्षणं तावन्निरूप्यते"।

अर्थात्—गुणालंकारादिमत् काव्य को शिष्य समझ लें, साथ ही साथ काव्येतर से उसका भेद भी जान लें, इसलिए इतरभेद वुद्धि में कारण है उसका लक्षण, अतः काव्य का लक्षण कवि व सहृदय दोनों के लिए आवश्यक है। अतः इतरभेद—काव्येतर से काव्य का ज्ञान कराने में कारणीभूत काव्य-लक्षण का निर्वचन करते हैं। सामान्य दृष्टि से यह तभी सम्भव है जवकि काव्य को गुणालंकारादिमत् माना जाय, "काव्यं काव्येतराद् भिन्नं गुणालंकारादिमत्वात् यत्रैवं तत्रैवं यथा घटादि।

अर्थात् गुणालकारादि को पुरस्कृत करके ही हमने काव्य निरूपण करना है, तभी सामान्य काव्य के विषय मे लोगो की जानकारी हो सकती है, न कि प्रथमत विशेष काव्य का या उत्तम काव्य विशेष का लक्षण करना है। यह बात भी यहाँ ऐसी ही प्रतीत होती है जैसे महर्षि व्यास ने ब्रह्म के लक्षण निर्वचन के लिए प्रथमत "सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म" न करके ब्रह्म का तटस्थ लक्षण ही किया 'जन्माद्यस्य" इत्यादि, जिससे कि किसी वस्तु का स्थूल रूप पहले ज्ञात हो जाय।

काव्य की सूक्ष्म विवेचना के पहिले उसके बाह्य स्वरूप पर ही लोगो की दृष्टि केन्द्रित थी, भामह—"गतोऽस्तमर्क" इत्यादि वाक्य को अनलकृत ही मानते हैं अत यह अकाव्य है क्यो कि इसमे काव्य के कोई स्पष्ट लिंग या चिन्ह नही दिखाई दे रहे हैं और निरलकार होने से काव्येतर से इसमे कोई वैशिष्ट्य भी नही है। चारुत्व-हेतु अलकार ही काव्य का सब कुछ है, जिसका चरम परिपाक हम कुन्तक के वक्रोक्ति-जीवित मे पाते हैं।

यह सब कुछ होते हुए भी ध्वनिवादियो ने काव्यशास्त्र को एक व्यवस्था दी, जिससे आगे फिर अलकार्य व अलकार मे भेद माना गया। फलत रसभाव आदि काव्य के प्रधान तत्वो को अलकार्य कहा गया, तथा इनके परिपोषक या उपकारक रीति 'गुण' व अलकार को "अलक्रियते अनेनति" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अलकार माना गया। स्वय ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने इसकी घोषणा की—

"विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन" ॥ २/१८

अर्थात्—अलकार की विवक्षा रस को प्रधान मानकर होनी चाहिए, अगीरूप मे—अप्रधानरूप म नही। इसका अभिप्राय यह है कि अगी होने के नाते रस अलकार्य है और उपमादि अलकारो की सार्थकता उसके उत्कर्ष-वर्धन मे है।

इस प्रकार अलकार और अलकार्य का पार्थक्य सिद्ध किया—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम् ॥२/२८।

तात्पर्य यह है कि सहृदयो के लिए अत्यन्त आह्लादजनक मुख्यरूप से प्रतीयमान रस-भावादि की रमणीयता को बढ़ाने के तात्पर्य से ही उपमा आदि अलकारो का काव्य मे कवियो द्वारा निवेश किया जाता है, और यही परोत्कर्षवर्धकत्व ही अलकारो के अलकारत्व का प्रयोजक है।

इस प्रकार रसादि ध्वनि, उपमादि अलकार व रसवदादि अलकार जिन्हे गुणीभूतव्यग्य कहा जाता है, जिनके विषय मे अलकार प्रस्थान प्रकरण मे बहुत कुछ कहा जा चुका है, इन सबका ध्वनिप्रस्थान के प्रकाश मे उचित व्यवस्था हुई। "एव ध्वनेरुपमादीना रसवदलकारस्य च विभक्तविषयता भवति"

जैसा कि काव्यप्रकाश मे आचार्य मम्मट ने भी कहा है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारा तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

जिस प्रकार हारादि आभूषण प्रत्यक्षरूप से शरीर को सुशोभित करते हुए भी मूलतः आत्मा का उत्कर्ष करते है, इसी प्रकार ये अनुप्रास व उपमादि अलंकार भी प्रत्यक्षतः शब्दार्थ को भूषित करते हुए मूल रूप में रस का भी उपकार करते हैं। ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार यही परोपस्कारकत्व ही इनके अलंकारत्व का प्रयोजक है।

इस प्रसंग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन बड़ा ही मार्मिक है—आपका कहना है कि अलंकार और अलंकार्य का भेद मिट नही सकता है। उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो, उसकी तह में कोई प्रस्तुत अर्थ अवश्य ही रहता है। इस अर्थ से या तो किसी तथ्य की या भाव की व्यंजना होती है, उदाहरण में पन्त जी की ये पंक्तियाँ है—

"बाल्य-सरिता के कूलो से,
खेलती थी तरंग सी नित
इसी मे था असीम अवसित" ॥

अर्थ—वह बालिका अपने बाल्य जीवन के प्रवाह सीमा मे खेलती थी, उसके उस बाल्य जीवन मे अत्यन्त अनिर्वचनीय आनन्द प्रकट होता था।

उक्त प्रस्तुत अर्थ को कवि की उक्ति कितनी सुन्दरता से अर्थान्तर को अभिव्यक्त कर रही है—बाल्य सरिता यह रूपक है, जिससे प्रतीत होता है कि अवस्था एक सी स्थिर नही रहती है।

नदी के जैसे दो कूल छोर होते है, इसी प्रकार अवस्था के भी दो छोर हैं, एक किनारा है गुजरने वाली अवस्था और दूसरा किनारा है आने वाली अवस्था। तात्पर्य यह है कि वयःसन्धि में यह बालिका वर्तमान है। तरंग सी यह उपमा भी सुन्दर है, तरंग जैसे नदी-प्रवाह के अन्तर्गत ही रहती है, इसी प्रकार यह भी अपनी बाल्य अवस्था के मर्यादा के अन्तर्गत स्वच्छन्द क्रीडा करती है। अवसित-अनन्त-ब्रह्म का उपलक्षक है, जिस प्रकार ब्रह्म अनन्त-आनन्द स्वरूप है, इसी प्रकार इस बालिका के बाल्यावस्था में भी अपरिमित अनन्त आनन्द का आभास होता है।

समस्त वाक्य से यह अर्थ ध्वनित होता है कि मानो उस बाल्य जीवन के भीतर असीम आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही समाया हो।

अतः यह प्रतीयमान उत्प्रेक्षा भी अनूठी है, क्योंकि इसके भीतर "अधिक" अलंकार के वैचित्र्य की भी झलक है। यहाँ कवि की अलंकार विवक्षा-तत्पर अर्थात् उस प्रतीयमान अर्थ के अभिव्यंजन करने में या अलंकार्य का उपकार करने में सर्वथा सक्षम तथा उचित है अर्थात् अंगरूप में सन्निविष्ट रूपक और उपमा उस ससीम बाल्यावस्था मे निःसीम आनन्द को समा देने की प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में सहायक हैं।

इसी प्रकार महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् का "चलापांगा दृष्टि" इत्यादि पद्य भी भ्रमर की स्वभावोक्ति द्वारा अंगरूप से अंगी श्रृंगार रस की व्यंजना करता है।

यही अलंकारों का रस या भावपरक होना है, इसी में अलंकार तथा अलंकार्य का उत्कर्ष है। इस प्रकार ध्वनि की छाया में वस्तु, रस, भाव व अलंकार की अपनी उचित सत्ता अपने स्वरूप के अनुकूल हुई और आपस में रस वस्तु, तथा अलंकार का घनिष्ठ सम्बन्ध भी सम्पन्न हुआ। इनके परस्पर पार्थक्य न केवल भारतीयसाहित्य-शास्त्र ही अपितु यूरोप का प्राचीन काव्यशास्त्र भी इस परस्पर सम्बद्ध किन्तु स्वरूपत पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करता है। अरस्तु से लेकर आर्नाल्ड तक यह मान्यता प्रायः अक्षुण्ण रही है।

रीति और ध्वनि

आचार्य वामन के अनुसार शब्दार्थ युगल-रूप काव्यशरीर की विशिष्ट पद-रचना रूप-रीति आत्मा है, जैसा कि उन्होंने 'काव्यालंकार सूत्र' नामक ग्रन्थ में कहा है—

रीतिरात्मा काव्यस्य ॥

रीतिर्नामियमात्मा काव्यस्य, शरीरस्येवेति वाक्यशेष ॥

विशिष्टा पदरचना रीति ॥

विशेषो गुणात्मा ॥

पदों में विशिष्टता गुणों के ही कारण उत्पन्न होती है। गुणों के अभाव में पद एक सामान्य रूप में ही स्थित रहते हैं, अत रीति गुणों के ही ऊपर रहने वाला काव्यतत्व है। "रीति" यह शब्द रीङ् धातु से अधिकरणार्थ में क्तिन् प्रत्यय से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—रीयन्ति गच्छन्त्यस्या गुणा इति रीति। अर्थात् जिस पदरचना-विशेष संघटना में गुण संचरण करते हैं। अथवा—रीयते क्षरत्यस्या वाङ्मधु धारेति रीति" अर्थात् माधुर्यादि गुणों के द्वारा जिस रचना में वाणी का माधुर्य परिलक्षित होता हो। यह रीति तीन प्रकार की होती है—

(१) वैदर्भी, (२) गौडीया, (३) पाञ्चाली

(१) वैदर्भी रीति समग्र गुण गुम्फिता रहती है, इसमें माधुर्य-ओज-प्रसादादि प्रमुख सभी गुण रहते हैं। इन रीतियों का स्वरूप विदर्भ गौड व पांचाल देशों में प्रचुरता में दिखाई देने से तत्तत् देशों के अनुसार इन रीतियों का नामकरण हुआ है। अथवा तत्तत् देश के कवियों के स्वभाव पर उस प्रकार की रचना होने से इन रचनाओं का नामकरण भी उसी देश के आधार पर हुआ। इनमें भी वैदर्भ मार्ग ही कवियों का अधिक प्रियमार्ग रहा, जैसी कि कहावत भी है—

"वैदर्भीरीति सन्दर्भे कालिदासः प्रगल्भते"

(२) गौडीया रीति—ओज और कान्ति गुण से युक्त रचना को गौडी रीति कहते हैं। इसमें माधुर्य व सौकुमार्य गुणों का अभाव रहता है, अतः यह समासवहुला और परुषवर्णप्रचुरा पदरचना युक्त रीति है।

(३) पांचाली रीति—माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से सम्पन्न पदरचना-युक्त रीति पांचाली रीति कही जाती है। इसमें ओजो गुण और कान्ति गुण के न रहने से पदरचना भी शिथिल होती है, यह असमासा या मध्यमसमासा होती है।

ध्वन्यालोक में ध्वन्यभाववादियों के पक्ष के प्रदर्शन के प्रसंग में रीति व गुणों की भी कुछ चर्चा हुई है। प्राचीन आलंकारिक रीति, गुण व अलंकारों में ही काव्य के समग्र चारुत्व का अवलोकन किया करते थे, इसी सिद्धान्त को पूर्वपक्ष के रूप में रखकर ग्रन्थकार ने इन तत्त्वों के उपर कुछ प्रकाश डाला है—

पूर्वपक्ष की ओर से कहा गया है कि—शब्दार्थ-युगल काव्य है इसमें तो किसी की भी विमति नहीं है, और यह भी स्पष्ट ही है कि ये शब्द और अर्थ ही ध्वनि नही है।

कदाचित् ध्वनिवादी शब्दार्थ-निहित चारुत्व को ध्वनि कहें तो वह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि शब्दार्थनिष्ठ यह चारुत्व दो प्रकार का होता है। एक तो शब्दार्थ के स्वरूपनिष्ठ और दूसरा शब्दार्थ के संघटनाश्रित।

इसमें शब्दार्थों के स्वरूपनिष्ठ जो चारुत्व है वह तो शब्दालंकार तथा अर्थालंकार से सम्पन्न हो जाता है।

और शब्दार्थों के संघटनाश्रित जो चारुत्व है वह शब्दगुण व अर्थगुणों से सम्पन्न हो सकता है। अतः काव्य के चारुत्व हेतुभूत गुणालंकार से व्यतिरिक्त ध्वनि नाम की कोई चीज ही नहीं है।

यदि कदाचित् कोई यह कहे कि गुणालंकार से व्यतिरिक्त तो रीति और वृत्तियां भी हैं, और वे चारुत्व की हेतु भी हैं, इस दृष्टान्त से गुणालंकार व्यतिरिक्त ध्वनि को भी यदि कोई चारुत्व का कारण वतायें तो भी ध्वनिवादी का पक्ष संगत नहीं हो सकता है। क्योंकि ये रीति या वृत्ति एक प्रकार से शब्दालंकार-अनुप्रासादि की परुपत्व, लालित्य, व मध्यमत्व वर्णसंघटनाविशिष्ट अनुप्रास की ही जातियां या प्रकार विशेष हैं, इन्हीं को वृत्ति कहा है—वर्तन्ते अनुप्रासजातयो अनुप्रासभेदा आसु इति वृत्तयः।

इन्हीं परुष, मध्यम, ललित वृत्तियों को उद्भटादि आचार्यों ने नागरिका, उपनागरिका व ग्राम्या, नाम से कहा है। इन तीन प्रकार की वृत्तियों का नाम आचार्य वामन ने वैदर्भी, गौडी, व पांचाली रीति के नाम से कहा है।

गुणालंकार-सुसंस्कृत यह रीति निश्चित ही काव्य का एक उत्कृष्ट तत्त्व है, जो गुणों के उत्कर्ष से और अलंकार के अतिशय से उद्दीप्त होकर पदरचना में हमें

उपलब्ध होता है, इस प्रकार गुणालंकार रीति संघटित होकर ही काव्य की शोभा या चमत्कार में कारण बनते हैं, या इस संघटित समुदाय से काव्यात्मा का स्वरूप सम्पन्न होता है, जैसा कि बौद्धों का पंचस्कन्ध ही ज्ञानसन्तान में परिवर्तित हुआ आत्मा है, अर्थात्—रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार, ये पाँच स्कन्ध ही तो संघटित बौद्धों के आत्मा हैं—जैसा कि महाकवि माघ ने भी कहा है—

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाऽङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्माऽन्यो नास्ति मन्त्रो महीक्षिताम् ॥

इसी प्रकार गुणालंकार-सुसंस्कृत पदरचना-विशिष्ट रीति को वामन ने आत्मा माना है। जहाँ तक इस रीति का स्वरूप है वहाँ तक तो ध्वनिवादी आचार्य भी इससे सहमत हैं, पर जहाँ इसकी आत्मा के रूप में प्रतिष्ठा है, वहाँ सभी एकमत नहीं हैं, अपितु ध्वनिवादी आचार्य तो इसके विपक्ष में भी हैं। अलंकारवाद या रीतिवाद की ओर से जरूर कुन्तक ने इस दिशा में कुछ परिवर्तन व परिवर्धन किया है।

कुन्तक ने इन रीतियों को जहाँ उन्नत अवस्था में ले जाने का स्तुत्यप्रयास किया है, वहाँ इनमें आमूलचूल परिवर्तन लाने का भी कार्य किया है। कुन्तक को सबसे ज्यादे चिढ वामन पर यही है कि उन्होंने किसी देश विशेष या भौगोलिक आधार पर इन रीतियों का नाम रक्खा, कुन्तक किसी प्रतिभा को किसी देश के नाम पर रजिस्टर्ड कर देना नहीं चाहते, या प्रतिभा को किसी भौगोलिक परिधि में जकड़ देना भी नहीं चाहते हैं। इसलिए वे वामन की रीति का शब्दतः व अर्थतः भी रूपरेखा बदल देना चाहते हैं, जैसा कि उनका कहना है—

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥

"ते च कीदृशाः कविप्रस्थानहेतवः कवीनां प्रस्थानं प्रवर्तनं तस्य हेतवः काव्यकरणस्य कारणभूताः" मार्ग का अर्थ है, कविप्रस्थान हेतु, कवि प्रस्थान का अर्थ जिस मार्ग से कवियों की काव्य में प्रवृत्ति होती है। अर्थात्—जिसका अवलम्बन कर कवि काव्यरचना करता है, वही मार्ग है। ये तीन हैं, सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इस प्रकार कुन्तक ने वामन की रीति का कायाकल्प जैसा परिवर्तन कर दिया।

वामन के इस प्रादेशिक आधार के विरुद्ध तीन तर्क दिए हैं—

(१) काव्यरचना देश-धर्म नहीं है, देश धर्म तो परम्परा व प्रथाओं पर आश्रित रहता है, जिसका अनुसरण किसी के लिए भी अशक्य नहीं है, परन्तु काव्य-रचना तो प्रतिभा की अपेक्षा करती है, जिसका सद्भाव सभी में सम्भव नहीं है।

(२) काव्यरचना मधुर स्वर आदि के समान प्रदेश विशेष का भौगोलिक प्रभाव भी नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो उस प्रदेश के सभी व्यक्ति सत्काव्य की रचना करने में समर्थ होते।

(३) केवल प्रतिभा ही नहीं, अपितु व्युत्पत्ति आदि आहार्य गुण भी देशजन्य नहीं हैं, वे भी व्यक्तिनिष्ठ ही हैं।

कुन्तक के अनुसार काव्य भेद का वास्तविक आधार है कवि स्वभाव। स्वभाव के अनुसार ही प्रत्येक कवि की शक्ति होती है, शक्ति के अनुरूप ही उसकी व्युत्पत्ति, और इन दोनों के अनुरूप उसका अभ्यास होता है, अतएव काव्य के तीनों हेतु शक्ति निपुणता और अभ्यास स्वभाव पर ही आश्रित हैं। इस प्रकार वे कवि समस्त काव्य-रचना-कलाप के चरम सौन्दर्य से युक्त कुछ अपूर्व, सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक मध्यम काव्य मार्ग का निर्माण करते हैं, ये ही मार्ग इन कवियों को प्रवृत्त कराने वाले होते हैं—

यत् किञ्चनाऽपि वैचित्र्यं तत् सर्वं प्रतिभोद्भवम्।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते॥
सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः॥

ध्वनिवादियों की दृष्टि में ये दोनों ही सिद्धान्त रीतिवाद और वक्रोक्तिवाद देहवादी माने गए हैं। क्योंकि रीति का स्थान काव्य में अंगसंस्था विशेष है। गुण, माधुर्य ओज, प्रसाद ये जरूर अंगी रस के नित्य धर्म हैं, जैसा कि ध्वन्यालोक में भी कहा है—

तमर्थमवलम्वन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितस्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्।

संघटना इन्ही माधुर्यादि गुणों का आश्रय लेकर शृङ्गारादि रसों को अभिव्यक्त करती है। वामन जिसे रीति कहते हैं और कुन्तक जिसे मार्ग कहते हैं आनन्दवर्धन इन्ही को संघटना शब्द से कहते हैं। यह तीन प्रकार की होती है, असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा, यही संघटना क्रमशः वैदर्भी, पान्चाली व गौडी रीति से कही गयी है। कुछ लोग संघटना और गुणों का (तादात्म्य) एक्य मानते हैं, कुछ लोग अलग-अलग मानते हैं। कुछ भी हो यह संघटना वक्ता वाच्य के औचित्यानुकूल तत्तत् रसों को अभिव्यक्त करती है। ध्वनिसिद्धांत में संघटना की प्रतिष्ठा अंगरूप में है; अभिव्यक्ति के साधन रूप मे निश्चित ही रीति का महत्वपूर्ण योग है जितना कि एक सुन्दरी के सुगठित शरीर का सौन्दर्याभिव्यक्ति में है।

वामन व कुन्तक का काव्यालोचन निश्चित ही वस्तुपरक है, परन्तु रीति सिद्धांत जहाँ केवल रचना-नैपुण्य-मात्र को ही काव्यसर्वस्व मानकर व्यक्ति-तत्व की लगभग उपेक्षा सी कर देता है, वहाँ वक्रोक्ति में स्वभाव को मूर्धन्य देता है, और रीति की अपेक्षा ध्वनि व रस दोनों के प्रति अधिक निष्ठा रखता है। पर ये दोनों सिद्धान्त काव्य की रचना को कौशल या नैपुण्य ही मानते हैं, न कि आत्माभिव्यक्ति। आधुनिक आलोचना के प्रकाश में हम इन तीनों तत्वों का मूल्यांकन इस प्रकार कर सकते हैं—

रीति तत्व एक प्रकार से काव्य शिल्प है जिसको कि अगसस्था विशेषवत् कहा है, और वक्रोक्ति तत्व एक एक प्रकार से वैचित्र्यपूर्ण कवि का कौशल है, जिसको काव्य कला कह सकते हैं और अभिव्यक्ति पक्ष मे ध्वनि काव्य की आत्मा है। अत किसी भी पदार्थ की सुन्दरतम अभिव्यक्ति के लिए उसके सुसस्कृत तथा सुमधुर सस्थान की भी उतनी ही अधिक आवश्यकता है, जितनी उसके अभिव्यजन के प्रकार या कौशल की।

वक्रोक्ति और ध्वनि

वक्रोक्ति सिद्धान्त का उदय ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिस्पर्धा के रूप मे हुआ है। इस सिद्धान्त के उद्‌भावक आचार्य कुन्तक हैं। एक तरह से यह आध्यात्मवाद के विरुद्ध देहात्मवाद ही काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रबल अभियान था।

कुन्तक के समय तक ध्वनि की लगभग प्रतिष्ठा हो चुकी थी, एकाध स्वर ही शायद ध्वनि के विरोध मे उस समय तक शोरगुल मचा रहे होगें, वह भी केवल एकाध अश के विरोध को लेकर। जैसे भट्टनायक आदि का व्यजनाव्यापार विशेष मे ही इनका विशेष विरोध मालूम पडता हैं क्योकि ये सहृदय मे रसाभिव्यक्ति के व्यञ्जना की जगह दो अन्य व्यापारो की कल्पना करते थे। भावकत्व व भोजकत्व—भावकत्व व्यापार के द्वारा जब विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है तो भोजकत्व व्यापार द्वारा फिर रस की भुक्ति होती है। इस प्रकार ध्वनि या व्यजना-व्यापार का सर्वप्रथम विरोध करने वाले भट्टनायक है, जिनके विरोध का परिहार अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका मे किया है, अभिनव गुप्त के प्रौढ व्याख्यानो मे ध्वनि सिद्धात की पुन प्रतिष्ठा हुई, जिसमे पुन किसी प्रकार के विरोध मे असमञ्जस की कोई गुन्जाईश नही रह जाती है। इस युग को एक तरह से ध्वनि-प्रतिष्ठा का युग कह सकते हैं।

कुन्तक भी अभिनवगुप्त के ही समसामयिक हैं, सम्भवत इन आचार्यों मे समय का बहुत थोडा ही अन्तर होगा और इन दोनो आचार्यों की जन्मभूमि भी कश्मीर ही थी या ये दोनो ही एक दूसरे से अपरिचित से मालूम पडते हैं क्योकि परस्पर किसी ने किसी मत मतान्तर का निर्देश नही किया है। ऐसे समय मे ध्वनिवाद के विरुद्ध या प्रतिस्पर्धा मे वह भी सर्वांश मे आवाज उठाना बडे साहस, प्रतिभा का कार्य था। बस कुन्तक ने अपनी प्रखर मेधा के भरोसे यह महत्वपूर्ण दायित्व सभालना चाहा कि ध्वनि सिद्धान्त के सामने एक सर्वाङ्गपूर्ण वक्रोक्ति का एक नया ही प्रस्थान प्रतिष्ठित किया जाय।

सिद्धान्त के उस सारे चमत्कार को कुन्तक अपनी वक्रोक्ति मे समेट लेना चाहते थे जिसके लिए उन्होने अथक परिश्रम भी किया। पद ध्वनि, वाक्य ध्वनि, प्रबन्ध ध्वनि की तरह इन्होंने भी अपने ग्रन्थ वक्रोक्ति जीवित मे वर्णवक्रता, पदवक्रता व वाक्य वक्रता, प्रकरण व प्रबन्धवक्रता का विवेचन ध्वनि-सिद्धान्त के ही अनुसार किया है। जैसाकि उन्होंने लिखा भी है—

वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्धवक्रता।
वक्रतायाः परोप्यस्तिप्रकारप्रत्ययाश्रयः॥ इत्यादि—

इस प्रकार कुन्तक के वाक्यवक्रता में अलंकार ध्वनि समा जाती है और वस्तुवक्रता में वस्तुध्वनि समा जाती है, तथा उपचारवक्रता में अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि आ जाती है। रस ध्वनि को कुन्तक ने रसवदादि अलंकारों में ही अन्तर्भुक्त कर दिया है। इस प्रकार ध्वनि के सारे प्रपंच को वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत कर काव्य सौन्दर्य को अनुभूति के क्षेत्र से हटाकर कला या विषय के क्षेत्र में पहुंचा देने का दुःसाहसपूर्ण काम किया। वस्तुतः वह काव्यात्मकता का वस्तुपरक व्याख्यान है, जिसके लिए पूर्वाचार्यों ने न मालूम कब से साधना कर रखी थी। इसका चरम परिपाक हमें कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में लक्षित होता है।

भामह इसे अतिशयोक्ति का दूसरा रूप मानते थे—

"वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते"।

अर्थात् वक्र कथन शब्दों के लिए अलंकार का काम करता है। आचार्य दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागों में बांटा है।

(१) स्वभावोक्ति, और (२) वक्रोक्ति।

वे सब शास्त्र स्वभावोक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं, जिनमें वस्तुओं का यथार्थ कथन रहता है। वक्रोक्ति में कुछ अतिशय कथन रहता है। इस प्रकार ये उपमादि अलंकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं—

'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना। (काव्यादर्श)

वामन ने भी वक्रोक्ति का वर्णन किया है, पर उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति सादृश्य के ऊपर आश्रित होने वाली लक्षणा ही है। लक्षणा के अनेक आधार हो सकते हैं, परन्तु सादृश्य (समानता) के आधार पर आश्रित होने वाली "लक्षणा" वक्रोक्ति कही जाती है।

अभिनवगुप्त की दृष्टि में—लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का जिसमें व्यवहार होता है, उस रूप में न होकर उससे विलक्षण रूप में शब्दार्थों का प्रयोग होना ही वक्रोक्ति है—

"शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता, लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्"

यहां वक्रोक्ति कुन्तक के शब्दों में 'विचित्रभङ्गी भणिति' है, अर्थात् कथन या वर्णन का विचित्र कोई व्यापार जो लोकसामान्य न हो। कुन्तक के इसी अभिप्राय को लेकर महिमभट्ट ने अपने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ में वक्रोक्ति का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

प्रसिद्धमार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये ।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥

काव्य का उद्देश्य श्रोताओ के हृदय मे अलौकिक चमत्कार का उन्मूलन है, यह तभी हो सकता है। जब शब्द का प्रयोग शास्त्रादिकों मे मान्य अर्थों से दूर हटकर विचित्रता-सम्पन्न होता है। इसी व्यापक रूप मे वक्रोक्ति का अर्थ आचार्य कुन्तक को अभीष्ट है।

तुलनात्मक दृष्टि से वक्रोक्ति भी करीब-करीब ध्वनि के ही सन्निकट है—

(१) दोनो मे (वक्रोक्ति तथा ध्वनि में) प्रसिद्ध वाच्य अर्थ और वाचक शब्द का अतिक्रमण है, कुन्तक के शब्दों मे—

"शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबद्धव्यतिरेकि"

अर्थात् शास्त्रादि मे उपनिबद्ध अर्थ के प्रसिद्ध सामान्य प्रयोग से भिन्न रूप में शब्दार्थ का प्रयोग। आनन्दवर्धन के अनुसार—

"यत्रार्थःशब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।"

अर्थात्—जहाँ अर्थ अपने आपको और शब्द अपने अर्थ को अप्रधान-गौण करके किसी चमत्कारपूर्ण अर्थान्तर को अभिव्यक्त करते हैं।

इस प्रकार वक्रोक्ति और ध्वनि दोनो मे साधारण का त्याग और असाधारण की विवक्षा होती है।

(२) ध्वनि तथा वक्रोक्ति दोनो मे वैचित्र्य की समान वाञ्छा है। आनन्दवर्धन ने—

"प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्तु।"

के द्वारा, और कुन्तक ने "विचित्रैव अभिधा" के द्वारा इसको स्पष्ट किया है।

(३) दोनों आचार्य इस वैचित्र्य सिद्धि को अलौकिक मानते हैं। किन्तु यह सब होते हुए भी दोनों के मूल दृष्टि मे महान् भेद है।

ध्वनि का वैचित्र्य अर्थ रूप होने से आत्मपरक है और वक्रोक्ति का वैचित्र्य अभिधा रूप अर्थात् भणिति रूप होने के कारण मूलत वस्तुपरक है। अत यह कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति प्राय ध्वनि की वस्तु-परक कल्पना है।

कुन्तक प्रतिपद ध्वनिकार के ध्वनि की अनुरणन का अनुसरण करते रहे। ध्वनि के उन चमत्कारपूर्ण भद-प्रभेदों का वे अपनी विचित्र वक्रता से अनुकरण करने मे नही चूके, जैसे उपचार वक्रता के अन्तर्गत आनन्दवर्धन के अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि के भेद को अच्छी तरह गतार्थ कर लेते हैं, उदाहरण—गगनञ्च मत्तमेघम्, इत्यादि आकाश पागल बादलो से व्याप्त है। यहाँ "मत्तता" यह चेतन का धर्म है, परन्तु अचेतन मेघ का धर्म बतलाया गया है। फलत यहा चेतन का धर्म अचेतन पदार्थों पर उपचरित है। इसी प्रकार "रूढिवैचित्र्य वक्रता" के भीतर आनन्दवर्धन के अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य ध्वनि का अतर्भाव हो जाता है—

तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुग्रहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ।।

अर्थात्

तब ही गुण शोभा लहैं, सहृदय जबहि सराहि ।
कमल कमल हैं तबहि जब, रविकर सों विकसाहिं ।।

इतना ही नहीं कुन्तक ने काव्य में प्रतीयमान अर्थ की स्वीकृति स्वयं अपने ग्रन्थ में दी है। वे "विचित्र" मार्ग में वाक्य के अर्थ को प्रतीयमान होना स्वयं बतलाते हैं। उनकी दृष्टि में अनेक अलंकारों के द्विविध रूप होते हैं—वाच्य तथा प्रतीयमान। रूपक, उपमा, व्यतिरेक आदि अलंकारों को वे दो प्रकार का मानते हैं। एक में तो वाच्य अर्थ ही रहता है, परन्तु दूसरे में प्रतीयमान अर्थ की भी सत्ता रहती है। इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धांत प्रत्यक्षत: ध्वनि सिद्धान्त का विरोधी नहीं मालूम पड़ता है, अपितु किसी अंश में वह ध्वनि का अनुरोधी ही प्रतीत होता है।

इसी प्रकार रस सिद्धात का भी स्पष्ट विरोध नही है। रस वक्रोक्ति के प्रकारों में से अल्पतम प्रकार प्रतीत होता है। कुन्तक ने रस को प्रबन्धवक्रता के कतिपय भेदों में भूतपूर्व माना है। उनका स्पष्ट मत है कि कवियों को इतिवृत्त का आश्रय लेकर रचना नही करनी चाहिए अपितु रस से निरन्तर भरे हुए सन्दर्भों से अपनी रचना को पुष्ट करना चाहिए।

"निरन्तरसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भरा ।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिता ।।

कुन्तक रसज्ञ को सहृदय का पर्याय मानते हैं। सौभाग्यगुण के वर्णन के प्रसंग में सहृदय के लिए "सरसात्मनाम्" शब्द का प्रयोग किया है—

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ।।

अर्थात्—

(प्रतिभा के साथ-साथ व्युत्पत्ति वक्रोक्ति, गुण, मार्ग आदि काव्योचित) सम्पूर्ण सामग्री से सम्पादित करने योग्य सहृदयों के लिए अलौकिक चमत्कारी काव्य का प्राण-स्वरूप 'सौभाग्य' गुण है।

इस प्रकार वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धांतो में वाह्य द्वन्द्व होते हुए भी कुछ मौलिक साम्य भी है। दूसरे रूप में वक्रता का प्राचुर्य एक तरह से कल्पना का विकास ही है। कुन्तक ने ध्वनि अथवा प्रतीयमानता को इस कल्पना-विशिष्ट विचित्र मार्ग का प्रमुख गुण घोषित कर कल्पना पर आश्रित वक्रता और ध्वनि के इसी मौलिक साम्य की पुष्टि की है—

प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित् ।। १/४० ।।

औचित्य और ध्वनि

जिस प्रकार जीवन को सर्वाङ्ग सुन्दर व आदर्श बनाने के लिए जीवन में औचित्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार काव्य को भी सत्य शिव सुन्दर बनाने के लिए काव्य मे या काव्यशास्त्र मे औचित्य की महती आवश्यकता है। औचित्य के इसी महत्व को ध्यान मे रखकर आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का जीवित (प्राण) कहा है।

जिस प्रकार प्राण के बिना मनुष्य का शरीर चाहे वह कितना ही अलकृत क्यो न हो, या कितने ही गुणगणो से मण्डित क्यो न हो, व्यर्थ है, उसी प्रकार काव्य भी औचित्य बिना गुणालकार से भूषित होने पर भी सहृदयो के हृदयावर्जन करने मे असमर्थ है।

जीवन का प्रत्येक क्षेत्र, जैसे औचित्य के व्यापक प्रकाश मे अपने उत्कर्ष की पुष्टि करता है, चाहे उच्चावच इसकी कोई भी स्थिति या कोई भी स्तर हो। इसी प्रकार काव्य क्षेत्र का कोई भी अङ्ग—गुण अथवा अलकार ही क्यो न हो यदि उसकी औचित्यपूर्ण स्थिति नही है तो वह आकर्षण का कारण नहीं होता है अथवा हास्यास्पद होता है। इसीलिये क्षेमेन्द्र का यह कथन सत्य ही है कि—

"औचित्येन विना रुचि प्रतनुते नालकृतिर्नो गुणा"

जीवन को सामान्य बनाने के लिए व्यक्ति के जितने भी गुण-गण दयादाक्षिण्यादि या रूप-सौन्दर्यादि अलकार हैं, वे जब अपनी चरम सीमा मे मर्यादित होते हैं तभी किसी व्यक्ति के उत्कर्ष के विधायक होते हैं। व्यक्ति के जीवन मे सम्मानदायक इन उपकरणो का उचित मात्रा मे प्रयोग करना ही तो औचित्य है। अपने रूप, वय, प्रमाण, अवस्था व देशकाल, जाति आदि के अनुरूप सम्मानदायक उन उपकरणो का उचित मात्रा मे अपने अवस्था के अनुकूल ग्रहण करना ही उचित का भाव है। इसी उचित शब्द से भाव मे ष्यञ् प्रत्यय करने से औचित्य शब्द बनता है, जैसा कि स्वय आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है—

उचित प्राहुराचार्या सदृश किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भाव स्तदौचित्य प्रचक्षते ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन का कोई अङ्ग जिस प्रकार औचित्यपूर्ण होकर ही उसके उत्कर्ष मे सहायक होता है इसी प्रकार काव्य मे भी काव्य का प्रत्येक अङ्ग चाहे वह स्वल्प या महत्तम औचित्य से व्याप्त हो कर ही उसके उत्कर्ष का साधक हो सकता है। यही काव्य का व्यापक या स्थिर तत्व है—

अल कारास्त्वल कारा गुणा एव गुणा मता।
औचित्य रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम् ॥

साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य क्षेमेन्द्र थे। ये स्वतः ध्वनि-वादी थे तथापि "औचित्य विचार चर्चा" नामक ग्रंथ मे इन्होंने औचित्य को व्यापक तत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। औचित्य को यह महत्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही है। इनके मत में यह औचित्य ही रस का जीवितभूत है, उसका प्राण है, तथा काव्य में चमत्कारी तत्त्व है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारः क्रियतेऽधुना । (औ० वि०)

आनन्दवर्धन व अभिनव गुप्त औचित्य के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हैं, और व्यवहार में भी इसका यथावत् पालन करते हैं परन्तु वे क्षेमेन्द्र की तरह काव्य की आत्मा नही मानते हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है, और अभिनव भी इसी के पक्षपाती हैं पर वे ध्वनि के उत्तम अंश रस ध्वनि पर ही अधिक जोर देते हैं। आपका कथन लोचन में इस प्रकार हैं—

"उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेः जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्र उद्घोष्यते इति भावः"।

अर्थात्—ध्वनि या रस ध्वनि की ही सत्ता में औचित्य की भी प्रतिष्ठा हो सकती है, अन्यथा तो औचित्य का सिद्धान्त भी अप्रतिष्ठित ही रह जाता है। इस प्रकार काव्य क्षेत्र में औचित्य व ध्वनितत्व दो ही परस्पर उपकार्योपकारक भाव से अवतीर्ण हुए हैं।

डा० राघवन का कथन है कि क्षेमेन्द्र ने औचित्य को जो काव्य का जीवित कहा है, वह इस अभिप्राय से कि आत्मा एवं जीवित (सोल एवं लाइफ) के अन्तर को समझते हुए, अर्थात्—वे रस को तो काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं, और औचित्य को काव्य का जीवित (या प्राण) स्वीकार करते हैं, सम्भवतः यह बात इन्होंने—

"औचित्यरससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"।

इस वाक्य के आधार पर कही हो परन्तु क्षेमेन्द्र ने तो इसके विपरीत व्यापक रूप में ही औचित्य का प्रतिपादन किया है। अन्यथा अभिनव गुप्त का यह आक्षेप "तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यते" असगत सा हो जाता है।

हमारी सम्मति में तो यहां जीवित शब्द का केवल प्राण यह अर्थ न होकर व्यापक रूप में आत्मा ही इसका अर्थ क्षेमेन्द्र के मत में होना चाहिए, क्योंकि यहां यह जीवित शब्द ठीक 'वक्रोक्ति जीवित' के आधार पर रखा गया होगा, वक्रोक्ति-जीवितकार जैसे व्यापक अर्थ में वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानता है, ठीक उसी प्रकार यहां क्षेमेन्द्र भी जीवित शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में करते हैं। इसी को काव्य की आत्मा भी मानते हैं।

आत्मा के रूप मे न सही पर औचित्य को काव्य के महनीय तत्व के रूप में सभी आचार्यों ने अपनाया है। भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्य औचित्य के विषय मे समान रूप से सहमत हैं।

आचार्य कुन्तक के अनुसार औचित्य वक्रता का प्राण है—

"तत्र पदस्य तावदौचित्यम् ... वक्रताया पर रहस्यम्"

इन्होंने औचित्य को काव्य का सामान्य गुण माना है। आपके कथन के अनुसार प्रत्येक मार्ग मे दो सामान्य गुण और चार विशेष गुण होते हैं, इसमे सामान्य गुण हैं औचित्य और सौभाग्य, जो तीनो मार्गों मे अनिवार्य रूप से वर्तमान हैं।

"एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते॥

अर्थात्—इन तीनो मार्गों मे औचित्य और सौभाग्य ये दोनों गुण पद वाक्य तथा प्रबन्ध मे व्यापक और उज्ज्वल रूप मे रहते हैं। और कुन्तक की औचित्य की परिभाषा भी लगभग वैसी ही है जैसी उनके अर्धशताब्दी के पश्चात् क्षेमेन्द्र ने की है—

आञ्जस्येन स्वभावस्य महत्व येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्॥

अर्थात्—जिस स्पष्ट वर्णन-प्रकार के द्वारा स्वभाव के महत्व का पोषण होता है, वही औचित्य नामक गुण है, इसका मूल आधार है, उचित—यथानुरूपकथन।

इस प्रकार कुन्तक व क्षेमेन्द्र दोनो की औचित्य-कल्पना करीब-करीब एक समान ही है, जिसका आधार है यथानुरूपकथन—

औचित्य के विषय मे ध्वनिवादी होने के कारण पण्डितराज की भी वही धारणा है जैसी कि आनन्दवर्धनाचार्य की है। रस-दोषो की व्यवस्था मे औचित्य ही मापदण्ड के रूप मे प्रस्तुत हुआ है, जैसाकि ध्वनि-विरोधी व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने भी दोष निरूपण प्रसग में औचित्य को लेकर ही अतरग व बहिरग दोषो का विभाजन किया है। जैसा कि उन्होंने व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श के प्रारम्भ मे प्रदर्शित किया है—

इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम्, अर्थविषय शब्दविषयं चेति तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथ रसेषु विनियोगस्तन्मात्र लक्षणमेकमान्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते"

अर्थात्-यहाँ जो दो प्रकार का अनौचित्य कहा गया है—(१) शब्दविषयक और (२) अर्थ विषयक। इनमें से एक का स्वरूप विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारीभाव रसो मे जो (अनुचित) बेमेल उपयोग है, वह अन्तरङ्ग अनौचित्य है। इसका निरूपण पूर्ववर्ती आचार्यों ने कर ही दिया है।

यह अन्तरङ्ग अनौचित्य साक्षात् रस विषयक होने से इसे रस दोष भी कहते हैं, अर्थात्- विभावादि का यदि औचित्य—पूर्ण विनियोग नहीं होता है तो वहाँ रस दोष हो जाता है जो रस की प्रतीति में विघ्न स्वरूप होता है। इसी प्रकार शब्दार्थ का भी यदि औचित्यपूर्ण समिवेश नही होता है तो वह शब्दार्थदोष कहा जाता है, जो साक्षात् रस प्रतीति का विघातक न होकर शब्दार्थ द्वारा होता है। महिमभट्ट ने भी औचित्य को शब्दार्थ से लेकर रस तक अनिवार्य माना है। अन्यथा रस प्रतीति में चमत्कार नही आता या रसप्रतीलि सहृदयों के लिए सर्वथा आस्वाद्य नही होती, अतः जैसा कि पूर्वाचार्य आनन्दवर्धन का कहना है कि रसभङ्ग का कारण ही अनौचित्य है यह बात हमें भी मान्य है—

आनन्दवर्धन रसोपनिषत् के रहस्यपूर्ण ज्ञान के लिए औचित्य का समावेश परमावश्यक मानते हैं। जैसा कि उन्होंने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में रसाभिव्यक्ति की समीक्षा के प्रसङ्ग में कहा है—

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

अर्थात्—अनौचित्य से बढ़कर रस भंग मे कोई दूसरा कारण नही है। और प्रसिद्ध-औचित्य के उपन्यास से बढ़कर रस का प्रकाशक कोई भी दूसरा उत्तम उपाय नही है। रस भंग में अनौचित्य ही प्रधान कारण है, क्योंकि उससे असत्यता का आभास होने लगता है, परन्तु औचित्य तो उसी प्रकार रस को प्रकाशित करता है, जिस प्रकार उपनिषद् ग्रन्थ वेदान्त-प्रसिद्ध ब्रह्म तत्त्व को प्रकाशित करता है। इसलिए अनौचित्य का सर्वथा परित्याग कर औचित्य का अनुसरण करना चाहिए।

औचित्य एवं लोक-व्यवहार

रसाभास के वर्णन के प्रसग में पण्डितराज ने औचित्य व अनौचित्य का निर्णायक लोकव्यवहार ही माना है। रसाभास में अनौचित्य किसका माना जाय? विभावादि का माना जाय या रत्यादि स्थायी भावों का? इसमें एक पक्ष का कथन है कि विभावादि के अनौचित्य या अनुचित वर्णन से रसाभास होता है।

"अनुचितविभावालवनत्वं रसाभासत्वम्"

दूसरे पक्ष की ओर से कहा गया है कि रति आदि भावों के अनुचित रूप में प्रवृत्त होने पर या अनुचित रूप मे वर्णन होने पर रसाभाप मानना चाहिए।

तदपरे न क्षमन्ते मुनिपात्न्यादिविषयकरत्यादेः संग्रहेऽपि बहुनायकविषयायाः अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसंग्रहात्। तस्मादनौचित्येन रत्यादि विशेषणीयः"

इस प्रकार अनौचित्य को रत्यादि का विशेषण बना देने से बहुनायक-विषयक रति और अनुभयनिष्ठ-रीति का भी संग्रह हो जायेगा। कुछ भी हो अनौचित्य भावों का हो या विभावों का, रस अनौचित्य का मानदण्ड है लोक-व्यवहार, जहाँ लोगों की यह अनुचित है, ऐसी धारणा हो।

"विभावाद्यनौचित्य पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्, यत्र तेषामयुक्तमिति धीरिति"

पण्डितराज का यह लोकव्यवहार की दृष्टि से अनौचित्य का समर्थन करना एक प्रकार से, औचित्य की परिवर्तनशीलता को स्वीकार करना है। यह एक तरह से पुस्तकीय या परम्परागत रूप मे चले आ रहे विधि निषेध के प्रति विद्रोह की स्वीकृति है। सच भी यही है कि लोकव्यवहार देश, काल व परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील भी होता ही है। अत औचित्य या अनौचित्य के विषय मे भी प्राच्य व नवीनो मे कुछ मतभेद भी हो जाय तो कोई अयुक्ति नही है। जैसे—

व्यानम्राश्चनिताश्चैव स्फारिता परमाकुला
पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्या पतन्ति प्रथमा दृश ॥

पाञ्चाली के इस व्यवहार मे प्राचीनो ने रस माना है, और नवीनो ने रसाभास, ऐसा क्यों हुआ ? इसका कारण यही है कि उन दोनों युगो के बीच महान परिवर्तन आ चुका था और इस परिवर्तन का एकमात्र कारण है लोकव्यवहार, या लोकव्यवहार के मापदण्डो की परिवर्तनशीलता। पण्डितराज के समय के औचित्य के मापदण्डो मे निस्सन्देह प्राचीन काल की अपेक्षा कुछ परिवर्तन आ चुका था, तब औचित्य व अनौचित्य की व्याख्या भी उस लोकव्यवहार से प्रभावित होने लगी।

यह लोकव्यवहार भी विशेषकर देश काल व परिस्थिति पर निर्भर है, जैसा कि स्वय पण्डितराज व आनन्दवर्धनाचार्य आदि प्रमुख काव्यशास्त्रज्ञ मानते हैं। किसी एक ही वस्तु विशेष का आश्रयभेद से भी भेद हो जाता है।

जैसे पश्चिम के रगमञ्च पर किसी षोडशी का अधर पान आदि उतना अनुचित नही समझा जाता, जितना कि धर्मप्रधान देश भारत मे। क्योंकि भारतीय सहृदय के लिए वह वस्तु उद्वेजक है।

भारतीय कला मे नायिका की झुकी हुई बरुनियाँ ही उस दृश्य से कही अधिक रसास्वाद का सामर्थ्य रखती है। किन्तु अब धीरे-धीरे पश्चिमीय सभ्यता का प्रभाव भारतीय साहित्य मे भी उत्तरोत्तर पादविक्षेप कर रहा है। पण्डितराज ने बहुनायक विषया रति के आभास का एक उदाहरण दिया है—

भवन करुणावती विशती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयाम्बभूव ॥

पण्डितराजकालीन समाज सुन्दरी के इस विचित्र दृष्टि निपात को अनुचित कहेगा। किन्तु आज का समाज जो कि कुछ पश्चिमीय मान्यताओ मे घुल-मिल सा गया है, शायद उतना अनुचित नही समझेगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि रसनिष्पत्ति के लिए भी और चरित्र-विधान के लिए भी लोकव्यवहार ही औचित्य का मापदण्ड है। इसी की परिवर्तनशीलता के कारण परम्परा व संस्कृतियो की परस्पर समानता का समाहार हो रहा है। इस परिवर्तन-

शीलता के साथ औचित्य को स्वीकार करे पण्डितराज ने साहित्य के एक सत्य का उद्घाटन किया है।

रसाभास और औचित्य

जैसाकि पीछे कहा जा चुका है, रसाभास का कारण अनौचित्य है। इनमें से एक विभावादि का अनौचित्य, दूसरा-भाव-प्रवर्तन का अनौचित्य।

अब यहाँ यह देखना है कि यह उभयविध अनौचित्य काव्य में सहृदय की अनुभूति को किस प्रकार और किस मात्रा में प्रभावित करता है।

रसाभास को हम हेत्वाभास के समान भी नही मान सकते हैं। न्यायदर्शन का हेत्वाभास दुष्टहेतु माना जाता है, जो कि अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नही होता है। क्योंकि उसमें कही तो व्याप्तिज्ञान ही नही होगा, और कहीं अनुमिति नही होने पायेगी। परन्तु यहाँ काव्य में रसाभास को तो आचार्यों ने रसध्वनि के वर्ग मे ही गिनाया है फिर भी जहां तक सहृदय की अनुभूति का प्रश्न है, रस की विगलित-वेद्यान्तरता तथा तन्मयता रसाभास काव्य में सम्भव नहीं है। रस जहां काव्य-पाठक की चेतना को आत्मलीन करने की पूर्ण क्षमता रखता है, वहाँ रसाभास काव्य में वह क्षमता उसी मात्रा में स्वीकार नहीं करने देता है। क्योंकि यहाँ विभावादि के अथवा भावप्रवर्तन के अनौचित्य के कारण साधारणीकरण अपूर्ण सा ही रहता है। फलतः सहृदय की चेतना भी वहां पूर्ण लीन नही हो पाती है। इस विषय में पण्डितराज का कथन इस प्रकार है—

"तत्ररसाद्याभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणम्, निर्मलस्यैव रसादित्वात्"।

इस विषय में दो मत नहीं हो सकते हैं कि अनौचित्य के कारण रसाभास काव्यों में साधारणीकरण की अपूर्णता के कारण प्रमाता की चेतना की परिमिति का पूर्ण प्रमोषण भी नही हो सकता है। ऐसी अवस्था में सहृदय के मानस-पटल पर उपस्थित होकर विभावादि उसके भावों को कुछ हलके रूप में प्रभावित करके विभिन्न प्रतिक्रियाओं में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार के काव्य में प्रथम प्रतिक्रिया तो हमारे मन पर रति के उद्बोध रूप में ही होगी। किन्तु वह उद्बोध बड़े हलके ढंग का होगा, वह आस्वादन की सफल कोटि तक नहीं पहुंच सकेगा। इस स्थिति मे हमारी चेतना भोक्ता की अपेक्षा ज्ञाता के रूप में अधिक होगी।

अभिनवगुप्त रसाभास को ठीक उसी प्रकार मानते हैं, जैसे शुक्ति में रजत का आभास। शुक्ति में रजतत्व का भान करके जैसे कोई उसके पाने के लिए दौड़ पड़े ठीक इसी प्रकार—रावण सीता में आलम्बन का भान करके उसे पाने के लिए विकल होता है। यह आभासात्मक रति की आश्रय-पात्र-गत व्याख्या है—

"दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्"

इत्यादि मे रावणनिष्ठ सीता-विषयक रति के सम्बन्ध मे अभिनव का कहना है कि इसमे परस्पर रति सम्बन्ध के अभाव मे जब रति ही नहीं है, तो फिर रस कहा यह तो रत्याभास है—"ननु नाम रति स्थायिभावोऽस्ति परस्परास्थान्या भावात्, केनैतदुक्त रतिरीति, रत्याभासो हि स अत एव तदाभासत्व वस्तुतस्तत्र स्थाप्यते शुक्तौ रजताभासवत्" यह सब चर्चा पात्रगत है, अब सहृदयगन अनुभूति के विषय मे अभिनव गुप्त विचार करते हैं—

अत्रादौ सहृदयाना सीताविषयकरावणरते स्तन्मयीभावेनास्वाद्यतेति श्रृंगार-चर्वणैव, पश्चात्तदरतेरनुचितालम्बनत्वज्ञानेन तद्विषयकहासोद्‌बोधाद् हास्यचर्वणा श्रृंगारचर्वणा च तदाभासचर्वणेति।"

अर्थात् सहृदय की रसाभास की अनुभूति मे प्रथम प्रतिक्रिया प्रस्तुत भाव की ही होती है, परवर्तिनी किसी अन्य भाव की नही, इसलिए इसे रसास्वाद कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप-शृगाराभास मे प्रथम प्रतिक्रिया शृगार की होगी, द्वितीय हास्य की, अत वह शृगाराभास होगा।

रसाभास व हेत्वाभास मे अन्तर

न्याय की दृष्टि से जैसे हेतु एव हेत्वाभासो मे अन्तर है। ठीक इसी प्रकार रस व रसभास मे भी अन्तर माना जाता है। यह एक पक्ष की मान्यता है। "हेत्वाभास-त्वमिव हेतुत्वेनेत्येके, परन्तु रसाभावो के विषय मे यह समानता पूर्णतया नहीं घटती है। न्याय का हेत्वाभास-हेतु की तरह प्रतीत होने वाला दुष्ट हेतु है। वह अपने साध्य को सिद्ध करने मे बिलकुल असमर्थ है। परन्तु इस रूप मे रसभासो को नही माना जा सकता है। यद्यपि रसभासो मे वह पूर्ण आनन्द की स्थिति नहीं होती, तथापि एक हलकी कोटि का भाव का उद्‌बोधन, जिसमे कुछ न कुछ तन्मयता की अनुभूति जैसा कि अभिनवगुप्त ने माना है रसाभासो मे भी होती ही है। इसलिए रसाभासो की व्याख्या न्याय की दृष्टि से करना ठीक नही है।

पण्डितराज का विचार

पण्डितराज जगन्नाथ रसाभास को अश्वाभास की तरह मानते हैं। आपका कहना है कि रसाभास मे "भाव प्रवर्तन" मे अनौचित्य होता है, पर भाव का अभाव नही होता है। अनौचित्य से स्वरूप हानि नही होती है, पर अवमूल्यन जरूर होता है। "नहि अनुचितत्वेनात्महानि, अपि तु सदोषत्वादाभासव्यवहार"

"अश्वाभासादिव्यवहारवदित्येके"

किसी दोष से युक्त अश्व को हम अश्वाभास कह सकते हैं, किन्तु उसके अस्तित्व का ही लोप नहीं कर सकते हैं। ठीक यही बात रसाभास के विषय मे भी कही जा सकती है कि अनौचित्य से सहृदय की चेतना को पूर्णतया लीन नही होने दिया, तो क्या भावोदय बोध भी नहीं होने दिया? इस दृष्टि से निर्दोष सदोष भाव की सत्ता को

मानकर ही अनुभूति का विश्लेषण किया जा सकता है। तभी वह भावात्मक कोटि में आने की क्षमता रखता है।

परम्परा-पालन का औचित्य

पण्डितराज की शास्त्रीय प्रतिभा को जहां औचित्य के तत्त्व ने विभिन्न रूपों में प्रभावित किया है। वहाँ एक ओर औचित्य का प्रभाव स्वयं उन पर भी परिलक्षित होता है। यह है प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं को सुरक्षित रखने का औचित्य इसे हम परम्परा-पालन-सम्वन्धी औचित्य कह सकते हैं। पण्डितराज की आलोचना-प्रतिभा वड़ी मौलिक है, साथ ही साथ वड़ी सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण भी है। वे अपनी समीक्षा-चेतना को नये मार्ग पर ले जाकर स्वतन्त्र दृष्टिकोण से विचार करते है, किन्तु पुरानी मान्यताओ, नयी उद्भावनाओं के द्वारा ठेस नही पहुँचाते, पुरातन मान्यताओं में यदि कोई वहुत वड़ी भूल नही मालूम पड़ती तो उसे वे सुरक्षित ही रखना चाहते हैं।

इससे सवसे अधिक सम्मान वे भरत को प्रदान करते हैं। उदाहरण स्वरूप रस-संख्या को ही लीजिए, भक्तिरस व वात्सल्य रस साहित्य की साक्षी पर स्पष्ट हो स्वतन्त्र-औचित्य की योग करते हैं। कृष्ण भक्ति का विशाल साहित्य उनके समक्ष फैला हुआ है। और वात्सल्य का भी यही हाल है। सूर के साहित्य के रहते इन दो रसों के आस्तित्व का इन्कार करना, और इन्हे केवल रति भाव में अन्तर्भाव करना कठिन सा कार्य था, परन्तु पण्डितराज मम्मट के अनुसार इन्हे भी भाव ही कहते हैं। कारण कि प्राचीन मान्यताओं को जहां तक सम्भव हो, वने रहने देना चाहते हैं। अन्यथा और भी तर्क हो सकते हैं। कामिनी विषयक रति को भाव कहा जाए, और भगवद्-विषयक भाव को रस क्यो न कहा जाय, इसमें कोई विनिगमना नही है। जुगुप्सा एवं शोक शुद्ध भाव कहे जा सकते है, उन्हें भी रस नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उनमें भी प्रमाता की चेतना अमिश्र आनन्द का अनुभव नही करती है। किन्तु इन मामूली वातों पर वे भरत की मान्यता विक्षत नही करना चाहते हैं—

जहाँ तक मुनिवचन का पालन हो सके, जव तक किसी मूल सत्य की अवहेलना न होती हो, ऐसी वातों में पण्डितराज की दृष्टि में उच्छृंखलता है। जो कि स्वयं एक महान् अनौचित्य है।

"मुनिवचनानुपालनस्य सम्भव-उच्छृंखलताया अनौचित्यात्"

इस प्रकार इस परम्परा-पालन-सम्वन्धी औचित्य के दृष्टि-कोण ने पण्डितराज की कुशाग्र एवं तर्क-प्रवण प्रतिभा को वड़ा ही संतुलित रखा है। तथा भारतीय काव्य शास्त्र की एक दृढ नींव जमाने मे वड़ी सहायता की है।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति

शव्दार्थमय काव्य का आत्मा, सर्वस्वभूत, सहृदयों के हृदयाह्लाद का तत्व "ध्वनि" है ऐसा काव्यमर्मज्ञ विद्वानों का कहना है, परन्तु यह वहुत पहले की वात थी,

प्र प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य के कुछ निकट पूर्व में इस धारणा मे बहुत कुछ परिवर्तन आ चुका था, यह बात उनके 'बुधै समाम्नातपूर्व.' इन पदों से अभिव्यक्त होती है। उस समय तक बहुत कुछ परिवर्तन होने पर भी किसी न किसी रूप मे यह परम्परा चल ही रही थी, परन्तु विशिष्ट पुस्तको मे उस समय इस तत्त्व का विनिवेश नही था, फिर भी ध्वनि सम्प्रदाय अविच्छिन्न मूल था यह बात भी सम्यक् "आसमन्तात् म्नात प्रकटित" इस प्रकार की व्युत्पत्ति से उपलब्ध होती है।

ध्वनि लक्षण—कारिका मे स्वय ग्रथकार ने "सूरिभि कथित" इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि—

"विद्वदुपज्ञेयमुक्ति, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते"।

अर्थात्—अत्यन्त प्राचीन विद्वानो ने ही सबसे पहिले उक्त ध्वनि का निर्वचन किया है, न कि आधुनिक किसी नगण्य व्यक्ति की यह "ध्वनि" कपोल-कल्पित वस्तु है। सर्वप्रथम शब्द ब्रह्मवेत्ता वैय्याकरण ही ध्वनि शब्द का व्यवहार करते थे जगत् ही इस शब्द ब्रह्म का विवर्त है, जब सारा जगत् जो कि नाम रूपात्मक है, इस शब्द ब्रह्म मे व्याप्त है, तो फिर चतुर्दश या अष्टादश विद्या के विषय में तो कहना ही क्या है, ये सब तो इसी शब्द के अगभूत हैं, इसी शब्द-विद्या मे जो निष्णात हैं, उन्हे वैय्याकरण कहते, उन्हे ही विद्वानो में श्रेष्ठ माना जाता है। स्वय ग्रन्थकार का कहना भी है—

प्रथमे हि विद्वासो वैय्याकरणा व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्।

अर्थात्—सब विद्याओ का मूल व्याकरण है इसीलिए व्याकरणज्ञाता विद्वानों में प्रधान गिने जाते हैं।

ते हि श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।

वे प्रसिद्ध वैय्याकरण श्रूयमाण शब्दो मे ध्वनि का व्यवहार करते थे, अर्थात् पद-प्रत्यक्ष के बिना शब्द-बोध नहीं हो सकता है, यदि वर्णात्मक शब्द नित्य होय तो, क्षणमात्र मे विनष्ट होने वाले वर्णों का एक साथ मेल नहीं हो सकता है, तब उत्तर-उत्तर उत्तर वर्ण की अपक्षा पूर्व-पूर्व वर्ण के अभाव मे पद का प्रत्यक्ष ही नहीं होगा पद के प्रत्यक्षाभाव मे बाद मे पद समुदाय वाक्यार्थ ज्ञान भी असम्भव है, अत उक्त पद-पदार्थ व वाक्यार्थ ज्ञान के लिए, परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, इन वाणी-विभागों मे से मध्यमा-नाद से व्यङ्ग्य स्फोटात्मक अखण्ड शब्द को उन्होंने नित्य माना है। और इसी मध्यमानन्द मे ध्वनि शब्द का व्यवहार किया है। महाभाष्य मे भी लिखा है कि—

"अथवा प्रतीतपदार्थकोलोके ध्वनिशब्द उच्यते"।

प्रतीत होय पदार्थ जिससे या जिस वर्णात्मक शब्द से उसे ध्वनि कहते हैं—

बाद मे इसी व्यङ्ग्य व्यजकभाव की कल्पना को लेकर वैय्याकरणो के ही मतानुसार काव्यतत्त्वज्ञो ने भी वाचक शब्द मे वाच्य अर्थ मे व्यङ्ग्यार्थ मे और व्यङ्ग्य व व्यञ्जक के व्यजना व्यापार में भी और व्यङ्ग्यप्रधान काव्य मे भी ध्वनि शब्द का व्यवहार किया।

इस प्रकार इस ध्वनितत्त्व की उद्भावना तो बहुत पहले महाभाष्यकार पतञ्जलि व भर्तृहरि प्रभृति विद्वान ही कर चुके थे, यह कोई इस समय अपूर्व कल्पना नही, जिसका कि कपोल-कल्पनामात्र समझकर उपहास किया जाय। इसके विपरीत यह तो एक सम्प्रदाय-सिद्ध वस्तु है जिसका यों ही अपलाप नहीं किया जा सकता है।

ध्वन्यालोक के प्रथम कारिका मे जो "समाम्नातपूर्व." यह पद है, इसमें भी बहुत रहस्य है। वृत्ति मे यद्यपि इसका अर्थ 'परस्पर या अच्छी तरह प्रकट किया गया' ऐसा कहा है, अर्थात् अविच्छिन्न प्रवाह द्वारा ध्वनि का श्रवण तथा मनन हो ही रहा है, अतः यह तत्त्व सम्प्रदायमूलक है। अभिप्राय यह है कि इस तत्त्व का भी आम्नाय-वेद की तरह आविर्भाव हुआ है, जिस प्रकार आम्नाय-वेद का अभी तक सम्प्रदाय के अनुसार श्रवण मनन हो रहा है, उसी प्रकार इस ध्वनितत्त्व का भी जिसके विषय मे जगज्जननी देवी पार्वती ने जिज्ञासा की थी, भूतभावन भगवान शिव के प्रति। उन्ही के मुखारविन्द से आम्नाय की तरह इसका भी आविर्भाव हुआ, इस रहस्य का सकेत शैव-दर्शन के नेत्रतन्त्र नामक ग्रथ के प्रथम पटल मे शिवपार्वतीसम्वाद के प्रसंग में क्षेमराज-रचित उद्योत व्याख्यान में मिलता है—

एव देव्या वचः श्रुत्वा, प्रहासवदनोऽब्रवीत्।

उद्योत—प्रकृष्टो हासः परनाददशा समावेशोऽट्टाहासो वदनेऽभिधाने यस्य—

"अदृष्ट विग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात्।
ध्वनि रूप विनिष्क्रान्त शास्त्रम्॥

इत्याम्नायपूक्तत्वात्। अथ च प्रहाससात्त्विकभावोदयात् प्रफुल्लं वक्त्रं यस्य॥

इसी तत्त्व के पुनः प्रचार व प्रसार की दृष्टि से आनन्दवर्धनाचार्य सहृदयों को पुनः सचेत कर रहे हैं क्योकि उस युग की एक निरूढ़ धारणा यह हो चुकी थी कि "काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्र-वचनो गृह्यते॥"

गुणालंकार रीति से संस्कृत शब्दार्थ मे ही उस समय तक काव्य शब्द का बोलबाला था। वामनाचार्य भी इससे एक कदम भी आगे नही बढना चाहते थे। अपने सुसंस्कृत काव्य का रथ वे यही रोक लेना चाहते थे। कुछ तो वे अपने खुद के झंझट से शिथिल हो चुके थे, और क्योकि इसी बीच मे वे एक नई चीज कह चुके थे—"रीति-रात्मा काव्यस्य" जिसकी ओर अभी तक अलंकारवादियों की दृष्टि भी नही गई थी। दूसरी ओर वे कुछ पूर्वाग्रह से भी दबे हुए से मालूम पड़ते है, क्योंकि वे सौन्दर्य-तत्त्व के लिए फिर मुहताज जैसे हो जाते हैं। वे पूर्वाचार्यो की मान्यता के पक्ष में "काव्यं ग्राह्यमलंकारात्" कहकर अलंकार की व्यापकता का भी समर्थन करते हैं। पुनः काव्यत्व का पूरा भार भी रीति पर नही देना चाहते हैं। बीच में ही विशेषता के

लिये गुणो की तरफ पक्षपात करते हैं। फलत वामन का काव्यवादी दृष्टिकोण एक देह-वादी चार्वाक से मिलता-जुलता है, जो अनेक भूतों के सम्मिश्रण से ही चैतन्य की भी झलक मानता है।

ऐसे असमजस के वातावरण में काव्यक्षेत्र मे सर्वात्मना ध्वनि को उसकी आत्मा के रूप मे घोषित कर देना आनन्दवर्धन के लिए असम्भव नही तो कठिन अवश्य था, जब कि ध्वनि के विषय मे अनेक तरह की अफवाह चल रही थी। ग्रन्थकार के समकालिक किसी कवि ने जिनका सकलन एक श्लोक मे किया है—

यस्मिन्नास्ति न वस्तु किंचन मन प्रह्लादि सालकृति,
व्युत्पन्नै रचित च नैव वचनै वक्रोक्तिशून्य च यत्।
काव्य तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशसन्जडो,
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्ट स्वरूप ध्वने ॥

यह श्लोक ग्रंथकार के समकालिक मनोरथ नामक कवि का है ऐसा लोचनकार अभिनवगुप्त का कहना है। ध्वन्यभाववादियो की तरफ से कहा गया है कि ऐसा काव्य किस काम का जिसमे अलकारो से अलकृत सहृदयानन्दजनक कोई अर्थ ही न हो, जो व्युत्पत्तिवर्धना परिनिष्ठित शब्द-रचना से शून्य हो, (यहा क्रमश अर्थालकार व शब्दालकार की शून्यता दिखाई गई है)।

जो शब्दार्थालकार-शून्य रचना हो अर्थात् न जिसमे शब्द-जन्य चमत्कार हो, न अर्थजन्य ही ऐसे काव्य का हमे क्या करना? और जो वक्रोक्ति=अर्थात् उत्कृष्ट सघटना से भी शून्य हो, अर्थात् जिसमे शब्दार्थ गुणो का भी अभाव हो। यद्यपि भामह के समय मे वक्रोक्ति सर्वालकार बीजरूप मे मानी गई और वामन के समय मे आते-आते इसने सामान्यलक्षणा का रूप धारण कर लिया था, जैसा कि स्वय वामन का कहना है 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति' परन्तु वामन के बाद आनन्द के समय तक वामन के "रीतिरात्मा काव्यस्य" के पदसघटना विशिष्ट रीति का ही बोलबाला था। गुणालकारसुसस्कृतपद रचना मे लोग काव्य-सौन्दर्य का अनुभव कर लेते थे। चलते चलते यह वक्रोक्ति शब्द उत्कृष्ट सघटना के लिए प्रसिद्ध हो गया, जैसा कि अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति-शब्द का अर्थ किया है—"उत्कृष्ट सघटना" इत्यादि।

ध्वन्यालोक के दीधिति टीकाकार कविशेखर बद्रीनाथ शर्मा जी ने दीधिति-टीका मे अनवधानता के कारण, वक्रोक्ति शब्द का अर्थ "कुन्तलाद्भावितकाव्य-जीवितेन" किया है। वक्रोक्ति-जीवितकार कुन्तक का समय आनन्दवर्धन से करीब एक शताब्दी बाद का है, और फिर ग्रथकार के समय तक तो वक्रोक्ति का उतना विकास भी नही हुआ था, जिससे कि उसे काव्यजीवित के रूप मे स्वीकृत किया जाय।

प्रकृत में यहीं कहना है कि उस समय की मान्यता के अनुसार
से काव्य में चारुत्व समझा जाता था, इस ध्वनिवादी के काव्य मे उनमे से ए
नही हैं। इस तरह यह ध्वनिवादी स्वयं अपने मुहमिया मिट्ठू बनकर जो ध्वनि
की प्रशंसा कर रहा है। इसमे कोई वजह मालुम नही पड़ रही है कि क्यों इतनी प्रशंसा कर रहा है। खैर अनजाने लोगो मे तो चाहे जो कुछ भी कह दे, पर कही कभी किसी विद्वान् ने यदि ध्वनि के स्वरूप के विषय मे कुछ पूँछ लिया, तो क्या उत्तर देगा ?

इस प्रकार ध्वनि के विषय मे जब अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियो का जाल बनने लग गया तो उसके स्वरूप, लक्षण व प्रकारो का व्याख्यान करना आनन्दवर्धन के लिए अनिवार्य सा हो गया। तब उन्होने ध्वनि-काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्व० १/१३ ।।

जहाँ अर्थ स्वय को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके, उस प्रतीयमान अर्थ को प्रकाशित करते है, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनिकाव्य कहा है। प्रतीयमान अर्थ का निर्वचन स्वयं ग्रंथकार ने इन शब्दों से किया है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ।।

अर्थात्—प्रतीयमान या व्यङ्ग्यार्थ वाच्यादि अर्थो से कुछ विलक्षण ही है। जो कि रमणियो के प्रसिद्ध मुख-नेत्रादि अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य=सौन्दर्य समान महाकवियो की सूक्तियों मे भासित होता है।

साहित्य जगत में प्रायः वही कविता हृदय-हारिणी समझी जाती है, जिसमें कामिनी-कुच-कलश की तरह शब्दार्थ मे विहित तथा उन्ही से अभिव्यक्त व्यङ्ग्य रसिकों के लिए अलौकिक आनन्द प्रदान करे। यही काव्य का सर्वस्व है।

यह व्यङ्ग्यार्थ न तो अभिधा-वृत्ति का विषय है और न ही लक्षणावृत्ति का विषय है, अपितु व्यंजनावृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त होकर ही सहृदयों के हृदय के लिए परमाह्लाद का विषय बनता है।

इस व्यंजना-व्यापार का या व्यङ्ग्यार्थ का महत्त्व केवल विदग्धपरिषद्, कवि-गोष्ठी या सहृदयो तक ही सीमित नहीं है, अपितु जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप मे इसका प्रभुत्व तथा महत्त्व है। काव्य से लेकर सामान्य लोक-व्यवहार मे भी उसकी प्रतिदिन महती आवश्यकता पड़ती है। बालक से लेकर वृद्ध तक और रंक से लेकर राजा तक सभी के लिए यह व्यापार उतना ही उपादेय है, जितना कि अपना अभीष्ट इष्ट वस्तु या अभीष्ट जन।

इस विर्शा मे काव्यात्मक ध्वनि एक मौलिक व व्यापक सिद्धात माना जाता है, क्योकि काव्य का कोई भी ऐसा प्रकार नही है जो ध्वनि से विमुख होता हो। रस तो ध्वनि का एक प्रमुख अङ्ग है ही, पर और भी काव्य के जो प्रकार है उनमे भी साक्षात् या असाक्षात् ध्वनि की व्याप्ति है। फिर भी रस के साथ ध्वनि का घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योकि रस के विना ध्वनि की साक्षात् या पायन्तिकी कोई स्थिति नही है और रस भी ध्वनित हुए विना रस नही कहा जा सकता है। अत काव्य मे ध्वनि को सरस रमणीय होना और रस को ध्वनित या व्यङ्ग्य होना परमावश्यक है।

काव्य के भेद

आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य के तीन भेद है—उत्तम, मध्यम और अधम। इन्हे क्रमश ध्वनि काव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य और चित्रकाव्य कहते है। इसमे ध्वनि काव्य के अन्तर्गत अविवक्षितवाच्य व विवक्षितान्यपरवाच्य के सारे भेद आ जाते है।

ध्वनि काव्य का लक्षण "यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थ०" इत्यादि जिसकी व्याख्या पहले कर चुके है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य मध्यम दर्जे का काव्य कहलाता है। इसमे व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य मे अधिक चमत्कार रहता है। जैसा कि ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत मे कहा है—

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्व स्यात् प्रकर्षवत्॥ ध्व० ४/२५

तृतीय चित्रकाव्य जिसे अधम काव्य या अवर काव्य भी कहा जाता है। यह काव्य का वह प्रकार है जहा केवल वाच्य-वाचक के वैचित्र्य अलकारादि की प्रधानता होती है, व्यङ्ग्यार्थ जहा कवि विवक्षारहित होता है, अर्थात् जिसमे कवि का सरम्भ केवल शब्दालकार की छटा के प्रदर्शन मे रहता है।

चित्र शब्दार्थभेदेन द्विविध च व्यवस्थितम्।
तत्र किंचिच्छब्दचित्र वाच्यचित्रमत परम्॥

ध्वनि के भेद

ध्वनि के मुख्यत दो भेद है—अविवक्षितवाच्य ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। इनमे से अविवक्षितवाच्यध्वनि को लक्षणामूला ध्वनि कहते है और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि को अभिधामूला ध्वनि कहते है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि या लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद होते है—

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि और अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि। जहा मुख्यार्थ बाध के कारण वाच्य अपने मुख्य अर्थ को बिलकुल छोड देता है, उसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य कहते है जैसे—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

यहां सम्पूर्ण वाक्य का मुख्यार्थ बाधित है, क्योंकि न तो पृथिवी कभी सुवर्ण-पुष्पमयी होती है और न उसका चयन ही सम्भव है। इसलिए लक्षणा की सहायता से इसका व्यङ्ग्यार्थ यह होगा कि तीन प्रकार के नर श्रेष्ठ वसुन्धरा से समृद्धि का उपार्जन करते हैं। इस ध्वनि के मूल में लक्षण-लक्षणा या जहत्स्वार्थ-लक्षणा रहने से इसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहते हैं।

दूसरा भेद है—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि। इसमे मुख्यार्थबाधित होता हुआ अर्थान्तर मे सक्रमित हो जाता है। जैसे—

"स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तनियतः" इत्यादि श्लोक मे "रामोऽस्मि सर्वं सहे" यहाँ राम पद में अर्थान्तिरसंक्रमितवाच्य ध्वनि है। यहाँ राम शब्द केवल दशरथापत्य या दाशरथिरूप वाच्यार्थ को ही नहीं बतलाता, अपितु तादृश राज्य-परित्याग भीषणवन-गमन अनेक दुर्घटना-जन्य दुःखातिशय को सहन करने वाले एक विलक्षण अत्यन्तगंभीर राम का प्रतिपादन करता है, अतएव राम पद के तादृश विशिष्टार्थ में परिणत होने से स्पष्ट ही यह अर्थान्तिरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का उदाहरण है।

लक्षणामूला ध्वनि या अविवक्षितवाच्य ध्वनि स्वभावतः प्रयोजनवती लक्षणा के ही आश्रित रहती है क्योंकि इसका प्रयोजन हमेशा व्यंजनागम्य ही होता है।

अभिधामूला ध्वनि

इसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि भी कहते हैं। इसके भी दो भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य—जहां वाच्य और व्यंग्य की प्रतीति मे क्रम लक्षित नही होता है। यहाँ विभावादि से रसादि की प्रतीति इतनी शीघ्र होती है कि मध्य मे कोई क्रम लक्षित नही होता है, इसलिए इसको असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहते हैं। सारे रस-भावादि ध्वनि इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य—इसमें वाच्यार्थ व व्यंग्यार्थ के प्रतीति का क्रम सम्यक् लक्षित होता है, इसीलिए इसे संलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहते हैं। इसके तीन भेद होते हैं—

(१) शब्दशक्त्युद्भव, (२) अर्थशक्त्युद्भव, (३) उभयशक्त्युद्भव।

अर्थात्—ध्वनि कही शब्द के आश्रित रहती है, और कही अर्थ के आश्रित रहती है और कही शब्दार्थ उभय के आश्रित रहती है। इसमे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के पुनः वस्तु व अलंकार के भेद से दो भेद होते हैं और अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के परस्पर वस्तु से अलंकार और अलंकार से वस्तु इत्यादि क्रम से बारह भेद होते हैं। शब्दार्थ शक्त्युद्भव का एक ही भेद होता है। संक्षेप मे ध्वनि के ये अठारह प्रमुख भेद होते हैं, जिनका विस्तार से विवेचन आगे किया जाएगा।

प्रस्तुत ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना के मुख्य दो उद्देश्य ध्वनिकार को मालूम पड़ते हैं। एक तो निर्भ्रांत रूप से ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना, दूसरा अन्य सभी प्रचलित काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तो को ध्वनि में ही अन्तर्भूत करना। वस्तुत ध्वनिकार ने ध्वनि को इतना व्यापक रूप दे दिया कि उसमे उनके न केवल पूर्ववर्ती रस गुण रीति अलकार आदि का ही अन्तर्भाव होता है, अपितु ध्वनि सिद्धान्त के परवर्ती वक्रोक्ति औचित्य आदि की भी उससे बाहर स्थिति नही है। न केवल संस्कृत काव्यशास्त्र मे वर्णित पुरातन काव्य सिद्धान्त ही ध्वनि से अनुगृहीत है, बल्कि ध्वनि सिद्धान्त के बहुत समय बाद वर्तमान समय के हिन्दी आदि साहित्यो मे प्रचलित छायावाद, रहस्यवाद एवं प्रगतिवाद जैसे नूतन सिद्धान्तों का भी उपजीव्य यही ध्वनिसिद्धान्त है। ध्वनि के ही निर्मल आलोक की किन्ही विचित्र प्रभाओ का यह अभिनव नामांकन तत्तत् सिद्धान्तो, वादों व रहस्यो के नाम पर आज भी सहृदयो के हृदयों को आच्छादित कर रहा है। यह एक तरह से ध्वनि सिद्धान्त का ही सूक्ष्म अनुसधान है, जो उसकी केवल छाया मात्र से सरस होकर साहित्य रसिको के आस्वाद का विषय बना हुआ है। ध्वनिकार ने स्वय इस सिद्धान्त की इयत्ता का निर्धारण नही किया है। प्रतिभा के आनन्त्य से काव्यप्रकारो का भी आनन्त्य उन्होने माना है। ध्वनि के किसी भी प्रकार विशेष से प्रभावित कवि की वाणी अभिनव चमत्कार का विस्तार करती है। मधुमास-वसन्त के आने पर जैसे वृक्ष नवीन मालूम पड़ते है, इसी प्रकार ध्वनि के समावेश से वाणी मे भी नवत्व आ जाता है—

अतो ह्यन्यतमेनाऽपि प्रकारेण विभूषिता
वाणी नवत्वमायाति इत्यादि—

आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा निरूपित जिस प्रतीयमान के लावण्य के लेशमात्र की प्रतिस्पर्धा मे आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिवाद को खड़ा किया, उसी वक्रता के वैभव का सदुपयोग कर आधुनिक छायावाद का निर्माण हुआ। आनन्द के लावण्य के वैचित्र्य की विच्छित्ति-विशेष ही तो छाया हुई। इसी छायावाद के सौन्दर्य से मुग्ध आधुनिक सहृदय जिस अनुभूति की वस्तुपरक व्याख्या के वैचित्र्य से चित्रित, प्रस्तुत व अप्रस्तुत विधानो के प्रतीको की उपासना करते हैं इसी छाया के रहस्य का निर्वचन आचार्य कुन्तक ने कितने सुन्दर शब्दों मे किया है—

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्त स्फुरतीव विभाव्यते॥

अर्थात् शब्द व अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति क॰ सृजन करती है, इस वैचित्र्य का करना विदग्ध कवि का ही काम है।

छायावाद ने इस वक्रता मे दोनो प्रकार के वैभव को ग्रहण किया है, विदग्धता को और चारुता को।

वक्रोक्ति केवल वाक्चातुर्य या उक्तिवैचित्र्य ही न होकर एक कमनीय कवि-व्यापार है, अथवा कवि-कौशल या कला की प्रतिष्ठा। इस कला की भी पार्यन्तिक

प्रतिष्ठा ध्वनि ही है जो सहृदय के लिए भी आह्लादकारी है। वक्रोक्ति जहाँ केवल कवि-कौशल के प्रदर्शन में ही अपनी सफलता समझता है, वहां ध्वनि सहृदयों के हृदय तक स्पर्श करने की क्षमता रखती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मानसिक आह्लाद के तीन स्तर हैं, या तीन पक्ष हैं, जिन्हें हम बोध पक्ष, कल्पना पक्ष और अनुभूति पक्ष कह सकते हैं। बोध पक्ष शब्दार्थ की व्युत्पत्ति विशेष से सम्बन्ध रखता है, जिसके अन्तर्गत शब्दार्थ-संघटना व गुणालंकार-सन्निवेश विशेष की प्रधानता है। इसके उन्नायक हैं आचार्य वामन। दण्डी भी करीब-करीब इसी पक्ष के समर्थक मालूम पड़ते है। इस पक्ष मे शब्दार्थ के वैशिष्ट्य से या पदरचना व तत्सम्बन्धी गुणों के सन्निवेश विशेष के विचार से चमत्कार की कल्पना की जाती है।

दूसरा पक्ष है कल्पना पक्ष—यह पक्ष मूलतः अलंकार पर आश्रित होने पर भी कथन-प्रकार के कौशल पर अवलम्बित रहता है। या निर्वचन के असाधारण भंगिमा का आश्रय लेता है। इसके प्रवर्तक हैं आचार्य कुन्तक। कल्पना का मूल आधार लेकर वक्रोक्ति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है। एक तरह से यह अलकार का ही विकास या सुपरिणाम है। इस प्रकार वक्रोक्ति, कवि व्यापार कल्पना, कला ये सारे शब्द कल्पना पक्ष के लिए प्रयुक्त किये जा सकते हैं, कुन्तक की यह कल्पना कवि कौशल पर आश्रित होने के कारण काव्यनिष्ठ और पर्यन्त मे वस्तुनिष्ठ बन जाती है।

अनुभूति पक्ष—काव्य का महत्वपूर्ण पक्ष है। यह सहृदय के मन व बुद्धि से गुजरता हुआ हृदय तक को स्पर्श करने की क्षमता रखता है।

ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार काव्य के आस्वाद मे मूलतः हमारी चित्तवृत्ति ही उद्दीप्त होती है, जबकि रीति या वक्रोक्ति सिद्धांत मे हमारे कल्पनापूर्ण विचार ही उद्दीप्त होते हैं, इसलिए ध्वनि सिद्धांत ही काव्य का प्राणतत्त्व है, या भाव है। इसी भाव के आधार पर ही काव्य सहृदय को प्रभावित करता हुआ उसके चित्त में वासनारूप से स्थित भाव को भी उद्दीप्त कर आनन्दरूप मे परिणत कर देता है। इस प्रकार यह ध्वनि सिद्धान्त मूलतः भाव का व्यापार है जिसका सर्वोत्कृष्ट रूप रस है। इसके विषय में कहा है कि "न रसहीनोऽस्ति भावः, न भावो रसवर्जितः। परस्परकृता-सिद्धिरनयो रसभावयो." ॥

लोक में मानवों के अन्तःकरण मे प्रस्तुत रति आदि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य व सहकारी कारण होते है, वे ही काव्य व नाट्य में वर्णित हो तो क्रमशः विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव कहलाते हैं, इन्हीं विभावादिकों से अभिव्यक्त वह रत्यादि स्थायीभाव ही रस कहलाते हैं। जैसाकि आचार्य मम्मट का कहना है—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः
व्यक्तः स तै विभावाद्यैः स्थायीभावो रस स्मृतः ॥

स्थायीभाव—यद्यपि ये रत्यादि सब अन्त करण की वृत्ति रूप है, वृत्ति विशेष होने के कारण आशुविनाशी व अस्थिर हैं, इन्ही को अन्य शास्त्रकार या मनोवैज्ञानिक भाव-शब्द से कहते हैं। ये भाव कभी अनुकूल होते हैं, और कभी प्रतिकूल होते हैं। समुद्र की तरग की तरह ये चचल है, पर इनका सस्कार जिसे वासना भी कहते हैं वह स्थिर हैं, यही वासना सूक्ष्मरूप मे स्थिर होने के कारण स्थायीभाव कहा जाता है। आधुनिक भाषा मे इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं—

मनुष्य के अवचेतन मन के अन्तराल मे बहुत समय तक सूक्ष्म रूप मे छिपने वाले भाव को ही स्थायीभाव कहते हैं।

यही प्रस्तुत सस्कार उपयुक्त-विभावादि-सामग्री को प्राप्त कर जब अभिव्यक्त होता है, "रस" इस सज्ञा को प्राप्त करता है। प्रदीपकार के मत मे यही—व्यक्ति-विषयीभूत इत्यादि है, और पण्डितराज के कथनानुसार—भग्नावरण चित् है। आनन्दवर्धन जिसे काव्यात्मा कहते हैं—

काव्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत ॥

यह रस परमानन्द स्वरूप है, इसमे किसी की विमति नही हैं, किसी ने आह्लाद, किसी ने चमत्कार व आनन्दादि शब्दो द्वारा इसका प्रतिपादन किया है। भगवती श्रुति भी कहती है "रसो वै स" "रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति"

इसी रस लाभ के लिए कवियो की काव्य-निर्माण के लिए और सहृदयो की काव्यास्वाद के लिए प्रवृत्ति होती है।

इस प्रसग मे विचारको की कुछ सम्मतिया इस प्रकार दिखाई देती है कि यह कवि-सृष्टि या कविकर्मविशेष काव्य तो केवल कल्पना प्रसूत है, या किसी असत्य कल्पित घटना के ऊपर आश्रित होता है, अत मिथ्या है। देखा जाता है कि बाणभट्ट की कादम्बरी मे कादम्बरी व महाश्वेता आदि कथा-नायिकायें केवल कल्पना-मात्र है। इस प्रकार के असत्य या कल्पित वस्तु से सत्य आनन्द की प्राप्ति तो असम्भव सी लगती है। अत यह कवि सृष्टि या काव्य का कल्पना-प्रकार या विस्तार कदापि जनहित के लिए या कल्याणकारक उपदेश के लिए समर्थ नही हो सकता है।

इसके उत्तर मे यही कहना है कि कवि या काव्य किसी न किसी उद्देश्य अथवा तत्त्व निर्णय के लिए प्रवृत्त होता है। जिस प्रकार वैज्ञानिक और दार्शनिक किसी किसी तत्त्व के अनुसधान या निर्णय के लिए अग्रसर होते है, उसी प्रकार कवि भी अपनी कमनीय कृति के माध्यम से निश्चित ही किसी तत्त्व के निर्णय या प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि ये तीनो वैज्ञानिक, दार्शनिक और कवि तत्त्व-निर्णय के लिए ही प्रयास करते हैं, भले ही इनके मार्ग एक न होकर भिन्न-भिन्न हो।

उनमें वैज्ञानिक व दार्शनिक तो किसी वस्तु के तत्त्व-परीक्षण के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा रखते हैं, इन प्रमाणों द्वारा अन्य उपकरणों से किन्ही प्रमेयो का परीक्षण करके फिर उसके सत्यत्वासत्यत्व का निर्णय करते हैं और अनुभव के आधार पर किसी वस्तु के सुखात्मक या दुःखात्मक रूप का निर्धारण करते हैं। परन्तु कवि केवल प्रत्याक्षादि प्रमाण सामग्री पर ही निर्भर नही रहता है। उसका सुख भी इनके पारिभाषिक सुख से कुछ विलक्षण ही है, और वह निरतिशय सुख वेद्यान्तरस्पर्शशून्य है, इसकी प्रामाणिकता में सहृदय ही साक्षी है। उक्त सुखानुभूति के साक्षात्कार में काव्यवासनावासित प्रतिभा ही कारण है। अतः कवि अपने प्रतिभा-चक्षु से जिस पदार्थ की परिकल्पना करता है वह लोकोत्तीर्ण व असाधारण रूप में हमें काव्य में उपवर्णित मिलता है। कवि के दर्शन व वर्णन के विषयीभूत पदार्थ के विषय मे किसी प्रकार की कुत्सित भावना करना या अमांगलिक कल्पना करना, अपनी मति की मन्दता को ही प्रकट करना है। कवि के लिए यह संसार परमेश्वर की दिव्य लीला का ललित निकेतन है, और सत्यं शिवं सुन्दरम् का आगार है। फिर इसमे दुःख तो क्या दुःख की छाया भी नही है। भारतीय कवि का यह एक दृढ़ सिद्धान्त है कि मानव-प्रवृत्ति ही आनन्द से आनन्द के लिए और आनन्द तक हुई है, अपनी अपरोक्षानुभूति से तत्त्वदृष्टा कवि जिस पदार्थ को देखता है, उसका वर्णन भी वह अपने रमणीय शब्दों द्वारा करता है।

कवि अपने तत्त्वदर्शन व तत्त्वप्रकाशन कार्य में सर्वथा स्वतन्त्र है। इसीलिए कवि को क्रान्तदर्शी कहा गया है। महतौत की यह उक्ति भी यथार्थ है कि—

नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांश तत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥

कवि अनृषि नही होता अपितु वह ऋषि होता है, क्योंकि वह पदार्थों, विचित्रधर्मों के सूक्ष्म तत्वों का दर्शन करता है। अतः कवि कर्म किसी सत्य का ही अन्वेषण करता है। जिसका अन्वेषण वैज्ञानिक लोग प्रकारान्तर से करते हैं। कवि जिस सत्य का अन्वेषण करता है, वह है आनन्दरूप, जिसका साक्षात्कार सामान्य जन नही कर सकते हैं, इस दुःख बहुल संसार में सुख व शान्ति के लिए या निरतिशय सुखस्वरूप परमपदार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए परमाह्लादजनक होने के कारण काव्य का सेवन अवश्य करना चाहिए। यही वाणी का रहस्य है, अथवा सरस्वती का सुमधुर प्रसाद है, जो कवि और सहृदय के हृदय में विराजमान रहता है, जैसाकि महामाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है—

"सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते"

आचार्य मम्मट के शब्दों मे काव्य अमंगल-निवारण के लिए तथा सद्यः परमशान्ति के लिए है—"शिवेतरक्षतये" "सद्यः परनिर्वृतये"

प्रथम उद्योत

ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य विषय

मङ्गलाचरण

स्वेच्छा केसरिण स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दव ।
त्रायन्तां वो मधुरिपो प्रपन्नार्तिच्छिदो नखा ॥

अपनी स्वाभाविक इच्छा से (किसी कर्म व आज्ञा के परतन्त्रता से नहीं) सिंह रूप को धारण करने वाले, भगवान् मधुरिपु (मधु नामक दैत्य के शत्रु) के अपनी निर्मल कान्ति के द्वारा चन्द्रमा को भी आयासित (खिन्न) करने वाले, एव अपनी शरण मे आये हुए प्रतिजनो के कष्ट को नष्ट करने वाले, नख आप लोगो (व्याख्याताओ एव श्रोताओ) की रक्षा करें ।

प्रस्तुत पद्य के द्वारा सहृदय चूडामणि आनन्दवर्धनाचार्य निरन्तर परमेश्वर के भजन पूजन व नमस्कार सम्पत्ति से कृतार्थ होते हुए भी, व्याख्याता एव श्रोताओ के निर्विघ्न व्याख्या एव श्रवणरूप फल सम्पत्ति के लाभ के लिए, समुचित आशीर्वाद के प्रकाशन के द्वारा परमेश्वर से व्याख्याताओ एव श्रोताओ के कल्याण की कामना करते हैं ।

उक्त आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण की व्याख्या करते हुए लोचनकार कहते हैं कि ग्रन्थकार अर्थात् आनन्दवर्धनाचार्य यहाँ इस मङ्गल पद्य द्वारा व्याख्याताओ एव श्रोताओ के लिए निर्विघ्नता की कामना परमेश्वर से कर रहे हैं । वे स्वय अपने लिए (या उक्त ग्रन्थ की रचना मे सम्भावित विघ्नो की शान्ति के लिए) कुछ भी नही कह रहे हैं । क्योंकि ग्रन्थकार तो निरन्तर भगवद् भजन-पूजन व नमन रूप सत्सम्पत्ति से कृतार्थ ही हैं । ऐसी स्थिति मे जहाँ भगवद्चरणारविन्द मे तल्लीनता या वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता है, अर्थात् भगवदद्वैतता है, वहाँ फिर अपने लिए विघ्नो की आशका ही कहाँ ? क्योंकि "द्वितीयाद् वै भय भवति" इस नियम से जहाँ द्वैत वासना होती है, वही भय की आशका भी होती है, यहाँ तो जब ग्रन्थकार का भगवत्तादात्म्य ही है, तो फिर विघ्नो का सन्देह ही कहाँ ? इसीलिए "लोचन" टीका मे अभिनवगुप्त पादाचार्य ने लिखा है—

"वो युष्मान् व्याख्यातृश्रोतृ स्त्रायन्ताम, तेषामेव सम्बोधनयोग्यत्वात् सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थ ।"

यहाँ लोचनकार का यह भी कहना है कि उक्त मङ्गलाचरण मे मेरे गुरुजी (अर्थात् महेन्द्र राजाचार्य) ने रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि का व्याख्यान

किया है। ये तीनों ध्वनि उत्तम काव्य के अन्तर्गत है। इनमे भी रसध्वनि सर्वोत्तम है, इसलिए सर्वप्रथम रसध्वनि पर ही व्याख्या में विचार किया है।

इस पद्य में वीररस ध्वनित होता है, क्योंकि उत्साह की प्रतीति होती है। उत्साह ही वीररस का स्थायी-भाव है। यह उत्साह इस तरह प्रतीत होता है कि—भगवान् मधुरिपु अपने नखों द्वारा प्रपन्न भक्तो के रक्षण (त्राण) कार्य में निरन्तर संलग्न है, इस उद्योग में उन्हे किसी प्रकार का सम्मोह नही है। उन्होने तो एक प्रकार से यह निश्चय (अध्यवसाय) भी कर लिया है कि भक्तो के अभीष्ट के लिए तत्प्रतिपन्थी विघ्नों के अपसारण के लिए सहायता करना, इस रूप मे यहाँ त्राण विवक्षित है। अतः भगवान् के नित्य उद्योगशील और असम्मोह एवं अध्यवसाय से युक्त होने से उत्साह स्थायिक वीररस ध्वनित होता है।

उत्साह का आलम्बन यहाँ मधु नामक दैत्य है, उसके निर्भीकतादि का ज्ञान उद्दीपन है, उसके प्रति अवहेलना आदि अनुभाव हैं, गर्व आदि सञ्चारियो की प्रतीति उत्साह प्रतीति के साथ-साथ हो जाती है। इस प्रकार यहाँ "विभावानुभावव्यभिचारि-भावाद् रसनिष्पत्तिः" के नियम से पूर्णतया वीर रस ध्वनित हो जाता है।

पुनः मधुरिपु आप लोगों की रक्षा करें, ऐसा न कहकर मधुरिपु के नख आप लोगो की रक्षा करें ऐसा कहा है—यद्यपि मधुरिपु के नख मधुरिपु से पृथक् नही हैं, तथापि वे मधुरिपु से अभिन्न होने के कारण त्राण के कार्य मे असाधारणकारणरूप से प्रस्तुत किए गए है। नखो को यहाँ प्रहार का साधन या शस्त्र बताया गया है, शस्त्र का यह कार्य हो है कि वह अपनी या अन्य की रक्षा करे, फिर नखो को करण न बनाकर कर्ता के रूप मे उनका निर्देश किया गया है, इससे नखो की अतिशय शक्तिमत्ता ध्वनित होती है। इसके बाद एक और भी वस्तु ध्वनित होती है, वह यह कि परमेश्वर को अतिरिक्त करण या साधन की अपेक्षा नही, इस त्राणरूपी कार्य मे उनके अपने शरीर के ही एक तुच्छ साधारण तत्त्व नख मे ही पर्याप्त है।

इसमे कुछ अन्य वस्तुओ की भी अभिव्यक्तता उपयुक्त विशेषणों द्वारा होती है। जैसे मधुरिपु शब्द से मधु नामक दैत्य के भगवान् शत्रु है, क्योंकि मधु के त्रास का वे निरन्तर अपसारण करने मे उद्योगशील है और स्वेच्छा केसरी है। किसी कर्म या किसी की इच्छा अनुशासन से वे केसरी नही बने हैं अपितु हिरण्यकश्यपु जैसे विशिष्ट दानव के हनन के लिए ही उन्होने स्वेच्छा से नरसिंह का रूप धारण किया है।

पुनः नखो का विशेषण 'प्रपन्नार्तिच्छिद' है। नखो का कार्य है कि शरणागत आर्त जन की पीड़ा का शमन करना। नखो का यह छेदकत्व होना उचित ही है, आर्ति का छेद्य होना तो असम्भव ही है। क्योंकि आर्ति कोई मूर्त पदार्थ तो है नहीं जिससे कि नख उसका छेदन कर सके। यद्यपि परमेश्वर के स्वेच्छानिर्मित नख हैं, उनमे कुछ असामान्य शक्ति है, जो अमूर्त पदार्थ का भी छेदन कर सकते हैं, यह विलक्षण वस्तु भी

अभिव्यक्त हो सकती है। तथापि इसका तात्पर्य इस प्रकार भी हो सकता है कि प्रह्लादादि जो प्रपन्नजन है, उनके लिए आर्तिप्रद होने के कारण हिरण्यकशिपु स्वयं या मूर्त आर्तिस्वरूप है। ऐसे आर्तिस्वरूप हिरण्यकशिपु का नखों के द्वारा विदारण या छेदन भी यहाँ उचित ही है। इस अवस्था में भी परमेश्वर की परम कारुणिकता है, यह वस्तु अभिव्यक्त होती है। नखों का दूसरा विशेषण 'स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दव' है। अर्थात् ये नख अपनी निर्मलता और वक्र व हृद्य कान्ति के द्वारा चन्द्रमा को भी आयासित-खिन्न-फीका कर देने वाले हैं। लोचनकार का कहना है कि यहाँ अर्थशक्तिमूला व्यञ्जना द्वारा नखों का बालचन्द्रस्वरूप वस्तु ध्वनित होती है। क्योंकि वक्रत्व व हृद्यस्वरूप आकृति के द्वारा आयासित होना तो बालचन्द्र में ही सम्भव है। अथवा इन्दु पदार्थ रूप जो चन्द्र है उसका इन नखों के सामने बालत्व अभिव्यक्त हो रहा है। यह इस प्रकार कि नरहरि (नृसिंह) भगवान के जो लोकोत्तर नख हैं, उन नखों की निर्मलता व हृद्यता के सामने चन्द्र अपने में विच्छायत्व व अहृद्यत्व अर्थात् तुच्छत्व की प्रतीति कर रहा है। इस प्रकार भगवान् नृसिंह के नखों की लोकोत्तरता और चन्द्र का आयासित्व धर्म द्वारा या इस आयासित्वार्थ के सामर्थ्य से बालत्व ध्वनित होता है।

अलंकार ध्वनि का निर्देश करते हुए लोचनकार का कहना है कि एक तो बालचन्द्र को इस बात का खेद है कि उक्त नखों जैसी कुटिलिमा व स्वच्छता उसमें नहीं है। किसी प्रकार यदि इस अंश में समता हो भी जाए तो भी बालचन्द्र को यह बात हमेशा खिन्न करती रहेगी कि ये नख तो प्रपन्न जनों के आर्ति के निवारण करने में कुशल हैं, पर मैं इसमें समर्थ नहीं हूं। इसलिए मानो चन्द्र अपने में खेद का अनुभव कर रहा हो।

यहाँ उपमानभूत चन्द्र से उपमेयभूत नखों के आधिक्य की प्रतीति होने से व्यतिरेक नामक अलंकार भी ध्वनित होता है। पुनः इसी में उत्प्रेक्षा व अपह्नुति अलंकार भी ध्वनित होते हैं। उत्प्रेक्षा ध्वनि इस प्रकार है—चन्द्र यह समझ रहा है कि पहिले तो अकेला मैं ही असाधारण स्वच्छ और हृद्य होने से लोगों के सम्मान का भाजन था, परन्तु अब तो ये बालचन्द्राकार दश नख सन्तप्तजनों के दुःख को दूर करने में कुशल हैं। अतः लोग इन्हें ही बहुत आदर की दृष्टि से देखेंगे न कि मुझे इस तरह की कल्पना करता हुआ बालेन्दु स्वयं अपने में मानो खेद का अनुभव कर रहा हो।

इसीके अन्तर्गत अपह्नुति भी ध्वनित हो रही है, क्योंकि संसार बालचन्द्र को बालचन्द्र न समझकर इन नखों को बालचन्द्र का गौरव प्रदान कर रहा है। अतएव बालचन्द्र अपने में आयासित हो रहा हो मानो, इस अपह्नुति के द्वारा ही चन्द्र का आयासित होना भी सम्भावित है। अतः ये अलंकार परस्पर अङ्गाङ्गिभाव में होने से 'संकर ध्वनि' है। इस प्रकार उक्त मङ्गलाचरण-पद्य में रस वस्तु व अलंकार ध्वनि, तीन प्रकार की ध्वनियों को लोचनकार ने प्रदर्शित की हैं।

यद्यपि उक्त श्लोक में आनन्दवर्धनाचार्यनिष्ठ भगवन्नृसिंह विषयक रति के

होने से पर्यन्त में भाव ध्वनि ही होनी चाहिए, क्योंकि वही अङ्गी—मुख्य है। रसादि ध्वनि तो उसके अङ्ग हैं। परन्तु स्वयं ग्रन्थकार तो यहाँ निरन्तर भगवद् ध्यान परायण होने से तन्मय है, भजनीय देवता विषयक रति ही तो भाव होता है, यह तो तब सम्भव है जब कि भक्त व भजनीय देव में भेद हो। यहाँ तो हम पहिले ही कह चुके हैं कि ग्रन्थकार का तो भगवान् के साथ तन्मयीभाव है। अतः स्वयं के लिए तो किसी प्रकार की आशी-राशि की आवश्यकता नहीं है, इसीलिए वे शिष्ट परम्परा या शिष्य दयालुता के कारण उन्हीं के लिए परमेश्वर से शुभ कामना कर रहे हैं।

अथवा इस अवस्था में स्वयं ग्रन्थकार व्याख्याता व श्रोताओं के लिए मंगल कामना कर रहे हैं कि प्रभु इनके व्याख्यान व श्रवण में समुपस्थित विघ्नों का विध्वंस करे। प्रस्तुत ग्रन्थ विषय ध्वनितत्त्व का निरूपण है। ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान इसका प्रयोजन है या सहृदय जनों की प्रीति। सहृदय जन ही इसके अधिकारी हैं। विषय व ग्रन्थ प्रतिपाद्य व प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है।

ध्वनिस्वरूप विवेचन का प्रयोजन

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार प्रसङ्गवश उसका प्रयोजन ध्वनिस्वरूप ज्ञान तथा ध्वनिस्वरूपज्ञान का प्रयोजन सहृदयमनःप्रीति का निर्देश करते हुए तत्सम्बद्ध होने के कारण ध्वनिस्वरूप की चर्चा कर रहे हैं।

अर्थात् पण्डितों की प्रवृत्तिहेतु ध्वनि के स्वरूप का विवेचन कर रहे हैं और इस ध्वनि के स्वरूप विवेचन की आवश्यकता को बतलाते हुए यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि किस प्रकार ध्वनि के विषय में किन्हीं विद्वानों की विमति या असहमति थी—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं,
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥१॥

काव्य के मर्मज्ञ विद्वानों ने जिस सारभूत अर्थ (ध्वनि) को काव्य की आत्मा के स्वरूप में प्रकट किया था, अन्य विद्वानों ने उसका प्रत्याख्यान किया, अर्थात् काव्य की आत्मा के रूप में उन्हें ध्वनितत्त्व मान्य नहीं था, अतः वे ध्वनि की सत्ता के विरुद्ध थे अर्थात् ध्वनि का अभाव मानते थे।

कुछ विद्वानों ने ध्वनि का एकदम निषेध तो नहीं किया, परन्तु इसकी पृथक् सत्ता न मानकर (भक्ति) लक्षणा में ही इसे गतार्थ करने की कोशिश की, अतः ये लोग लक्षणा से आगत या भक्ति से आगत—प्राप्त अर्थ अर्थात् लाक्षणिक अर्थ को ही ध्वनि समझने लगे। इनके मत में भक्ति-लक्षणा से प्राप्त अर्थ हुआ भाक्त अर्थात् लाक्षणिक अर्थ ही सब कुछ है, तदतिरिक्त ध्वनितत्त्व कुछ भी नहीं है। क्योंकि काव्य में जो आरोपित लाक्षणिक अर्थ है या गौणी वृत्ति द्वारा जो अर्थ उपलब्ध होता है, वही भाक्त या लाक्षणिक अर्थ ही काव्य का सर्वस्व है ऐसी धारणा इन भक्तिवादियों की

है। कुछ लोग तो ध्वनि को वाणी का विषय ही नहीं मानते थे। इनका कहना है कि यदि ध्वनि मान भी ली जाए तो, इसका कोई लक्षण ही नहीं बन सकता है। जिसका कोई लक्षण व स्वरूप ही न हो ऐसी वस्तु के मानने से क्या फायदा ?

ध्वनि के विषय मे इस प्रकार की विमतियो को देखकर, ग्रन्थकार आनन्दवर्धनाचार्य सहृदयो के मन की प्रसन्नता के लिए, या सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने के लिए ध्वनि के स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं।

सक्षेप मे ध्वनि-विषयक विरोध इस प्रकार है

(१) अभाववादी—ध्वनि की सत्ता का ही निषेध करने वाले।

(२) भक्तिवादी—ध्वनि को लक्षणा से गतार्थ मानने वाले।

(३) अनिर्वचनीयवादी—ध्वनि के लक्षण का निषेध करने वाले।

ध्वनि के अभाववादी आचार्यों के मत मे इसकी सत्ता ही मान्य नहीं है, इसके लिए इन आचार्यों ने अनेक युक्तियाँ दी हैं। इन अभाववादियो के भी मुख्यतया अवान्तर तीन विकल्प हो सकते हैं—

(क) प्रथम अभाववादी—ध्वनि की सत्ता का ही निषेध करता है।

इस पक्ष का कहना है कि शब्द व अर्थ सम्मिलित काव्य है। इनमे चारुता का आधान दो प्रकार से हो सकता है—

(१) स्वरूप मे रहनेवाली चारुता, और (२) सघटना मे रहनेवाली चारुता। शब्द की स्वरूपनिष्ठ चारुता शब्दालकार से निष्पन्न होती है और सघटना मे रहने वाली चारुता शब्द गुणो से निष्पन्न होती है। इसी प्रकार अर्थ की स्वरूपनिष्ठ चारुता उपमा आदि अर्थालकारो से निष्पन्न होती है और सघटनाश्रित चारुता अर्थ गुणो से निष्पन्न होती है। वृत्तियाँ और रीतियो से भी काव्य मे चारुता सम्पन्न हो सकती है, परन्तु वे वृत्ति व रीति, गुणालकार से भिन्न नहीं हैं। वृत्तियाँ तीन हैं (१) परुषा (२) उपनागरिका, और (३) कोमला, ये तीनो ही अनुप्रास के प्रकार हैं। इसी प्रकार गौडी, वैदर्भी व पाञ्चाली रीतियाँ भी माधुर्यादि गुणो की ही समुदाय रूप हैं। फलत वृत्ति व रीति अलकार व गुण से भिन्न नहीं हैं, ये ही सब काव्य के चारुत्व के हेतु हैं। अत ध्वनिनामक तत्त्व को काव्य मे चारुत्व का निष्पादक मानना नितान्त असगत है, फलत ध्वनि नामक पदार्थ की कोई सत्ता ही नहीं है।

(ख) द्वितीय अभाववादी—प्रसिद्ध प्रस्थानवादी है।

इस पक्ष का कहना है कि काव्य तो प्रसिद्ध प्रस्थानयुक्त है, अर्थात् काव्य की एक निश्चित परम्परा है, जिसे प्रस्थान कहते हैं, वह है सहृदयो के हृदय को आह्लादित करने वाली शब्दार्थ युगल की मनोहर योजना। इसके अतिरिक्त तो अन्य कोई भी काव्य मार्ग निश्चित नहीं हैं। अर्थात् गुणालकार से सुसस्कृत शब्दार्थमय शरीर ही तो काव्य है। इसी मे सहृदयो की भी सम्मति है। ध्वनि के विषय मे तो ऐसा कोई सर्व-

सम्मत सिद्धान्त नहीं है। अर्थात् कतिपय सहृदयों के सम्मत होने पर भी ध्वनि सम्पूर्ण विद्वत्समाज का हृदयावर्जन तो नहीं कर सकता है। अतः ध्वनि के विषय में कुछ भी कहना निरर्थक ही है।

(ग) तृतीय अभाववादी—अन्तर्भाववादी है—

इस पक्ष का कहना है कि ध्वनि नाम का कोई नवीन पदार्थ हो ही नहीं सकता है। यदि ध्वनि किसी प्रकार की कमनीयता का कारण है भी, तो वह उक्त काव्य में चारुत्व उत्पन्न करने वाले जितने साधन है उन्हीं के भीतर किसी में ध्वनि का भी अन्तर्भाव हो जाएगा। अतः ध्वनि नाम की कोई विलक्षण वस्तु नहीं मानी जा सकती है। वाक् विकल्पों का अर्थात् शब्द और अर्थ के प्रकारों का वैचित्र्य अनन्त है, अर्थात् शब्दार्थ के वैचित्र्य की कोई सत्ता थोड़े है न जाने कितने लोगो ने शब्दार्थ की विचित्रता का प्रकाशन किया है, और कर रहे हैं, इन्हीं किन्हीं विचित्रताओं में से एक विचित्रता का नाम ध्वनि कर देने से कौन-सा पाण्डित्य का प्रभाव हो सकता है। अर्थात् ध्वनि की सत्ता को स्वतन्त्र रूप से मानना सर्वथा युक्तियुक्त नहीं है। फलतः गुण या अलकार के किसी अप्रदर्शित लेश विशेष मे ही इसका अन्तर्भाव हो सकता है।

इन तीनों अवान्तर विकल्पो मे सूक्ष्म भेद इस प्रकार है—

(१) प्रथमपक्ष के अनुसार ध्वनि नामक कोई तत्त्व ही नही है।

(२) द्वितीय पक्ष के अनुसार ध्वनि प्रसिद्ध सर्वसम्मत काव्यतत्त्व नही है, भले ही कतिपय विद्वान् इसकी सत्ता को स्वीकार करे, परन्तु सर्वसम्मत नहीं है।

(३) तृतीय पक्ष के अनुसार यदि ध्वनि चारुत्व हेतु मान भी लिया जाय तो किसी गुण या अलंकार के प्रकार विशेष में ही इसका अन्तर्भाव हो सकता है।

भक्तिवादी आचार्यों का मत

भक्ति-लक्षणावादी आचार्यों का कहना है कि ध्वनि का इसी लक्षणा मे या लक्षणा का भेद जो गुणवृत्ति है उसी मे अन्तर्भाव हो जाएगा, अतः ध्वनि नामक पृथक् तत्त्व मानने की कोई आवश्यकता नही है।

प्राचीन आचार्य लक्षणावृत्ति को भक्ति शब्द से भी कहते थे। इसकी व्युत्पत्ति अभिनव गुप्ताचार्य ने लोचन में इस प्रकार दी है—भज्यते=सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्षते इति भक्तिधर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः। सेवार्थक भज् धातु से क्तिन् प्रत्यय द्वारा भक्ति शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ भज्यते का अर्थ है प्रसिद्ध होने के कारण, जिसकी उत्प्रेक्षा-सम्भावना की जाय वह भक्ति है, अर्थात् वाच्यार्थ के द्वारा तटादि का सामीप्यादि धर्म उत्प्रेक्षित होता है। उस सामीप्यादि के निमित्त मे प्रतीत होने वाला लाक्षणिक अर्थ ही भाक्त है, अर्थात् लक्ष्यार्थ। यह लक्षणा दो प्रकार की होती है शुद्धा और गौणी लक्षणा। मीमांसक लोग गौणीवृत्ति को लक्षणा से भिन्न मानते हैं, पर यहाँ भक्ति शब्द से दोनो का ग्रहण हो जाएगा।

भक्ति का एक अर्थ भंग भी है जिसका अर्थ तोड़ना है, अर्थात् मुख्य अर्थ का जहाँ भंग किया जाय=मुख्यार्थबाध। उसी से फिर किसी नवीन अर्थ की कल्पना की जाय,

इस नवीन कल्पित अर्थ को भी हम भाक्त कह सकते हैं। भक्ति का एक अर्थ है श्रद्धातिशय, किसी विशेष प्रयोजन से श्रद्धा होने पर ही लक्षणा की जाती है। जिसका नाम प्रयोजनवती लक्षणा कहा जाता है। भक्ति का तीसरा अर्थ है सेवा अर्थात् पदार्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाला सामीप्यादि नवीन अर्थ। इन तीनों अर्थों को लेकर भक्ति शब्द का अर्थ साहित्यशास्त्र में लक्षणा किया जाता है।

भक्तिवादियों का कहना है कि यद्यपि स्पष्ट रूप से प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव नहीं किया है, परन्तु उन्होंने काव्य में अमुख्य वृत्ति अर्थात् लक्षणा या गुणवृत्ति का प्रतिपादन करते हुए ध्वनितत्त्व को कुछ संकेत किया है, पर इसका लक्षण नहीं किया, न ध्वनितत्त्व को प्राथमिकता ही दी है, अत ये आचार्य गुण-वृत्ति लक्षणा के अन्दर ध्वनि का समावेश करते थे।

अनिर्वचनीयवादी

अनिर्वचनीयवादी आचार्यों के मत में ध्वनितत्त्व का निर्वचन वाणी द्वारा नहीं हो सकता है, यह तो स्वत अनुभूति का ही विषय है। परन्तु इसका लक्षण स्वरूपादि का निर्वचन शब्दों द्वारा करना मुश्किल है। यह तो केवल सहृदयहृदयसंवेद्य ही है।

इन तीनों मतों अभाववादी, भक्तिवादी व अनिर्वचनीयवादी की समीक्षा में यह कहा जा सकता है कि प्रथम-अभाववादी तो भ्रान्त हैं, क्योंकि वे ध्वनि के मौलिक रूप से अपरिचित हैं, और प्रस्थानवादी होने के कारण लकीर से एक पग भी आगे नहीं बढ़ना चाहते हैं। काव्य में किसी अभिनवतत्त्व के अत्यन्त विरोधी हैं। द्वितीय भक्तिवादी अवश्य ध्वनितत्त्व से परिचित हैं। इतना उन्हें ज्ञान है कि ध्वनि वाच्य से पृथक् है। साथ ही साथ अभिनवतत्त्व भी है, परन्तु सन्देह होने से उस तत्त्व को वे लक्षणावृत्ति में ही छिपा देते हैं।

अन्तिम अनिर्वचनीयवादी आचार्य ध्वनितत्त्व के महत्त्व को जानते हैं, पर उसकी व्याख्या या ध्वनि का लक्षण करने में अप्रगल्भ-असमर्थ हैं या लक्षण प्रमाण द्वारा ध्वनितत्त्व की मीमांसा नहीं कर सकते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अभाववाद देहात्मवादी चार्वाकों की तरह विपर्यस्त है, अर्थात् भ्रान्त है और भक्तिवाद ध्वनि के स्वरूप से किंचित् परिचित होता हुआ भी सन्देहपूर्ण है, अतएव लक्षणा में ही ध्वनि का अपह्नव कर रहा है। अन्तिम अनिर्वचनीयवादी ध्वनि के स्वरूप का अपलाप न करते हुए भी उसके स्वरूप लक्षणादि निरूपण में असमर्थ या अज्ञ है। इस प्रकार इन वादों में क्रमश भ्रम, सन्देह व अज्ञान की ही प्रधानता है।

ध्वनि विरोध की ऐसी भयंकर परिस्थिति में ग्रन्थकार का कहना है कि सहृदयों के मनस्तोष हेतु ध्वनि का स्वरूप विवेचन परमावश्यक है और रामायण महाभारतादि सत्काव्यों में ध्वनि तत्त्व बिखरा पड़ा है, या तिल में तेल की तरह सर्वत्र अनुस्यूत है, अत सहृदयों के हृदय में आनन्दवर्धनाचार्य या ध्वनितत्त्व के विवेचनजन्य काव्यानन्द

की प्रतिष्ठा को प्राप्त करें, एतदर्थ अनुन्मीलित इस अपूर्व तत्त्व की हम व्याख्या करेंगे।

प्रकृत में ध्वनिस्वरूप के निरूपण के दो ही प्रयोजन हैं—एक तो ध्वनि के सम्बन्ध में प्रचलित-विवाद या विभति का निराकरण, और दूसरा ध्वनिस्वरूप के विवेचन से सहृदयों की प्रीति।

इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने सहृदयों को यह आश्वासन दिया है कि न तो ध्वनि का अभाव है, और न वह लक्षणा के ही अन्तर्गत है, उसका स्वरूप भी निरूपणार्ह है।

ध्वनि-लक्षण को प्रस्तावना

जैसे किसी अपूर्व प्रासाद (भवन) के निर्माण के लिए सर्वप्रथम उसके लिए स्वच्छ भूमि का संशोधन किया जाता है, इसी प्रकार ध्वनिरूप अपूर्व प्रासाद की स्थापना के लिए भी उपयुक्त वाक्यादि भूमिका का निर्देश किया जा रहा है—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥२॥

सहृदय जनों के द्वारा प्रशंसनीय जिस अर्थ को काव्य की आत्मा के रूप में व्यवस्थित किया गया है, उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद माने गए हैं।

ध्वनिकार की इस वाटिका पर साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ का कुछ आक्षेप है, जिसकी चर्चा हम पहिले आक्षेप व समाधान के रूप मे विस्तार से कर चुके हैं : प्रसंगवश यहाँ भी ग्रन्थ संगति के लिए कुछ निर्देश कर देना अनुचित नही होगा।

आक्षेपकर्ता का कथन है कि जब ध्वनिकार प्रथम कारिका में ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकृत कर चुके हैं—"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः" इत्यादि के द्वारा, तब फिर अपने आप यहाँ उक्त इस द्वितीय कारिका द्वारा वाच्य को भी काव्य की आत्मा कैसे स्वीकार कर रहे हैं? यह तो उनका स्ववचन विरोध है।

इसका समाधान यद्यपि लोचन मे मिल जाता है, जैसा कि हम पहिले निर्देश कर चुके हैं, और इस कारिका के सगति के सन्दर्भ में भी हमने लोचनकार का सार रख दिया है—कि किसी अपूर्व के निर्माण के लिए निश्चित नियत रूप से पहिले भूमि की आवश्यकता होती है। यहाँ भी ध्वनि प्रासाद के निर्माण में निर्विवाद वाच्य-अर्थ भूमि का स्थान ग्रहण करता है, पर इस विषय का एक सुन्दर समाधान आचार्य शालिग्राम जी ने साहित्यदर्पण के विमला टीका की टिप्पणी में दिया है। आपका कहना है कि ध्वनिकार यहाँ अपना कुछ भी मत मतान्तर न दिखा कर, केवल पूर्वाचार्यों का ध्वनि विषयक विचार ही प्रस्तुत कर रहे हैं। यह बात कारिका में आये हुए "स्मृतौ" पद से और भी स्पष्ट हो जाती है कि पूर्वाचार्यों में कुछ लोग ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं और कुछ वाच्यालंकार को काव्य की आत्मा मानते हैं। वे तात्कालिक सहृदयों के समक्ष पूछ रहे है कि इसमें आप लोगों की क्या राय है। ध्वनि को काव्य की आत्मा माना जाय या वाच्य को काव्य की आत्मा माना जाय या दोनों को?

आचार्य शालिग्राम जी की बात को उन्ही के शब्दो मे यहाँ रखना हम अधिक उपयुक्त समझते हैं, जो इस प्रकार हैं—

"वय त्वेवमुत्पश्यामो यद् यत्र कारिकयो साहित्य-दर्पणकारो ध्वनिकारस्य "स्ववचनविरोध" पश्यति, तद् द्वयमपि ध्वनिकारस्य नात्मीय मतम्, अपि तु अलङ्कार-शास्त्रस्येतिहासमात्रम्, तथाहि अतिप्रत्नसम्प्रदायाचार्या काव्यात्मत्वेन ध्वनिमेव आम्नायवत् अनादिपरम्परया समाम्नातवन्त । इति प्रथमकारिकया प्रथमे चरणे उक्तम्, "बुधै" इति बहुवचनेन आत्मनोऽपि तत्र पक्षपात सूचित । सोऽयमलङ्कारशास्त्रस्योत्कर्षमय प्रथम समय । अनन्तर "तस्याभाव जगदुरपरे, भाक्तमाहुस्तमन्ये" इत्यादिना निरीश्वरवादिनामिव प्रशहुकानामपि प्राधान्य प्रदर्शितम् । अयञ्चानुत्कर्षमयो द्वितीय समय ।

तत पर "तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्" इति ध्वनिजीर्णोद्धारस्य वा पुनर्जीवनस्य वा तृतीय समय । ध्वनिकारेण तु अत्र "तत्स्वरूप ब्रूम" इत्यनेन वक्ष्यमाणो ग्रन्थार्थ उपक्षिप्त केवलम्, न तु स्वमतमुपन्यस्त किञ्चित् ।

तदग्रे च "सहृदयश्लाघ्यस्यार्थस्य काव्यात्मत्व व्यवस्थाप्य वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदौ कैश्चन कथितौ द्वितीयस्यामपि कारिकायां मतान्तरस्योल्लेखो "स्मृतौ" इत्यनेनास्य परमतत्त्व स्फुटमेव, तत्र तृतीयस्यां कारिकायां "अन्यै" इत्यनेन स्पष्ट भवति अन्यैरित्यस्य-भामह दण्डि भट्टोदभट्टप्रभृतिभि, उपमादिभि प्रकारै स एव वाच्यार्थः काव्यत्वेनाभिमत अत्र ये च वाच्यात्—अतिरिक्त व्यङ्ग्यमर्थं न स्वीकुर्वन्ति तान् प्रति व्यङ्ग्यस्वरूप विवेचयन्निव चतुर्थी कारिकामाह—

"प्रतीयमान पुनरन्यदेव" इत्यादिना

अत्र पूर्वाचार्य, "वाच्यप्रतीयमानौ द्वौ अपि अर्थौ काव्यात्मत्वेन व्यवस्थापितौ," वाच्यश्चार्य बहुधा व्याकृत, व्यङ्ग्योऽर्थो उक्त एव, उच्यते च अत्रार्य भवत कि मतम्, वाच्यो वा व्यङ्ग्यो वा उभयम्, वा भवता काव्यात्मत्वेन स्वीक्रियते ।

इत्येतत् प्रश्न समुत्तरीतु पञ्चमीं कारिकामाह—"काव्यस्यात्मा स एवार्थ" इत्यादिना" ।

यहाँ वाच्य शब्द का अर्थ वाच्यालङ्कार गुण रीति आदि हैं वाच्य पद केवल इनका उपलक्षकमात्र है, जैसा कि आगे स्वय ध्वनिकार कहते हैं—

तत्र वाच्य' प्रसिद्धो य प्रकारैरुपमादिभि ।
बहुधा व्याकृत सोऽन्यै ततो नेह प्रतन्यते ॥३॥

यह वाच्यार्थ जो कि उपमादि प्रकारों से प्रसिद्ध है, इसका व्याख्यान (भामह, भट्टोद्भट्ट, दण्डी आदि) आचार्यों ने अनेक तरह से किया है, इसीलिए इसके विषय मे हमें ज्यादा नहीं कहना है, केवल प्रसगवश कहीं उन्ही आचार्यों के वचनों का अनुवादमात्र करना है ।

वाच्यार्थ से प्रतीयमान-व्यङ्ग्यार्थ की पृथक् सत्ता

प्रतीयमान अर्थ व्यङ्ग्यार्थ सत् है और वाच्य से उसकी स्थिति भी पृथक् है, जिस

प्रकार अंगनाओं में परिदृश्यमान का चरणादि अवयवों से पृथक लावण्य नामका तत्त्व है अर्थात् ललनाओं में लावण्य जैसे उनके प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त सहृदयों के हृदय के लिए एक समावर्जनीय तत्त्व है, इसी प्रकार काव्य मे भी प्रतीयमान पदार्थ—अर्थात् ध्वन्यर्थ भी प्रसिद्ध वाच्यालकारों से व्यतिरिक्त और उन्ही के सामर्थ्य से आक्षिप्त सहृदयों के हृदय के लिए आह्लादस्वरूप कुछ विलक्षण ही तत्त्व है।

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यतत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥४॥

विकसित यौवना किसी कामिनी के मुखनयनादि अवयवो के सौन्दर्य से समुद्भूत एक विलक्षण ही (सौन्दर्यच्छटा) लावण्य जैसे युवजनो के नयनानन्दजनक होता है। इसी प्रकार व्यंजनावृत्ति से प्रतिपाद्य वह व्यंग्यार्थ भी (अर्थात् व्यग्य वस्तु, व्यग्य अलंकार व व्यंग्य रसादि भी) महाकवियों के वाग् विलास मे चमत्कृत होता हुआ सहृदयों के हृदय के लिए परमानन्द का जनक होता है।

यह ललना लावण्य तुल्य व्यंग्यार्थ वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त वस्तु अलंकार व रसादि के रूप मे उपलब्ध होता है। ध्वनि के इन सभी प्रकारो में वह ध्वन्यमान अर्थ या प्रतीयमानार्थ वाच्य से पृथक् ही होगा।

वाच्य से व्यंग्य की पृथक् सत्ता

वाच्यार्थ यदि कही विधिरूप है, तो व्यग्यार्थ निषेध में होगा। इस प्रकार वाच्य व व्यंग्य में महान् अन्तर है, जैसे निम्नपद्य मे से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

भ्रम धार्मिक, विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकूलवासिना दृप्तसिंहेन ॥

हे धार्मिक! तुम बड़े इतमीनान से घूमो, वह कुत्ता, गोदावरी नदी के तट में निवास करने वाले सिंह ने मार डाला है।

प्रस्तुत पद्य का प्रसंग इस प्रकार है कि गोदावरी नदी के तट पर अपने प्रियतम के साथ रोज घूमने वाली किसी कामिनी की यह उक्ति है—किसी धार्मिक के प्रति जो कि नित्य अपनी पूजा के लिए पुष्प लेने को उक्त स्थान मे पहुंच जाता था। उस कामिनी ने अपने प्रणय प्रसंग मे उक्त धार्मिक को अन्तराय समझकर उससे ये बातें कही कि हमारे साथ का कुत्ता जिसे देखकर तुम दूर से ही डरा करते थे, वह आज गोदा नदी के तट के किसी पागल सिंह ने मार डाला है, इसलिए तुम निःशंक घूमो।

उक्त पद्य मे वाच्य या अभिधेय तो "भ्रमण करो" यह विधिरूप है, परन्तु व्यंग्यार्थ निषेधरूप खबरदार यहाँ कदम भी मत रखना, क्योंकि जब तुम सीधे-साधे कुत्ते से ही इतना भयभीत होते थे अब तो उसकी जगह भयानक सिंह का यहाँ निवास है।

यहाँ वाच्यविधि से व्यंग्यनिषेध वस्तु अभिव्यक्त है। कहीं वाच्य प्रतिषेधरूप है तो व्यंग्य विधिरूप होता है।

जैसे—श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयो शयिष्ठा॥

प्रकृत पद्य में यद्यपि वाच्यरूप में पथिक के प्रति निषेध है परन्तु व्यंग्यार्थ विधिरूप में है।

इसी प्रकार कहीं वाच्य विधिरूप में है तो व्यंग्य अनुभयरूप में। अर्थात् व्यंग्य न तो विधिरूप में होता है ना ही निषेध रूप में, जैसे निम्न पद्य में—

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत॥

कहीं वाच्यप्रतिषेध रूप में है तो व्यंग्य अनुभव रूप में—

प्रार्थये तावत् प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोषि, अन्यासामपि हताशे॥ इत्यादि

वस्तु के विषय में यह तो दिग्दर्शनमात्र यहाँ कराया गया है, इसी प्रकार के वाच्य से भिन्न व्यंग्य में और भी बहुत से प्रभेद हो सकते हैं।

द्वितीय अलंकाररूप प्रभेद भी वाच्य से भिन्न ही है। विस्तार से आगे दिखलाया जायेगा।

तृतीय रसादिलक्षण ध्वनि का जो प्रभेद है, वह तो वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होता हुआ ही प्रकाशित होता है। अर्थात् व्यंजनावृत्ति से प्रतिपादित होने पर ही चमत्कार का आधान करता है, अन्यथा नहीं, रसादि शब्द से वह कदापि वाच्य नहीं हो सकता है।

अर्थात् विशिष्ट विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही रसादि की प्रतीति होती है, विभावादि शब्दाभाव में केवल रसादि शब्द द्वारा तो रस की प्रतीति नहीं होती है—

क्योंकि यही रसादि ध्वनि ही तो काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है, इस बात को ग्रन्थकार प्राचीन इतिहास द्वारा भी सिद्ध कर रहे हैं—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोक श्लोकत्वमागत ॥५॥

काव्य की आत्मा वही अर्थ है, जैसा कि पुराकाल में क्रौंच पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न शोक आदिकवि वाल्मीकि का श्लोक बन गया। शोक करुण रस का स्थायी भाव है। शोक श्लोक की अवस्था को प्राप्त हुआ, आचार्य आनन्दवर्धन का यह निर्देश, एक ऐतिहासिक घटना को सूचित करता है।

किसी समय वाल्मीकि अपने आश्रम से समित्कुशादि लाने के लिए बाहर

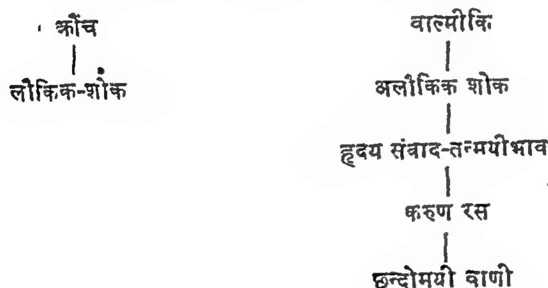
वनप्रान्त की तरफ निकल पड़े। वहाँ उन्होंने एक जगह व्याध के द्वारा वाण से विधे हुए एक क्रौञ्च पक्षी को देखा, जिसके वियोग में क्रौञ्ची व्याकुल थी। उस समय ऋषि के मुखारविन्द से शापयुक्त छन्दोमयी वाणी निकल पड़ी—

"मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वती समाः" इत्यादि। यही शोक श्लोकरूप में परिणत हुआ। महाकवि कालिदास ने रघुवश में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है—

तामभ्यगच्छत् सरितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यात.।
निषाद विद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

प्रस्तुत प्रसंग के अनुसार आचार्य आनन्दवर्धन ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि "रस" ही काव्य की आत्मा है। यद्यपि ध्वनि के अन्य वस्तु व अलकार रूप भेद भी हैं परन्तु सर्वोत्तम होने के कारण रस ही को यहाँ काव्यात्मा ध्वनिकाव्य या काव्यविशेष कहा गया है। क्योंकि वस्तु व अलंकार का भी पार्यन्तिक अवसान रस में ही होता है, और यह रस हमेशा ध्वन्यमान ही होता है।

इस प्रकार ऋषि ने उस शोक का चित्तवृत्ति द्वारा जब आस्वादन किया, तब आस्वादन-प्रधानया आस्वादित वह अलौकिक शोक करुण रस में परिवर्तित हो गया, इसका परिणाम यह हुआ कि यह शोक का अलौकिक आस्वादन ही छन्दोमय वाणी में काव्य बन गया। इस प्रकार शोक करुण मे आकर श्लोक बन गया।



इस प्रकार पुरावृत्त द्वारा 'प्रतीयमान' को काव्यात्मत्व प्रदर्शित कर, अब सहृदयों के अनुभव द्वारा भी प्रतीयमान की काव्यात्मता सिद्ध कर रहे हैं—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्त प्रतिभाविशेषम्॥६॥

उस सरस व रमणीयार्थरूप वस्तु (प्रतीयमान अर्थ) को प्रवर्तित करती हुई महाकवियो की सरस्वती अलौकिक स्फूर्तिमयी प्रतिभा विशेष को अभिव्यक्त करती है॥६॥

आचार्य के कहने का तात्पर्य यह है कि महाकवियो की वाणी किसी विशिष्ट चमत्कारपूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करती है, जिसे ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार प्रतीयमान

कहते हैं। वाणी एक प्रकार की कामधेनु है, जो सहृदयरूपी वत्सों के लिए दिव्य रस का अभिनिस्यन्दन करती है, जिसे पीकर वह आनन्दित हो जाता है, जैसा कि भट्टनायक का भी कथन है—

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद् बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥

सहृदयरूप वत्स में स्नेह के कारण, वाणीरूप धेनु इस दिव्य रस को प्रवर्तित करती है, इसके समान वह रस नहीं है जिसे (समाधि के द्वारा) योगी लोग दुहा करते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि सहृदयों को, सरस्वती के द्वारा प्रदत्त प्रतिभापूर्ण कविता से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह समाधि के द्वारा प्राप्त करने वाले योगियों के आनन्द से भी कुछ विलक्षण ही है। इस पर लोचनकार की टिप्पणी है कि "तदावेशेन विनाप्याकाम्या हि यो योगिभिर्दुह्यते।"

अर्थात्—जिसे (जिस रस को) योगी लोग रसावेश के बिना ही केवल बलात्कार पूर्वक दुहा करते हैं।

इसी प्रतिभा विशेष के वैशद्य के आधार पर कवियों की महाकवित्व कोटि में गणना होती है। अतएव संसार में हजारों की संख्या में महाकवि नहीं होते हैं, अपितु कालिदास प्रभृति दो चार ही इस गणना में आते हैं।

वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ का भेद व सद्भाव को दिखाकर उस प्रतीयमानार्थ-बोधक सामग्री का भी निर्देश करते हैं—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥७॥

वह प्रतीयमान अर्थ या व्यंग्यार्थ, केवल शब्दार्थ के व्युत्पादक व्याकरणकोशादि ज्ञान से ही नहीं जाना जाता है, अपितु काव्यार्थतत्त्वज्ञों के ही द्वारा वह जाना जाता है। "गतोऽस्तमर्कः" इत्यादि स्थलों में व्याकरणादि से तो केवल "सूर्य छिप गया" इतना ही वाच्यार्थ का ज्ञान होता है। परन्तु काव्यज्ञ तो प्रकरणादि की सहायता से तापशान्ति अभिसरणादि, सन्ध्यावन्दनादि नाना प्रकार के व्यंग्यार्थ का बोध कर लेता है। अतः वाच्य से वह व्यंग्य पृथक् ही है और इसकी बोधक सामग्री भी भिन्न ही है।

इसी व्यंग्यार्थ की काव्य में प्रधानता है। काव्य में उन्हीं शब्दार्थों का साहित्य या समावेश सुन्दर माना जाता है, जो कि विलक्षण व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य रखते हैं। ऐसे ही शब्दार्थों के लिए कवि का अनुसन्धान भी रहता है। सर्व सामान्य शब्द या अर्थ उक्त व्यंग्यार्थ के अभिव्यंजन में समर्थ नहीं होते हैं। अपितु कोई विरले ही शब्द व अर्थ उस विलक्षण व्यंग्यार्थ के अभिव्यंजन का सामर्थ्य रखते हैं।

जैसा कि ध्वनिकार का कहना है—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥८॥

वह अर्थ अर्थात् व्यंग्यार्थ और उस अर्थ की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखने वाला कोई शब्द है, (न कि सभी शब्द) उन्ही शब्दार्थों का प्रत्यभिज्ञान महाकवि को यत्नपूर्वक करना चाहिए, (यहाँ प्रत्यभिज्ञान शब्द का अर्थ है ज्ञात वस्तु का वार-वार अनुसन्धान, न कि वही यह है इत्यादि प्रत्यभिज्ञा) ।

साधनरूप में वाच्य व वाचक का भी उपादान

यह वात द्वितीय कारिका के व्याख्यान के प्रसंग में कह आये हैं कि ध्वनिरूप अपूर्व प्रासाद के निर्माण में निर्विवाद वाच्यादि भूमि है । अव यहाँ ध्वनिकार यह वतलाते हैं कि ध्वन्यर्थ का प्राधान्य रहने पर भी कवि लोग जो वाच्य वाचक का ही पहिले ग्रहण करते है, वह साधन रूप मे । जैसे प्रकाश को चाहने वाला व्यक्ति दीपशिखा को अपनाता है, इसी प्रकार व्यंग्यार्थ के प्रति अत्यादर युक्त कवि भी, पहिले वाच्य वाचकादि का ही ग्रहण करता है, क्योकि उपायों का ही प्रथम उपादान होता है जैसे आलोक मे दीपशिखा उपाय है ।

अर्थात् व्यंग्यार्थ के प्रकाश के लिए ही कवि शब्दार्थ का प्रयोग करता है, क्योंकि कवि का परम लक्ष्य ही वह है ।

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदाहृतः ॥९॥

जिस प्रकार आलोक चाहने वाला व्यक्ति, उसके उपायभूत दीपशिखा के लिए यत्न करता है, उसी प्रकार उस व्यंग्य अर्थ के प्रति आदरयुक्त कवि वाच्य अर्थ के लिए यत्न करता है ।

केवल कवि की ही दृष्टि से नही अपितु सहृदय या वोध की दृष्टि से भी व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता रहती है ।

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते ।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥१०॥

जैसे पदार्थज्ञान के वाद ही वाक्यार्थज्ञान होता है इसी प्रकार वाच्यार्थप्रतीति के वाद ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। अर्थात्—वाक्यार्थवोध मे पदार्थोपस्थिति वत् व्यंग्यार्थ वोध में वाच्यार्थ का ज्ञान कारण है ।

व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता

जैसे उपस्थित पदार्थ अपने सामर्थ्य (आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य-ज्ञान) के सहयोग से वाक्यार्थ वोध के लिए अपने को समर्पण कर देता है अर्थात् पदार्थ वाक्यार्थ वोध कराकर स्वयं रहता हुआ भी प्रधानरूप से नहीं रहता है । इसी प्रकार

चमत्कार हीन नीरस वाच्यार्थ भी सहृदयों के तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में नही भासित होता है, अपितु प्रधान रूप में चमत्कारजनक व्यंग्यार्थ ही हृदय मे प्रस्फुटित होता है।

इस बात को ग्रन्थकार ने दो श्लोको मे कहा है—

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन्।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥११॥
तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥१२॥

पदार्थ परस्पर योग्यता, आकांक्षा आसत्ति, के सहयोग से ही वाक्यार्थ ज्ञान कराते हैं, यही पदार्थ का सामर्थ्य है या वाक्यार्थ बोध मे ये तीनो पदार्थ के सहकारी कारण हैं। अर्थात् जब तक पदो के परस्पर अन्वयबोध मे बाधा अभाव नहीं होगा, तब तक पद समुदाय वाक्यार्थ का ज्ञान नही करा सकता है। पदो के परस्पर अन्वय मे किसी प्रकार की बाधा का न होना ही योग्यता है। जैसे—"वह्निना सिंचति" यह पद समुदाय योग्यता रहित है, क्योंकि वह्नि मे सेचन की योग्यता नही है, अत उक्त योग्यता के अभाव मे यह वाक्य नहीं कहा जायेगा। इसी प्रकार किसी पद समुदाय को वाक्य बनने के लिए उसमे आकांक्षा भी आवश्यक है, अर्थात् श्रोता की जिज्ञासा का बना रहना भी वाक्य मे आवश्यक है, या एक पद से दूसरे पद के अन्वय का अनुभावन होना भी जरूरी है। जैसे—गौ, हस्ती, पुरुष, ब्राह्मण, इत्यादि पदसमुदाय होते हुए भी वाक्य नहीं कहे जाएंगे, क्योंकि इनमे आकांक्षा का अभाव है। क्योंकि यहाँ गौ पद का उच्चारण करके आगे गच्छति आदि की आकांक्षा होती है, अर्थात् गौ पद से फिर गच्छति आदि पदो के साथ अन्वय अनुभावकता मानी जाती है, परन्तु यहाँ जिसकी आकांक्षा या अनुभावकता समझी गई है वह पद आगे नहीं है, अत. आकांक्षा के अभाव मे उक्त पद समुदाय को वाक्य नही कह सकते हैं।

इसी प्रकार वाक्यार्थ ज्ञान मे "आसत्ति" या पदो की सन्निधि भी कारण है, जिसके अभाव मे भी वाक्यार्थ बोध नहीं होता है। पदो की परस्पर सामयिक सन्निकटता ही आसक्ति है। यदि 'देवदत्त' यह पद कहकर पुन एक या दो घण्टे के बाद 'गच्छति' यह कहा जाएगा, तो पदो के परस्पर सान्निध्य के अभाव मे उक्त पदसमुदाय वाक्य नही माना जायेगा। अत वाक्यार्थ ज्ञान के लिए पद समुदाय मे योग्यता, आकांक्षा व सन्निधि का होना परमावश्यक है। तात्पर्य यह है कि यदि पदज्ञान वाक्यार्थज्ञान मे कारण है तो ये योग्यता आदि भी वाक्यार्थज्ञान के सहकारी कारण हैं।

पूर्वोक्त पद्यो में ग्रन्थकार का कहना है कि जिस प्रकार अपने सामर्थ्यवश वाक्यार्थ को प्रकाशित करता हुआ भी पदार्थ अपने वाक्यार्थ प्रकाशन रूप व्यापार की निष्पत्ति की स्थिति मे फिर विभक्त रूप मे भासित नहीं होता है, उसी प्रकार सहृदयों की तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि मे भी व्यंग्यार्थ ही प्रतिभासित होता है, अर्थात् वाच्यार्थ प्रतीति एकदम विघटित तो नहीं होती है, परन्तु उपायरूप से व्यंग्यार्थ का प्रकाशन कर स्वयं

पृथक् सत्ता के रूप में अवभासित नहीं होती है, यही लोचनकार का भी कहना है "अवभासत इति, तेनाम विभक्तया न भासते, न तु वाच्यस्य सर्वथैवानवभासः। अतएव तृतीयोद्योते घटप्रदीपदृष्टान्त बलाद् व्यंग्यप्रतीतिकालेऽपि वाच्यप्रतीति न विघटते, इति यद्वक्ष्यति तेन सहास्य ग्रन्थस्य न विरोधः॥

ध्वनि का लक्षण

अभी तक ध्वनि के विषय में, उसकी सत्ता, साधुभाव-उत्तमता व वाच्यादि से विलक्षणता आदि व्यवस्थित कर अन्य शास्त्रों से व्यावृत्ति व काव्यक्षेत्र मे ध्वनि के व्यवहार के लिए, ध्वनितत्त्व का लक्षण निर्वचन करते हैं—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥१३॥

जहाँ अर्थ अपने आप को और शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वान् लोग ध्वनि-काव्य कहते हैं॥१३॥

यहाँ वा शब्द का अर्थ विकल्प व समुच्चय दोनों हैं, जैसा कि हम पहिले प्रसंग-वश वर्णन कर चुके हैं, क्योंकि अविवक्षित वाच्य ध्वनि में शब्द की प्रधानता होते हुए भी अर्थ की भी सहकारिता रहती है और विवक्षितान्यपर-वाच्यध्वनि मे अर्थ की प्रधानता के साथ शब्द भी सहकारी होता ही है। प्राधान्य की अपेक्षा यहाँ शब्दार्थ का विकल्प है और सामान्य की अपेक्षा शब्दार्थ का समुच्चय है। इस प्रकार सर्वत्र ध्वनन शब्द और अर्थ दोनो का व्यापार है। इसलिए भट्ट नायक ने जो यह आक्षेप किया है कि द्विवचन अनुपपन्न है, वह केवल गजनिमीलिका ही है। उक्त ध्वनिलक्षण कारिका में ध्वनि को काव्यविशेष कहा है। लोचनकार का कहना है कि "काव्यविशेषः" इस पद का दो तरह से समास हो सकता है—'काव्यं च तद्विशेषश्चास्तै' कर्मधारय, या 'काव्यं यस्य विशेष'—षष्ठीतत्पुरुष।

यदि केवल काव्यविशेष को ही ध्वनि मान लिया जाए, तो काव्य (सामान्य) में ध्वनित्व नहीं आएगा अर्थात् काव्यमात्र को ध्वनि नहीं कह सकते हैं। अतः कर्मधारय समास द्वारा काव्य व उसके वैशिष्ट्य का भी ग्रहण किया गया है। यहाँ कर्मधारय पक्ष में विशेष शब्द का अर्थ होगा "विशिष्यते व्यवच्छिद्यते इति विशेष." "शास्त्रादिभ्यो व्यवच्छेदो विवक्षितः" तत्पुरुष समास के पक्ष में "विशिनष्टीति विशेषः" "तेन चात्मरूपत्वयासूचितम्" उक्त च प्राक् "विशेषहेतुत्वादात्मा इति व्यवस्थाप्यते" इति।

तात्पर्य यह है कि ध्वनि काव्य का आत्मा है, परन्तु केवल ध्वनि से काव्य का व्यवहार नही होगा, अपितु ध्वनि विशेष से ही काव्य का व्यवहार होगा। इसका वैशिष्ट्य है गुणालंकारादि से शब्दार्थयुगल का संस्कृत होना, जैसाकि लोचनकार का कहना है, "काव्यग्रहणाद् गुणालंकारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षणा आत्मेत्युक्तम्"

अत "काव्य विशेष" यह पद यहाँ साभिप्राय है। इससे मीमासको के अर्थापत्ति स्थल जो "पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" यहाँ भी शब्द सामर्थ्य द्वारा, या अन्यथानुपपत्ति तथा अर्थापत्ति प्रमाण से रात्रिभोजन का आक्षेप होता है, ऐसे वाक्य मे ध्वनि की अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि यहाँ शब्दार्थ गुणालकार से उपस्कृत नहो हैं।

यहाँ ध्वनि शब्द का प्रयोग, (शब्द, अर्थ, व्यापार, व्यग्य व काव्य विशेष) इस समुदाय मे किया गया है।

"ध्वनित य स शब्द अर्थो वा ध्वनि" कर्तृ व्युत्पत्ति द्वारा यहाँ शब्दार्थ दोनो ध्वनि कहे जाएगे। ध्वन्यते अनेन ध्वनि, करण व्युत्पत्ति के द्वारा ध्वनि शब्द का अर्थ व्यापार होगा। "ध्वन्यते इति ध्वनि"—इस भाव व्युत्पत्ति के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ ध्वनि होगा। "ध्वन्यतेऽस्मिन् ध्वनि" इस अधिकरण द्वारा काव्य विशेष ध्वनि होगा। अत ध्वनि शब्द यहाँ केवल व्यष्टि बोधक न होकर समष्टिपरक है।

ध्वन्यभाववादियो का समाधान

ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका के व्याख्यान मे ध्वनि के अभाववादियो के विकल्पो की जो कल्पना की गयी थी, अब उन विकल्पो का यथाक्रम ग्रन्थकार समाधान कर रहे हैं।

(१) प्रथम ध्वनि-अभाववादी का कथन था कि गुणालकार से अतिरिक्त ध्वनि नाम की कोई वस्तु नहीं है। अर्थात् ध्वनि गुणालकार स्वरूप ही है।

उत्तर मे ध्वनिकार का कथन है, कि पूर्वोक्त ध्वनि की सत्ता साधुभाव व लक्षण प्रमाणादि से यह निश्चित है कि ध्वनि व गुणालकारो विषय विभाग पृथक्-पृथक् हैं क्योंकि वाच्यवाचक के चारुत्वहेतु उपमादि अलकार हैं और सघटनाश्रित चारुत्व के हेतु गुणादि हैं।

इस प्रकार गुणालकार तो वाच्यवाचकभाव निष्ठ हैं, परन्तु ध्वनि तो व्यङ्ग्य व व्यञ्जकभाव का समाश्रयण करता है, अत दोनो का पृथक् आधार होने से गुणालकारो मे ध्वनि का न तो अन्तर्भाव हो सकता है, और न एकरूपता ही हो सकती है। फलत विरुद्धाधिकरणवृत्ति होने से ध्वनि का अपना पृथक् विभाग है, या ध्वनि विषय अपनी पूर्ण सत्ता मे है।

(२) द्वितीय ध्वन्यभाववादी प्रसिद्ध प्रस्थानवादी हैं। आपका कथन था कि काव्य का प्रस्थान तो प्रसिद्ध ही है, जैसाकि परम्परा से चला आया है। शब्दार्थयुगल काव्य का शरीर है तो गुणालकार उसके शोभाधायक तत्त्व हैं। उक्त प्रस्थान से व्यतिरिक्त तो काव्य का कोई प्रकार ही नहीं बनता है, यदि किसी ने किसी अन्य प्रकार की कोई कल्पना कर भी ली तो समस्त पण्डितमण्डल तो उसे मानने के लिए तैयार नहीं है। इसके उत्तर मे ग्रन्थकार का कथन है कि लक्ष्य के अनुसार ही लक्षण की व्यवस्था होती है, यदि ध्वनितत्त्व प्रसिद्ध रामायण महाभारतादि महाकाव्यो मे सुप्रतीत

है तो लक्षणाप्रसिद्धि उसकी बाधक नहीं हो सकती है। लक्ष्य ग्रन्थों की परीक्षा करने पर सहृदयहृदयानन्ददायक काव्य का प्राणस्वरूप सारभूत वह ध्वनितत्त्व सिद्ध हो चुका है। अतः दुराग्रही लक्षणकारों की असमीक्ष्यकारितावश वह अनुपलब्ध है, न कि उसका अभाव है। सारांश यह है कि प्रधान गुण भाव से सर्वत्र महाकवि प्रतिभा-प्रसूत सत्कृतियों में उत्तम या मध्यम रूप में इसकी स्थिति है, इनके अतिरिक्त चित्र काव्य की व्यवस्था है।

(३) तृतीय ध्वन्यभाववादी जिसे अन्तर्भाववादी भी कहा जाता है। इस पक्ष का यह कथन था कि यदि आप ध्वनि सिद्धान्तवादी ध्वनि को काव्य के चारुत्व का हेतु मानते हैं, तो फिर काव्य के सुप्रसिद्ध चारुत्व हेतु जो गुणालंकार हैं इन्हीं में कहीं ध्वनि का भी मान लिया जाए।

अत: ध्वनि नामक कोई विलक्षण पदार्थ नहीं है। इसके उत्तर में ध्वनिकार का कथन है कि वाच्यवाचकमात्र के आश्रित रहने वाले गुणालंकारों में व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव पर आश्रित ध्वनि का कैसे अन्तर्भाव हो सकता है। फिर वाच्य वाचक की शोभा को बढ़ाने वाले उपमा, अनुप्रासादि अलंकार तो ध्वनि के उपकारक हैं। अतः वे ध्वनि रूप नहीं हो सकते हैं, और न व्यापक ध्वनि का, सीमित उन अलकारों में, अन्तर्भाव ही हो सकता है।

इस परिकर श्लोक मे उक्त बातों का उपसहार करते हैं—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः॥

अर्थात्—व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव मूलक ध्वनि का, वाच्यवाचकमात्र के चारुत्व हेतुओं में कैसे अन्तर्भाव हो सकता है।

प्रतीयमान प्रतीतिहेतुक अलंकारों मे ध्वनि के अन्तर्भाव की आशंका

पुनः अलंकारवादी पूर्वपक्षी का कथन है कि ऐसे स्थल जहाँ प्रतीयमान अर्थ की स्पष्टतया प्रतीति नहीं होती है, उसमे ध्वनि स्वीकार न किया जाए, परन्तु जहाँ प्रतीयमान अर्थ की विशदतया प्रतीति हो रही है ऐसे—समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, सङ्करालंकार इत्यादि मे तो ध्वनि का अन्तर्भाव हो सकता है।

ध्वनिवादी का कथन है कि यह बात भी सगत नहीं है। क्योंकि ध्वनि के लक्षण मे ही हमने बता दिया है कि "उपसर्जनीकृतस्वार्थौ" इत्यादि। अर्थात्—अर्थ अपने आपको गुणीभूत करके और शब्द अपने अर्थ को जहाँ गुणीभूत करके किसी चमत्कार पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करता है, वही ध्वनि होती है। अर्थात् व्यंग्यार्थ के प्राधान्य मे ही ध्वनि व्यवहार होता है, समासोक्ति आदि मे तो व्यंग्यार्थ की प्रधानता रहती नहीं है। इन अलंकारों मे व्यंग्यार्थ गौण रहता है अतः इन्हे गुणीभूत व्यंग्य भी कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि समासोक्ति आदि गुणीभूतव्यंग्य स्थल में व्यंग्यार्थ स्वयं अपने मे विश्रान्त न होकर उलटा वाच्यार्थ का ही उपस्कार या अनुप्राणन करता है। अतएव उस अर्थ का उपस्करण होने के कारण ही उस (व्यंग्यार्थ) का अलङ्कारत्व माना जाता है। ऐसी स्थिति मे उस व्यंग्यार्थ के द्वारा उपस्कृत उस वाच्य से ही चमत्कार का लाभ होता है। इसी वाच्यार्थ को संस्कृत करने के कारण व्यंग्यार्थ यहाँ गौण-अप्रधान हो जाता है, इसीलिए इस व्यंग्य को गुणीभूतव्यंग्य कहते हैं।

समासोक्ति अलङ्कार का लक्षण—(भामह के अनुसार)—

यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थः तत्समानैर्विशेषणैः।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः ॥१॥

जिस उक्ति मे अन्य अर्थ—अर्थात प्रस्तुत से अतिरिक्त अप्रस्तुत अर्थ समान विशेषणो से प्रतीत होता है, उसे विद्वान लोग संक्षिप्तार्थ होने से समासोक्ति कहते हैं।

उदाहरण

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

सायंकालीन लालिमा से युक्त चन्द्रमा ने चंचल तारकायुक्त निशा के प्रारम्भिक भाग को, इतना शीघ्र प्रकाशित कर दिया, कि पूर्व दिशा की लालिमा—(या अरुण प्रकाश के) द्वारा नष्ट हुए—समस्त रश्मि सवलित तिमिर पटल को रात्रि लक्षित न कर सकी। यह वाच्यार्थ है अर्थात् प्रस्तुत अर्थ।

किसी राग भरे नायक ने चंचल आँखो वाली नायिका के मुखाग्रभाग को प्रेमावेग के कारण इतनी शीघ्रता से चुम्बन किया कि अनुरागातिशय से नायिका खिसकते हुए अपने नील निचोल को भी लक्षित न कर सकी।

यह अप्रस्तुत व्यंग्यार्थ समान विशेषणो द्वारा सूचित होता है। उक्त उदाहरण में अचेतन निशा व शशि मे अनुराग व चुम्बनादि अनुपपत्ति होने से समान विशेषणो की महिमा से नायक व नायिका का व्यवहार अभिव्यक्त होता है, तथापि नायक व नायिका का व्यवहार जिनमे समारोपित किया गया है उसे रात्रि और चन्द्र वृत्तान्त की ही यहाँ प्रधानता है। क्योंकि शृंगार के विभावभूत जो निशा व शशी हैं, इन्हीं को संस्कृत या उपस्कृत करता हुआ नायक का व्यवहार अलङ्कारता को प्राप्त करता है।

इसीलिए ग्रन्थकार का यह कथन कि "व्यंग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते, समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोर्निशा शशिनोरेव वाक्यार्थत्वात्।" ठीक ही है।

समासोक्ति आदि अलंकारो मे जहाँ प्रकरण प्राप्त अर्थ की प्रधानता होती है वहाँ व्यंग्यार्थ या प्रतीयमानार्थ वाच्यार्थ के अनुगत होता है। अर्थात् प्रतीयमानार्थ

वाच्यार्थ का उपस्कारक होता हं, इससे उपस्कृत वाच्यार्थ होता है, इसलिए इसी की प्रधानता होती है। यहां व्यंग्यार्थ के अप्रधान या गौण होने के कारण इसे गुणीभूत व्यंग्य भी कहते हैं।

महिमभट्ट की दृष्टि में यहाँ वाच्यार्थ प्रधान न होकर व्यग्यार्थ ही प्रधान है। आपका कहना है कि समासोक्ति आदि अलकारो में जो लोग वाच्यार्थ की प्रधानता मानते हैं। वह तो प्रकरण की अपेक्षा है न कि व्यग्य या प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा। अर्थात् ऐसे स्थलों में भी व्यग्यार्थ की ही प्रधानता रहती है, क्योंकि वहीं उपेय हैं वाच्यार्थ तो उसका उपायमात्र है।

महिमभट्ट की इस बात को उसके टीकाकार रुय्यक ने बड़े सुन्दर शब्दों मे प्रस्तुत किया है—

"इह द्विविधं प्राधान्यं प्राकरणिकत्वस्वरूप प्राधान्यं प्रतीयमानत्वस्वरूपं चेति। तत्र प्राकरणिकत्वस्वरूपं प्राधान्यं प्रतीयमानार्थप्रतीत्यर्यमुपात्तस्यार्थस्य समासोक्त्यादौ कामं विद्यते। न तु तदिह लक्षण उपयुज्यते। प्रत्याय्यप्रत्यायकभावजीवितं हि ध्वनि-लक्षणम्। तत्र प्रत्याय्यस्योपेयत्वात् प्राधान्यं, प्रत्यायकस्य पुनरुपायत्वादप्राधान्यम्। एवं च प्राकरणिकत्वसमुत्थापित भवदपि तस्य प्राधान्यं ध्वनिलक्षणे नोपयुज्यते।"

प्रधानत्व दो प्रकार का होता है, एक प्राकरणिकत्व स्वरूप और दूसरा प्रतीय-मानत्व स्वरूप। इनमें जो प्राकरणिकत्व स्वरूप प्राधान्य है, वह प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए अपनाए गए (वाच्यार्थ) समासोक्ति आदि में भले ही हो, किन्तु वह यहाँ ध्वनि लक्षण में उपयोगी नही है। क्योकि महिमभट्ट के सिद्धान्तानुसार—प्रत्याय्य प्रत्यायक भाव की प्रधानता ध्वनि का लक्षण है। इसमे भी जो प्रत्याय्य है वह प्रधान है, कारण कि वही उपेय है (साध्य है) और जो प्रत्यायक है, वह अप्रधान है, क्योकि वह उपाय (साधन) है। इस प्रकार प्राकरणिकत्वजनित प्राधान्य उस वाच्य मे रहने पर भी ध्वनि लक्षण में वह उपयोगी नही। अर्थात् ध्वनि स्थल में तो प्रतीयमानार्थ की ही प्रधानता है।

समासोक्ति आदि ऐसे गुणीभूतव्यंग्य स्थलों में ध्वनिकार प्राधान्याप्राधान्य का निर्णय चमत्कार को लेकर मानते हैं। "चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यग्ययो प्राधान्याप्राधान्यविवक्षा" इस सिद्धान्त के आधार पर जहाँ भी चारुत्व का अतिशय हो, वह चाहे वाच्य में हो या व्यंग्य में, उसीमे प्राधान्य की भी विवक्षा होगी। इस चारुत्व के अतिशय का निर्णायक इनके मत में "सहृदय" होगा। सहृदय प्रकरणादि द्वारा जिस अर्थ में चमत्कारातिशय का निर्णय देगा वही अर्थ प्रधान होगा।

परन्तु व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट—नैय्यायिक होने के नाते एकमात्र साध्य-साधनभाव को ही प्राधान्याप्राधान्य का निर्णायक मानते हैं। आपके मत में प्रतीयमान साध्य होता है, इसलिए वह प्रधान होता है, और वाच्यार्थ उसका साधन होता है, इसीलिए वह अप्रधान ही होता है। आप व्यंग्य के इस उत्कर्षापकर्ष निमित्त से काव्य

मे भी उत्तम मध्यमादि की श्रेणी को भी स्वीकार नही करते हैं। तात्पर्य यह है कि आप गुणीभूतव्यग्य काव्य नहीं मानते, इसे मानने से फिर ध्वनि लक्षण मे दोष देने के लिए कोई गुजाइश नही रह जाती है।

वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक उक्त समासोक्ति के उदाहरण "उपोढरागेण विलोलतारकम्" इत्यादि श्लोक मे रसवत अलकार मानते हैं। आपका कहना है कि— "रसवत्" यह पद भामह व उद्भटादि की तरह मतुप् मे नहीं बल्कि सादृश्यार्थक "तेन तुल्य क्रिया चेद्वति' इस सूत्र से "वति" प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। इस प्रत्यय भेद का तात्पर्य यह हुआ कि भामह व उद्भटादि के मत मे तो रसयुक्त अलकार 'रसवत्' कहलाता है। पर कुन्तक के मत मे रस के समान आह्लाददायक अलकार 'रसवत्' अलकार कहलाता है। जैसाकि स्वय उन्होने कारिका द्वारा कहा है—

यथा स रसवन्नाम सर्वालकारजीवितम्।
काव्यैकसारता याति तथेदानीं विवेच्यते ॥१४/३॥
रसेन वर्तते तुल्य रसवत्वविधानत।
योऽलकार स रसवन्, तद्विदाह्लादनिर्मिते ॥१५/३॥

जिस प्रकार वह रसवत् समस्त अलकारो का जीवन स्वरूप और काव्य का अद्वितीय साररूप हो सकता है, उस प्रकार का अब हम (अपने नये दृष्टिकोण से) विवेचन करते हैं।

रसतत्त्व के विधान से और सहृदयो के आह्लाददायक होने से जो कोई भी अलकार रस के समान हो जाता है, वह अलकार हमारे मत मे 'रसवत्' कहा जाता है।

उक्त नियम के अनुसार यहाँ "उपोढरागेण विलोलतारकम्" इत्यादि पद्य मे भी सुन्दर रूप वाले निशा और शशी के वर्णन मे नायक वृत्तान्त को शशी मे तथा नायिका के वृत्तान्त को निशा मे समारोप द्वारा कवि ने रूपकालकार की रचना की। यह रूपकालकार श्लेष की छाया से और मनोहर विशेषणो की वक्रता से और निशा व शशी शब्दो के स्त्रीलिंग व पुल्लिग के निर्देश के विशेष सामर्थ्य से काव्य की सरसता को प्रस्फुटित करता हुआ, सहृदयो को आह्लाद प्रदान करता हुआ स्वय ही रसवदलकार को प्राप्त हो गया है।

"अत्र स्वभावावसरसमुचितसुकुमारस्वरूपयोर्निशाशशिनोर्वर्णनाया, रूपकालकार. समारोपितकान्तवृत्तान्त, कविनोपनिबद्ध, स च श्लेषच्छायामनोज्ञविशेषणवक्रभावाद्, विशिष्टलिंग सामर्थ्याच्च, काव्यस्य सरसतामुल्लासयस्तद्विदाह्लादमादधान स्वयमेव रसवदलकारता समासादितवान्'।

कुन्तक के मत मे यहाँ अलकार के साथ रस का विशेष सम्बन्ध होने मात्र से यह रसवदलकार है, फिर चाहे वह रस प्रधान हो या अप्रधान हो। रसरहित स्थिति मे कुन्तक अन्य उपमादि अलकार मानते हैं परन्तु जहाँ अन्य अलकारो के साथ भी रस

का विशेष सम्बन्ध रहता है, वहाँ वह साधारण अलंकारों से भिन्न 'रसवदलंकार' हो जाते हैं। प्रायः कुन्तक समासोक्ति स्थान में रसवदलकार ही मानते हैं, क्योंकि उसमें नायक-नायिका आदि के वृत्तान्त के समारोप होने के कारण रसवत्ता की विशेष प्रतीति होती है।

इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के द्वितीय अक में वाटिका का सिंचन करती हुई शकुन्तला के भ्रमर बाधा के वर्णन "चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्" इत्यादि समासोक्ति स्थल मे भी रसवदलंकार ही मानते है। उक्त पद्य का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि—

"अत्र परमार्थः प्रधानवृत्तेः शृंगारस्य भ्रमरसमारोपितकान्तवृत्तान्तो रसवदलंकारः शोभातिशयमाहितवान्"।

अर्थात्—इसमें वास्तविक अभिप्राय यह है कि भ्रमर में कान्त-नायक के व्यवहार का आरोप करने वाला रसवदंलकार काव्य की सरसता के अतिशय तथा सहृदयो के आह्लादकारित्व का कारण होने से, प्रधानरूप से स्थित शृगार रस की अपूर्व शोभा को उत्पन्न कर देता है।

परन्तु ध्वनिवादी आचार्य ऐसे रूपक या समासोक्ति स्थानो में प्रतीयमान रस को किसी अलंकार का अग नही मानते हैं। अपितु प्रस्तुत व अप्रस्तुत अर्थो के प्राधान्या-प्राधान्य के आधार पर ही समासोक्ति आदि अलकार या गुणीभूतव्यग्यादि की व्यवस्था करते हैं।

इसी प्रकार आक्षेपालंकार में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नही हो सकता है। क्योंकि आक्षेप अलंकार में भी व्यङ्ग्य विशेष का आक्षेप करने वाले वाच्य अर्थ की ही प्रधानता या चारुता रहती है। इसलिए कि प्रधानतया वाच्यार्थ आक्षेपोक्ति के सामर्थ्य से ही जाना जाता है।

भामह का आक्षेपालंकार का लक्षण इस प्रकार है—

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥

विशेष कथन की इच्छा से, इष्ट वस्तु का प्रतिषेध सा जहाँ किया जाए, वह वक्ष्यमाण विषय और उक्तविषय के भेद से दो प्रकार का आक्षेप होता है।

तात्पर्य यह है कि आक्षेपालंकार मे भी शब्द द्वारा प्रतिपादित इष्ट निषेधात्मक वाच्यरूप आक्षेपालंकार ही स्वयं अनुपपन्न होता हुआ, अपनी उपपत्ति के लिए व्यङ्ग्य विशेष का आक्षेप करता है, वहाँ उक्त व्यङ्ग्य उपपादक होने से अग ही है, इसीलिए व्यंग्य के अप्रधान गौण होने से यहाँ भी ध्वनि का अन्तर्भाव नही हो सकता है। क्योंकि व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होने पर ही ध्वनि का व्यवहार होता है, और वाच्य-व्यंग्य की मुख्यता के व्यवहार का आधार एकमात्र चारुत्व की प्रतीति है। अतः आक्षेपालंकार में भी यह चारुत्व वाच्यनिष्ठ ही है।

जैसे निम्न दृष्टान्त मे—

अनुरागवती सध्या दिवसस्तत्पुर सर ।
अहो दैवगति कीदृक् तथापि न समागम ॥

सध्या (नायिका) अनुराग (सान्ध्य कालीन लालिमा या प्रेम) से भरी है, और दिवस (नायक) उसके सामने सरक रहा है। अहो दैवगति कैसी है कि तब भी समागम नहीं होता।

यहाँ उभयानुराग होने पर भी "गुरुजनो की परतन्त्रता आदि का कारण" व्यग्य विशेष का यद्यपि आक्षेप हो रहा है, परन्तु चमत्कार दिवस व सन्ध्यारूप वाच्यार्थ मे ही है। अत उक्त स्थल मे भी व्यग्य की प्रधानता के न होने से ध्वनि का उसमे अन्तर्भाव नही हो सकता है।

लोचनकार के मतानुसार उक्त उदाहरण वामन के मत से आक्षेपालकार का है और भामह के मत से समासोक्ति का है। इन दोनो के आशय को हृदय मे रखकर ग्रन्थकार ने उक्त पद्य को उदाहरण के रूप में दिया है। जिस प्रकार दीपक व अपह्नुति आदि मे भी व्यग्यरूप से उपमा की प्रतीति होने पर भी मुख्यरूप से उपमा की विवक्षा न होने के कारण, उसका व्यवहार नहीं होता है, उसी प्रकार आक्षेपालकार मे भी व्यग्य के रहने पर भी अत्यन्त रमणीय वाच्यार्थ का ही मुख्य रूप व्यवहार होता है।

आचार्य मम्मट के अनुसार दीपकालकार का लक्षण इस प्रकार है—

सकृद् वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीसु कारकस्येतिदीपकम् ॥

एक धर्म का जहाँ अनेक प्रकृताप्रकृत धर्मियो मे अन्वय हो उसे दीपक कहते हैं। जैसे—

सजहार शरत्काल कदम्बकुसुमश्रिय ।
प्रेयो वियोगिनीना च निश्शेषसुखसम्पद ॥

शरत्काल ने कदम्ब के फूलो की शोभा और प्रिय प्रेयसियो की सारी सुख सम्पदाओं को नष्ट कर डाला।

यहाँ एक ही शरत्काल का या सहरण क्रिया का कदम्ब-कुसुम की शोभा और वियोगिनियो की सुख सम्पदा मे अन्वय होता है।

एव प्रस्तुत वस्तु को छिपाकर तत् सदृश अन्य वस्तु का जहाँ स्थापन हो उसे अपह्नुति कहते हैं। जैसे—"चाँदनी के समान मनोरम विशेषकर आप जैसे सुकुमार व्यक्ति के लिए निश्चय ही यह तप नहीं है अपितु हलाहल विष है"।

यहाँ प्रस्तुत तप का अपलाप कर तद्वत् दु खजनक होने से विष को स्थापित किया गया है। इन दोनो स्थलो मे अर्थात् दीपक व अपह्नुति मे—कदम्बपुष्पश्री एव वियोगिनी-सुखसम्पदा और तप एव हलाहल विष मे उपमानोपमेय भावरूप व्यग्य रहने पर भी उक्त दीपक-अपह्नुतिरूप वाच्यार्थ की ही रमणीयता या मुख्यता होने से उक्त वाच्यालकारों द्वारा ही व्यवहार होता है।

इसी प्रकार अनुक्त निमित्ता विशेषोक्ति में भी व्यङ्ग्य के अप्रधान रहने पर ध्वनि के अन्तर्भाव की कोई सम्भावना ही नहीं की जा सकती है।

उद्भट के द्वारा लक्षित विशेषोक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

यत् समग्रेऽपि हेतूनां फलानुत्पत्तिवन्धनम्।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद्विशेपोक्तिरुच्यते ॥

जहाँ सामग्री के रहने पर भी कोई विशेषता के सूचनार्थ, कार्योत्पत्ति न दिखलायी जाय, उसे विशेषोक्ति कहते हैं।

इसी अनुक्त निमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण दिखलाते है—

आहूतोऽपि सहायैरोमीत्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिक: संकोचं नैव शिथिलयति॥

मित्रों द्वारा साथ चलने के लिए बुलाये जाने पर भी, आता हूँ, ऐसा कहकर, नीद तोड़ लेने पर भी प्रस्थान के इच्छुक होने पर भी, यह पथिक नेत्र शरीरादि के संकोच को नही छोड़ रहा है।

इस अनुक्तनिमित्ता विशेपोक्ति के उदाहृरण मे भी प्रकरण के सामर्थ्य से व्यङ्ग्य की प्रतीतिमात्र हो जाती है, परन्तु उसी प्रतीति के कारण कोई चारुत्व की निष्पत्ति नही होती है। अतः यहाँ भी व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं है।

उक्त पद्य में प्रकरण की सहायता से लोगों ने अनेक प्रकार के व्यङ्ग्यविशेष निमित्त की कल्पना की है।

जैसे—भट्टोदभट का कहना है कि उक्त पद्य का पथिक अत्यधिक शीत के कष्ट के कारण संकोच को शिथिल नही कर रहा है। यही निमित्त यहां व्यङ्ग्य होगा कि "पथिक शीत से अत्यन्त पीड़ित है" इस प्रकार के व्यङ्ग्य में तो कोई चमत्कार नहीं है। लोचनकार का कथन है कि कुछ अन्य रसिको ने अन्य प्रकार से भी निमित्त की कल्पना की है—कोई पथिक जिसे घर से प्रस्थान किये बहुत दिन हो गये हैं, और यह रास्ता भी थोड़े दिनों मे तय होने वाला नही है, इस सुदीर्घ प्रस्थान मे अनेक मुसीवतों के बीच उसे समय-समय पर घर की याद आ जाती है, परन्तु मजबूरी से उसे यह प्रवास का प्रस्थान अनिवार्य सा है। दिन भर वह अपने मित्रों के साथ वातचीत व गमनादि कार्यकलापों में मग्न रहता है यहां तक रात को अत्यन्त थका होने के कारण शीघ्र ही निन्द्रानिमग्न हो जाता है। फिर वटोहियों की रात होती ही कितनी है, जो वातों ही वातों में कट जाती है, अपने मित्रो के संकोच से यह पथिक शीघ्र सो भी नहीं सकता है, जिससे रात्रि के कुछ भाग में नींद लेके फिर अवशिष्ट भाग में अपने घर कान्ता से सम्वन्धित मधुर कल्पना कर सके, इस हतभाग्य को तो केवल सवेरे का ही समय अपनी प्रिय कल्पना का समय मिला है, जो समय पथिकों का शीघ्रातिशीघ्र प्रस्थान का

होता है। अपने घर व कान्ता की जब इसे प्रातःकाल स्मृति आई तो पथिक सोचता है, कि यहां से मेरा घर लौटकर जाना तो असम्भव सा है, क्यों न एक झपकी नींद लेकें अपने घर या कान्ता विषय का मधुर स्वप्न देख लूं। अतः एव वह जागता हुआ भी, यह आ रहा हूं कहता हुआ भी सकोच को शिथिल नहीं कर रहा है।

अनुक्त निद्रागम बुद्धि ही इस पद्य का विशेष भाग है, इसलिए सकोच नहीं छोड रहा है।

परन्तु अलकार शास्त्र के मर्मज्ञों ने उक्त निमित्त व्यङ्ग्य को भी चारुत्व का हेतु नहीं बतलाया है, अपितु *"सकोच नैव शिथिलयति"* इस वाच्याभिधान मे जितना चमत्कार है उतना उक्त निमित्तभूत व्यङ्ग्य मे नहीं है।

अतः इसमे भी ध्वनि के अन्तर्भाव की सम्भावना नहीं है।

पर्यायोक्त अलकार मे ध्वनि के अन्तर्भाव की आशका

पर्यायोक्त अलकार मे भी यदि व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता है, तो ध्वनि मे उसका अन्तर्भाव हो सकता है, न कि ध्वनि का पर्यायोक्त मे, क्यो कि ध्वनि के महाविषय होने से और अङ्गी होने से अर्थात् व्यापक ध्वनि का व्याप्य पर्यायोक्त अलकार मे अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

उद्भट का पर्यायोक्त लक्षण इस प्रकार है—

पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्या शून्येनावगमात्मना॥

वाच्यवाचक—शब्दार्थ वृत्ति से रहित, व्यञ्जना व्यापार रूप किसी अन्य ही प्रकार से जहा अभिधान किया जाता है, उसे पर्यायोक्त अलकार कहते हैं।

उदाहरण—

शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिन।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना॥

शत्रु के विनाश की दृढ इच्छा वाले, उन्मार्गगामी मुनि (परशुराम) को (भीष्म के) इस धनुष ने धर्म पालन की शिक्षा दी।

यद्यपि यहाँ व्यञ्जना व्यापार लभ्य अर्थ—भीष्म का प्रभाव भार्गव—परशुराम के प्रभाव को अभिभूत करने वाला है, यह प्रतीत होता है। तथापि इस प्रतीयमानार्थ की अपेक्षा—"भीष्म के धनुष ने धर्मपालन की शिक्षा दी" यह वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारी है, इसी अर्थ से काव्यार्थ अलकृत है।

वस्तुतः भामह के द्वारा उदाहृत पर्यायोक्त मे तो व्यङ्ग्य की प्रधानता ही नहीं है, क्योकि उसमें वाच्य का उपसर्जनीभाव विवक्षित नहीं हैं।

गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः ।
विप्रा न भुञ्जते तच्च रसदाननिवृत्तये ।। भा० ३/९

जिस अन्न को स्वाध्याय करने वाले विप्र लोग नही खाते, उसको घरो में और मार्गों मे हम नही खाते है ।

(यह रसदान-विषदान की निवृत्ति के लिए है)

यह उक्ति भगवान् श्रीकृष्ण की शिशुपाल के प्रति है, जबकि भोजन के बहाने शिशुपाल उन्हे विष देना चाहता था । इसमें भगवान् का कथन है कि बिना स्वाध्याय-शील विप्रो को भोजन कराये, हम लोग कही भी घर मे या मार्ग में भोजन नही करते हैं—यह वाक्य प्रकारान्तर से विषदान का निषेध कर रहा है ।

यह प्रकारान्तर मे विषदान की निवृत्ति ही यहां प्रतीयमान है । इसकी अपेक्षा ब्राह्मणों के खाने के बाद में ही हम लोग खाते है, इस उक्ति मे जितनी रमणीयता है उतनी रमणीयता पूर्वोक्त प्रतीयमान मे नही ।

अथवा—"गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्" प्रतीयमान अर्थ को भी जहाँ प्रकारान्तर मे अभिहित किया जाय, अर्थात् वाच्यवृत्ति के द्वारा कथन कर दिया जाय उसे पर्यायोक्त कहते हैं । इस लक्षण के अनुसार—"रसदाननिवृत्तिरूप" व्यङ्ग्य यहां शब्द कह ही दिया है; उक्त व्यङ्ग्य को पुनः कह देने से भी प्रतीयमान-गत चमत्कार जाता रहा, अत. ऐसे पर्यायोक्त मे तो फिर ध्वनि के अन्तर्भाव की कोई सम्भावना ही नही है ।

अपह्नुति और दीपक मे तो वाच्य की प्रधानता एवं उपमानोपमेयभाव रूप व्यङ्ग्य की अप्रधानता प्रसिद्ध ही है ।

संकरालकार में जहाँ एक अलंकार अलंकारान्तर की छाया (सौन्दर्य) का ग्रहण करता है, वहाँ व्यङ्ग्य की प्राधान्येन विवक्षा न होने से ध्वनि विषयता ही न होगी ।

विद्यानाथ ने संकरालंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—

नीरक्षीरनयाद्यत्र सम्बन्धः स्यात् परस्परम् ।
अलंकृतीनामेतासां सङ्करः स उदाहृतः ।।

जहाँ दूध व पानी की तरह अलंकारों का आपस में सम्मिलन होता है, वहाँ संकरालंकार होता है ।

जिस संकर में दो अलंकारो की सम्भावना हो और एक के निश्चय करने में कोई साधक या बाधक प्रमाण न मिले ऐसे संदेह-संकरालंकार मे वाच्य व व्यङ्ग्य का रूप प्राधान्य होने से (अथवा किसी एक अलंकार के प्राधान्याप्राधान्य के निश्चय न होने से) ध्वनि का अन्तर्भाव इसमें नही हो सकता । यदि कदाचित् कही संकरालंकार

मे भी व्यङ्ग्य की प्रधानता हो भी जाय तो ध्वनि मे ही उसका अन्तर्भाव हो जायेगा, क्योंकि ध्वनि का यह विषय है।

सामान्यतया सकरालकार की यह अलकारद्वय सकरोक्ति ही ध्वनि सम्भावना की निवृत्ति कर देती है।

अप्रस्तुतप्रशसा

अप्रस्तुतप्रशसा—जहां अप्रस्तुत अर्थ से प्रस्तुत अर्थ का आक्षेप होता है।

इसमे अप्रस्तुत अभिधीयमान होता है, और प्रस्तुत प्रतीयमान, यह अप्रस्तुत प्रशसा पांच प्रकार की होती है—

१—सामान्य विशेषभावमूलक—अप्रस्तुत प्रशसा—इसके दो भेद होते हैं—

क—अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप।

ख—अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप।

२—कार्यकारणभावमूलक-अप्रस्तुत प्रशसा—इसके भी दो भेद होते हैं।

क—अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का आक्षेप।

ख—अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य का आक्षेप।

३—सादृश्यमूलक एक भेद

इस अप्रस्तुत प्रशसा मे भी जब सामान्य विशेष का कार्यकरण भाव का शब्दों द्वारा अभिधीयमान अप्रस्तुत और प्रतीयमान प्रस्तुत से सम्बन्ध होता है, तब अभिधीयमान व प्रतीयमान का प्राधान्य समान ही होता है।

अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष के आक्षेप का उदाहरण जैसे—

अहो ससारनैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम्।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधे॥

ओह यह ससार की कितनी कठोरता है, ओह आपत्तियो की यह कितनी क्रूरता है। अरे! स्वभावत कुटिल इस विधि के विपरीत विलासो को जानना कितना कठिन है।

यहां दैव के इस सामान्य उपालम्भरूप अप्रस्तुत मे प्रस्तुत किसी विनष्ट वस्तु के विषय मे जो कि विशेष्य है, चिन्ता की जा रही है। यहां विशेष प्रतीयमान होते हुए भी सामान्य से व्याप्त होने के कारण व्यङ्ग्य विशेष की तरह सामान्य का भी प्राधान्य है।

कार्यकारणभावमूलक अप्रस्तुत प्रशसा मे भी यही बात है अर्थात् जैसे सामान्य विशेषभावमूलक अप्रस्तुत प्रशसा मे वाच्य व व्यङ्ग्य का समप्राधान्य रहता है, उसी प्रकार निमित्तनिमित्तिभावमूलक या कार्यकरणभावमूलक अप्रस्तुतप्रशसा मे भी वाच्य व व्यङ्ग्य का समप्राधान्य ही होगा।

अर्थात् सत्कार्यवाद के सिद्धान्तानुसार कार्यकारणभाव मूलक अप्रस्तुत प्रशंसा में—कारण ही अपने सूक्ष्म कलेवर को बदलकर विशालकाय कार्यरूपी कार्य में परिणत हो जाता है। इस दशा में कार्य की प्रधानता की तरह कारण की भी प्रधानता रहेगी। और जब कार्य अपने विशालरूप को छोड़कर सूक्ष्म रूप धारण कर कारणरूप में परिणत होगा, तब कारण की तरह कार्य का भी प्राधान्य रहेगा, क्योंकि सत्कार्यवाद सिद्धांत के अनुसार दोनों में तादात्म्य है, दोनों एक हैं।

अप्रस्तुतप्रशंसा के सारूप्यात्मक पञ्चम भेद में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि सारूप्य या सादृश्यवश वहाँ भी प्रस्तुत व अप्रस्तुत दोनों का सम्बन्ध प्रतीत होता है।

यदि स्वरूप वाच्य का अप्रस्तुत होने से अप्राधान्य और प्रस्तुत व्यङ्ग्य का प्राधान्य हो तो भी ध्वनि में ही उसका अन्तर्भाव हो सकता है पूर्वोक्तन्याय से।

सारूप्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण—दुष्ट से तिरस्कृत प्रस्तुत प्रतीयमान कोई गुणी पुरुष, अप्रस्तुत अभिधीयमान चञ्चरीक अवहेलित चम्पक के प्रति यह उक्ति है—

यन्नाहतस्त्वमलिना मलिनाशयेन किं तेन चम्पकविसादमुरीकरोषि।
विश्वाभिरामनवनीरदनीलवेशाः केशाः कुशेशयदृशां कुशली भवान्तु॥

कानन मे किसी भ्रमर के द्वारा उपेक्षित चम्पक को—सम्बोधित करते हुए कोई कवि कहता है कि, हे चम्पक ! मलिनाशयवाले अलि ने जो तुम्हारी उपेक्षा की है, इसके लिए तुम चिन्ता मत करो, सिर्फ यह सोचो कि संसार में रमणीय नील नीरद वेश वाले कमललोचनाओं के केशपास कुशल से रहें।

इसमें वाच्य चम्पक और प्रतीयमान किसी गुणी पुरुष की प्रतीति हो रही है, ऐसे स्थलो में यदि प्रतीयमानार्थ का प्राधान्य रहे तो ध्वनि में ही इसका अन्तर्भाव हो जायेगा, क्योंकि ध्वनि का विषय व्यापक है।

पूर्वोक्त विषय के सार को इन कारिकाओं के संग्रह से बतला रहे हैं—

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः॥१४॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते॥१५॥

जिस काव्य में वाच्यमात्र के उपकारक होने से व्यङ्ग्य अप्रधान है, उनमें समासोक्ति आदि अलंकार स्फुट रूप से प्रतीत होते हैं। या जहाँ पर व्यङ्ग्य की झलक सी प्रतीत होती हो, स्फुटता न हो अथवा स्फुटता होने पर भी वाच्य-व्यङ्ग्य दोनों की प्रधानता प्रतीत होती है, वहाँ भी ध्वनि नहीं समझनी चाहिए।

इसीलिए इन समासोक्ति आदि अलकारो मे ध्वनि का अन्तर्भाव नही हो सकता है।

इसलिए भी नही कि विद्वानो ने चमत्कार जनक काव्यविशेष ध्वनि को ही मुख्य रूप से अङ्गी माना है। गुण, अलकार, रीति तो उसके अङ्ग ही हैं। अत अङ्गाङ्गिभाव होने से ये दोनो एक नही हो सकते हैं।

ध्वनि काव्य तो वही हो सकता है कि जिसमे व्यङ्ग्यार्थ अवगत कराने के तात्पर्य मे ही वाच्य व वाचको की स्थिति हो, अर्थात् शब्दार्थ जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के उपस्कार के लिए उन्मुख हो, इसी तात्पर्य से इनका निवेश हो, अलकारो के मिश्रण से रहित वह काव्य ध्वनिकाव्य कहा जाता है—

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्य प्रति स्थितौ।
ध्वने स एव विषयो मन्तव्य सकरोज्झित ॥१६॥

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन से यह सम्भावना भी सर्वथा निर्मूल हो जाती है कि ध्वनि किसी वाक् विकल्पो के प्रकार लेश मे गतार्थ हो सकेगा। ध्वनि को स्वल्प विषयक मानकर पूर्वोक्त अभाववादियो का जो यह सरम्भ था कि इसको किसी गुणालकार के आकार प्रकार विशेष मे ही अन्तर्भाव कर दिया जाय, यह केवल उनकी दुराशा मात्र है, क्योकि वक्ष्यमाण आकार प्रकार व भेदो की विवक्षा से ध्वनि का विषय सीमित नही है। इस प्रकार विशाल इस ध्वनि के क्षेत्र को परम-सीमित अलकार प्रकारो के प्रतिपादन मात्र से गतार्थ नही कर सकते है।

अशेष विशेषताओ से परिमण्डित इस ध्वनि के दिव्य कलेवर को केवल ईर्ष्या कलुषित नयनो के कटाक्षपात का विषय नही बनाना चाहिए।

और ध्वनिवादियो को अपनी उदारता व उदारता के अनुरूप ही अनुचित प्रतिक्रिया मे चतुर अलकारवादियो की इस चञ्चलता पर क्षमा ही करना चाहिए।

ध्वनि के सामान्य स्वरूप का निर्देश

ध्वनि के अभाववादियो का निराकरण कर, ध्वनि की सत्ता को सिद्ध करते हुए, अब आचार्य ध्वनि सामान्य स्वरूप की चर्चा करते हुए, भाक्तवाद व अनिर्वचनीयतावाद का भी परिहार करेंगे।

सामान्यत ध्वनि के दो भेद हैं—अविवक्षितवाच्य ध्वनि और विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि।

इनमे प्रथम अविवक्षितवाच्यध्वनि=लक्षणामूला ध्वनि है। और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि=अभिधामूला ध्वनि है। अविवक्षितवाच्य ध्वनि पुन अर्थान्तर-सक्रमित वाच्य व अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य के भेद से दो प्रकार का होता है। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि भी असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के

भेद से दो प्रकार की होती है। उक्त ध्वनियो के भेद प्रभेद उदाहरण सहित द्वितीय उद्योत में विस्तार से दिखलाये जायेंगे। यहाँ केवल संक्षेप में उक्त दोनों ध्वनियों का उदाहरण पूर्वक सामान्य परिचय दिया जाता है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि का उदाहरण—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

(सुवर्णपुष्पा) सोने को फूलने वाली पृथिवी का चयन तीन ही पुरुष करते हैं, एक तो शूर, दूसरा विद्वान्, और तीसरा जो सेवा करना जानता है।

यहाँ पृथिवी का सोने का फूल लगना पुन. शूर आदि द्वारा उसका चयन किया जाना ये दोनों अर्थ असङ्गत से है। मुख्यार्थ या वाच्य इस प्रकार अविवक्षित या असङ्गत होने से तत्पश्चात् लक्षणा द्वारा (सादृश्य सम्बन्ध के वल पर) शूर विद्वान् व चतुर सेवक अनायास ही प्रर्याप्त धन-सम्पत्ति प्राप्त कर लेते है, यह बात लक्षित होती है। अर्थात् लक्षणाशक्ति द्वारा शूर 'विद्वान् व सेवक इन तीनों की सुलभसमृद्धि-सम्भारभाजनता लक्षित होती है। इस लक्षणा का प्रतीयमान प्रयोजन है, उन तीनों व्यक्तियों का प्राशस्त्य, अर्थात् इस प्रकार के ये तीन पुरुष ही इस पृथिवी में प्रशस्त या प्रशंसा के भाजन हैं, जो अपनी शूरता विद्वत्ता व सेवानिपुणता से सुलभ सम्पत्ति वाले है।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का उदाहरण—

शिखरिणी क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति विम्बफलं शुकशावकः ॥१६॥

हे तरुणि ? यह तोते का वच्चा किस पर्वत पर कितने दिनों तक कौन सा तप किया है, जो तेरे अधर के समान लाल वर्ण वाले विम्वफल वड़ी चाव से चख रहा है।

उक्त पद्य मे कोई खुशामदी नायक किसी प्रेयसी से सामने तोते के बच्चे को निर्देश कर कह रहा है कि तुम्हारे अधर के समान लाल वर्ण के विम्वफल के आस्वादन के लिए न मालूम शुकशावक ने कौन से सिद्धिदायक श्रीपर्वतो पर, न जाने कितने वर्षो तक, कौन सा तप किया होगा, जिसके फलस्वरुप आज यह तुम्हारे अधर के समान पाटल वर्ण के विम्वफल के आस्वादन का सौभाग्य प्राप्त कर रहा है।

अर्थात् जब तुम्हारे अधर के तुल्य विम्बफल के आस्वादन के लिए इस प्रकार की असामान्य तपस्या करनी पड़ती है तो फिर साक्षात् तुम्हारे अधर पान के लिए न मालूम कौन सा तप करना पड़ेगा। तुम्हारा अधर प्रकृष्ट पुण्यों द्वारा ही लभ्य है, यह पार्यन्तिक व्यङ्ग्य है।

भक्तिवाद का समाधान

प्रथम कारिका मे जो कहा था "भाक्तमाहुस्तमन्ये" अर्थात् कुछ भक्तिवादी (लक्षणावादी) आचार्य ध्वनि को भक्ति = लक्षणा मे ही गतार्थ मानते थे, उन्ही के समाधान के लिए ध्वनिवादी पूछते हैं कि, क्या आप भक्ति और ध्वनि को पर्यायवत् एक समझते हो, या भक्ति को ध्वनि का लक्षण समझते हो, अथवा भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण समझते हो।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'घट कलश' की तरह पर्यायवत् भक्ति को ध्वनि का ताद्रूप्य-अभेद मानते हो, या पृथिवी के पृथिवीत्व या गन्धवत्व जिस प्रकार व्यावर्तक धर्म है, उसी प्रकार भक्ति को ध्वनि का व्यावर्तक धर्म—लक्षण मानते हो, अथवा देवदत्त के घर के उपर बैठा हुआ कौवा जैसे उक्त घर का उपलक्षक = सूचक होता है इसी प्रकार क्या भक्ति भी ध्वनि का उपलक्षण है ?

लोचनकार अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इन विकल्पों को इस प्रकार कहा है—

"अथ भाक्तं—भक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पर्यायवत्ताद्रूप्यम् ? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या अन्यतो व्यावर्तकधर्मरूपतया लक्षणम् ? उत काक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुपलक्षणम् ?"

इसमें ध्वनिवादियों का समाधान यह है कि प्रथम पक्ष मे जो भक्ति ध्वनि मे ताद्रूप्य माना है वही ठीक नही क्योकि—

"भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनि:"

यह उक्त प्रकार का ध्वनि भिन्न-रूप होने के कारण भक्ति से एकत्व (ताद्रूप्य अर्थात् अभेद) प्राप्त नही करता, क्योकि वाच्य से व्यतिरिक्त अर्थ का वाच्य और वाचक के द्वारा तात्पर्यरूप से जहा प्रकाशन होता है, उस व्यङ्ग्य प्राधान्य मे ध्वनि का व्यवहार होता है।

भक्ति तो उपचारमात्र है। अतिशयित व्यवहार है। अर्थात्—जिस शब्द का जिस अर्थ मे संकेतत व्यवहार प्रसिद्ध है, उसे छोडकर, उससे सम्बद्ध अर्थ मे शब्द का व्यवहार ही, अतिशयित व्यवहार कहा जाता है। यद्यपि इसमें कुछ प्रयोजन भी होता है, परन्तु उपयोगी न होने से वह असत्कल्प ही होता है। इसीलिए उपचार के साथ मात्र शब्द का प्रयोग किया गया, "उपचारो गुणवृत्तिलक्षणा, उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थ" इस प्रकार स्वरूप भेद से भक्ति और एकरूप या एक नही हो सकते हैं।

द्वितीय पक्ष मे—भक्तिध्वनि का लक्षण भी नही हो सकती है, क्योंकि—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥१७॥

अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष के कारण भक्तिध्वनि का लक्षण भी नही बन सकता है।

क्योंकि यह नियम है कि लक्षण को अतिव्याप्ति अव्याप्ति व असम्भव इन तीनों दोषों से रहित होना चाहिए।

"तत्र लक्ष्यवृत्तित्वे सति लक्ष्येतरवृत्तित्वमतिव्याप्ति:"

अर्थात् जो लक्षण लक्ष्य वृत्ति होते हुए, तदितर में भी व्याप्त हो, उसे अतिव्याप्ति कहते हैं जैसे यदि "शृङ्गित्वं गोत्वम्" अर्थात् जो सींग वाली है वही गाय है, यदि गाय का ऐसा लक्षण किया तो शृङ्ग तो महिषादि में भी है, अत: इस लक्षण के लक्ष्य=गो से इतर—महिषादि में भी व्याप्त होने से अतिव्याप्ति नामक लक्षण दोष होगा।

"लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्ति:" यह अव्याप्ति का लक्षण है, अर्थात् जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में सङ्गत होकर भी तदितर देश मे असङ्गत होगा।

जैसे—"कपिलत्वं गोत्वम्" अर्थात् जो कपिलवर्ण की है वह गाय है ऐसा यदि गाय का लक्षण किया जाय तो लक्ष्य—गाय के एक देश सफेद गाय में लक्षण व्याप्त नही होगा, फलतः लक्षण मे अव्याप्ति नामक दोष आ जायेगा।

इसी प्रकार असम्भव दोष वहाँ होता है, जो वस्तु लक्ष्यमात्र में न मिले, "लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भव:" जैसे यदि हम एकशफत्व=अर्थात् जो एक शफ वाली है वह गाय है, ऐसा यदि गाय का लक्षण करेंगे, तो लक्ष्यमात्र किसी भी गाय का एक शफ नहीं मिलेगा, गाय के पैर बीच में कटे होने से दोशफ होते हैं, एक शफ तो घोड़े का होता है। इस तरह दोष भय शून्य ही लक्षण कहलाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में भी अतिव्याप्ति व अव्याप्ति के होने से भक्ति ध्वनि का लक्षण नही हो सकती है। क्योंकि ध्वनि से भी भिन्न स्थल में भक्ति का सम्भव है, यह अतिव्याप्ति हुई। अर्थात् जहां व्यञ्जना व्यापार जन्य चमत्कार नही है वहां भी, ऐसे भक्ति=गुणवृत्ति स्थल में भी कवि लोग व्यवहार करते देखे जाते हैं जैसे—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो।
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः।
किमिक्षोर्दोषोऽयं न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

जो दूसरों के लिए पीड़ा का अनुभव करता है, अर्थात् (जो ईख रस निकाले जाने पर यन्त्र पर या दांतों में पीड़ा-कष्ट का अनुभव करता है) और टूट जाने पर भी जो मधुर (मीठा) बना ही रहता है। जिसका विविध विकार (चीनी गुड़ राब आदि) भी सभी को अच्छा लगता है। वह ईख यदि ऊपर भूमि में पड़कर नही बढा (उन्नति नही कर सका) तो क्या उस ईख का यह दोष नहीं है? क्या गुणहीन उस उपर भूमि का दोष नही है? यहां ईख के पक्ष में "अनुभवति" यह शब्द उपचारित

हैं। अर्थात् लाक्षणिक है, अनुभवति शब्द=मर्दनप्राप्ति अर्थ मे लाक्षणिक है। इस प्रकार का शब्द कभी भी ध्वनि के व्यवहार का विषय नही हो सकता है।

उक्त पद्य मे यद्यपि प्रस्तुत महापुरुष के पक्ष मे 'अनुभवति' यह शब्द सर्वथा सङ्गत होता है, तथापि अप्रस्तुत इस ईख के पक्ष मे असम्भव होता हुआ (क्योंकि जड पदार्थ ईख अनुभव करने की सामर्थ्य नही रखता है) पीडावत्त्व को लक्षित करता है। व्यङ्ग्य के अप्राधान्य मे यहा ध्वनि का अभाव है, फलत ऐसे व्यङ्ग्यशून्य गुणवृत्ति के स्थल ध्वनि के विषय नही हैं, परन्तु ऐसे ध्वनिशून्य स्थलो मे भी भक्ति का सद्-भाव है, अत लक्षण की अतिव्याप्ति हुई। क्योंकि—

उक्त्यन्तरेणाशक्य यत्तच्चारुत्व प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकता बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत् ॥१८॥

जिस चारुत्व को अन्य सामान्य शब्द प्रकाशित नही कर सकते है, ऐसे अतिशय चारुत्व को प्रकाशित करने वाला कोई विरला ही शब्द ध्वनि व्यवहार का विषय होता है।

इसी प्रकार लक्षणा के सप्रयोजन स्थल मे ध्वनि का निराकरण कर अब लक्षणा के रूढिस्थल से भी ध्वनि का निराकरण कर रहे हैं—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दा स्वविषयादपि।
लावण्याद्या प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पद ध्वने ॥१९॥

ये जो भी लावण्यादि शब्द लवणत्वादि वाच्यार्थ से भिन्न "अनुपम सौन्दर्यादि" अर्थ मे रूढिमूलक लक्षणा द्वारा प्रयुक्त किए गये हैं। वे भी ध्वनि के विषय नहीं है। क्योंकि निरूढ लक्षणा मे प्रतीयमानार्थ का लेशमात्र भी भान नहीं होता है।

और भी—

मुख्या वृत्ति परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फल तत्र शब्दो नैव स्खलद्गति ॥२०॥

जिस प्रयोजनरूप=फल को (अर्थात् शैत्यपावनत्वादि प्रतीतिरूप फल को) उद्देश्य करके मुख्य वृत्ति=अभिधा वृत्ति को छोडकर गुणवृत्ति अर्थात लक्षणा से अर्थ का ज्ञान कराया जाता है, वहा अर्थात् उस फल के बोधन मे शब्द बाधितार्थ नहीं हैं।

अर्थात् उस चारुत्वातिशयरूप प्रयोजन के प्रकाशन मे शब्द की बाधितार्थता या अमुख्यता नही होती है। जैसा कि लक्ष्यार्थ तटादि के बोधन के लिए होती है।

इसलिए भी—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वने स्याल्लक्षण कथम् ॥२१॥

क्योंकि केवल अभिधा का आश्रय लेकर व्यवस्थित होने वाली गुणवृत्ति = लक्षण्या वृत्ति, व्यञ्जनावृत्ति मात्र गम्य ध्वनि का लक्षण हो ही कैसे सकती है। कहा भी है—

"अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते"

लक्षणा स्वयं अभिधा के आश्रित होने से परतन्त्र है। व्यञ्जना अपने व्यङ्ग्यार्थ के प्रकाशन में सर्वथा स्वतन्त्र है। अतः ध्वनि व भक्ति के पृथक्-पृथक् होने से भक्ति ध्वनि का कदापि लक्षण नही बन सकती है।

अतिव्याप्ति ही नही अपितु अव्याप्ति दोष भी भक्ति के ध्वनि = लक्षण में आता है—

क्योंकि ध्वनि का विवक्षितान्यपरवाच्य नामक जो प्रभेद है और जो उसके अवान्तर प्रकार हैं, उन सबमें भक्ति व्याप्त नही है। अतः लक्ष्येकदेश में लक्षण के अप्रवृत्ति में अव्याप्ति दोष से भी भक्ति का ध्वनिलक्षण दूपित है।

ध्वनि और भक्ति भले ही एक रूप न हो, पर भक्ति ध्वनि का उपलक्षण तो हो सकला है, यदि ऐसी आशङ्का भक्तिवादी करे तो भी भक्ति से ध्वनि उपलक्षित नही हो सकता है—

कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'देवदत्त के घर के परिचायक काक' की तरह अविवक्षितवाच्य—लक्षणामूलक ध्वनि विशेष की सम्भवमात्र से भक्ति ध्वनि की उपलक्षण भी हो तो भी प्रकृत मे कोई हानि नही होगी, क्योंकि भक्ति तो उक्त ध्वनि विशेष की पहचान मात्र होगी, फिर भी भक्ति से ध्वनिगतार्थ नही हो सकती है।

यदि अपने दुराग्रहवश आप केवल उपलक्षणमात्र से समस्त ध्वनि गतार्थ हो जायेगी ऐसा मानते है तो, अभिधा व्यापार मात्र से ही सारा अलंकार वर्ग गतार्थ हो जायेगा, पुनः प्रत्येक अलंकारों का पृथक्-पृथक् लक्षण करने की आवश्यकता ही क्या है।

तात्पर्य यह है कि शब्दार्थवृत्ति अलंकारो के अभिधानाभिधेय के उपर आश्रित हैं। ऐसी स्थिति में पदों का पदगत जो वाच्य-वाचकरूप व्यापार है वह पदविद्याविशारद वैय्याकरणों द्वारा और वाक्यों का वाक्यगत जो वाच्य-वाचक या वाक्यार्थ बोधरूप व्यापार है वह मीमांसकों द्वारा अभिधा व्यापार के निरूपण के प्रसङ्ग में सब बता ही दिया है, फिर आलंकारिको का कौन सा कार्य अवशिष्ट रह जाता है? इसी प्रकार हेतु के बल से कार्य होता है, ऐसा तार्किकों के कह देने पर ईश्वरादि कर्ताओं व ज्ञाताओं का कार्य क्यों अपूर्ण होगा? इस प्रकार तो सारे अलंकार ग्रंथ व दर्शन ग्रंथ निरारम्भ ही हो जायेंगे।

'तुष्यतु दुर्जन' न्याय से भक्ति को किसी प्रकार ध्वनि का लक्षण मान भी लें तो भी हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है, क्योंकि प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि का लक्षणपूर्वक निर्वचन कर दिया है, पुन उसका लक्षण करना पिष्ट पेषण है। इससे ध्वनिवादियों का पक्ष आप ही आप सिद्ध हो जाता है। ध्वनि है यह हमारा पक्ष है वह पहिले से ही सिद्ध है, इस प्रकार बिना प्रयास के हमारा अभीष्ट सिद्ध हो रहा है।

लक्षणेऽन्यै कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव न ॥२२॥

अनिर्वचनीयवादियों का समाधान—

जिन आचार्यों ने सहृदय संवेद्य इस ध्वनि को अनिर्वचनीय कहा है, वस्तुत वे भी ध्वनि के परीक्षण में कुशल नहीं हैं।

क्योंकि कथित व वक्ष्यमाण (आगे कहे जाने वाली) नीति के अनुसार ध्वनि के सामान्य व विशेष लक्षण प्रतिपादित किये जाने पर भी यदि ध्वनि का अनिर्वचनीयत्व है, तब तो दुनियाँ के समस्त वस्तुओं के विषय में वह अनिर्वचनीयत्व प्राप्त है, अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य व चित्रादि काव्य की अपेक्षा कुछ विलक्षण आह्लादजनक होने के कारण ये लोग इस ध्वनि को अनिर्वचनीय कहते है, या ध्वनि के विषय में अन्य काव्यों की अपेक्षा इतना अतिशय का अनुभव करते है कि जो वस्तुत वर्णनातीत हो, तब तो वे भी किसी हद तक उचित ही कहते है।

प्रथम उद्योत सम्पूर्ण

द्वितीय उद्योत

ध्वनि-प्रभेदों का विवेचन

इस प्रकार अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य, ध्वनि के सामान्य दो भेदों को बतलाकर, अब द्वितीयोद्योत में सांगोपांग ध्वनि के विवेचन के लिए, सर्व प्रथम अविवक्षितवाच्य ध्वनि के प्रभेदों का प्रतिपादन करते हैं।

> अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।
> अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ॥१॥

अर्थान्तर में संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृतरूप से अविवक्षितवाच्य ध्वनि का वाच्य दो प्रकार का माना गया है। इस अविवक्षितवाच्य ध्वनि या लक्षणामूला ध्वनि में जब वाच्य स्वयं अनुपपन्न होता हुआ, उपादानलक्षणा के द्वारा अर्थान्तर= किसी दूसरे अर्थ में संक्रमित होता है, अथवा लक्षणा व्यापार व वक्ता की विवक्षा आदि सहकारी प्रयोजक व्यापार द्वारा अर्थान्तर में संक्रान्त कराया जाता है, उसे अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि कहा जाता है।

और द्वितीय में जब वाच्यान्यमुख्यार्थ स्वयं बाधित होता हुआ लक्षण-लक्षणा द्वारा अपने अर्थ बिलकुल तिरस्कृत-त्याग कर देता है, अर्थात् अन्यार्थ की सिद्धि के लिए अपने को समर्पण कर देता है, तो उसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहते हैं। अविवक्षितवाच्य ध्वनि के इन दोनों भेदों में, एक में अर्थान्तर में परिणत वाच्य व दूसरे में अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य, इन दोनों वाच्यार्थों मे व्यंग्यार्थ का ही वैशिष्ट्य सिद्ध होता है। वाच्य का नहीं, इस प्रकार इस काव्य को भी ध्वनि नामक उत्तम काव्य ही समझना चाहिए, क्योंकि यहाँ भी व्यंग्यार्थ के प्रति ये दोनों प्रकार के वाच्य, जो एक जगह संक्रमित है, और अत्यन्त तिरस्कृत, व्यञ्जक की ही हैसियत से जागरुक रहता है।

ये दोनों अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य, और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के भेद, लक्षणा के ही आधार पर होते हैं। अतः इनकी स्पष्टता के लिए सामान्य रूप में लक्षणा का परिचय देना समुचित होगा।

यह लक्षणा एक तरह से आरोपित शक्ति है, जैसा कि आचार्य मम्मट का कहना है—

> मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
> अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ का० प्र० २/९

इसमें मुख्यार्थबाध एवं मुख्यार्थ के साथ योग=सम्बन्ध, रूढि अथवा

प्रयोजन में अन्यतर के होने पर, जहाँ अन्य मुख्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ लक्षित होता है उसे लक्षणा कहते हैं। यह लक्षणा दो प्रकार की होती है—उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा।

जहाँ वाक्यार्थ में अपने अन्वय की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ अनुपपन्न होकर स्वयं अपना अर्थ ग्रहण करता हुआ भी पदार्थ का आक्षेप करता है उसे उपादान लक्षणा कहते हैं।

जैसे—कुन्ताः प्रविशन्ति, यहाँ उपादानलक्षणा है, क्योंकि यहाँ कुन्त स्वयं प्रवेशन क्रिया में असमर्थ होते हुए, स्वयं का भी ग्रहण करते हुए कुन्तधारी पुरुषों का आक्षेप करते हैं।

कुन्तों की सघनता व अत्यन्त तीक्ष्णता इस लक्षणा का प्रयोजन है।

इसी प्रकार जहाँ मुख्यार्थ दूसरे की अन्वय सिद्धि के लिए अपने अर्थ का सर्वथा समर्पण कर देता है, वहाँ लक्षणलक्षणा होती है। जैसे—'गंगायां घोषः" यह लक्षण-लक्षणा का उदाहरण है। यहाँ गंगा शब्द घोष के आधाराधेयभाव की सिद्धि के लिए, अपना मुख्यार्थ = भगीरथरथखातावच्छिन्नजलप्रवाहरूप अर्थ का त्यागकर तट अर्थ को लक्षित करता है।

तटगत शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति इसका प्रयोजन है। प्रकृत में ये दोनों प्रकार की लक्षणायें अन्वयानुपपत्ति को दूर करती हुई क्रमशः अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य ध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के मूल में सन्निहित है। पहिले में आक्षेप अर्थात् अर्थान्तर में संक्रमण और दूसरे में अपने अर्थ का त्याग अर्थात् तिरस्कार होता है।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का उदाहरण जैसे—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः,
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे,
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥

सीता जी के विरह में भगवान् रामचन्द्र जी कहते हैं—स्निग्ध व श्यामल कान्ति से आकाश को लिप्त या व्याप्त करने वाले, और चलती हुई बकपंक्ति वाले, ये रमणीय मेघ, अपनी घनी घटा से छाये हुए हैं। जलकणों से मन्द-सुगन्ध शीतल हवा भी चल रही है। मेघों की इस रमणी नील घटा को देखकर मयूर भी आनन्द-पूर्वक नाच रहे हैं। वर्षाकाल का यह सब परिदृश्यमान उद्दीपन चाहे कितना उद्दीप्त क्यों न हो, कठोर हृदय मैं राम हूँ। यह सब सहन कर लूँगा। परन्तु ऐसे समय में विदेहराज पुत्री सीता का क्या हाल होगा? हा! हा! देवि, तुम धैर्य धारण करो।

उक्त पद्य में राम पद केवल दशरथापत्यरूप राम अर्थ को नहीं बतलाता है,

अपितु तादृश राज्यपरित्याग, भीषणकाननगमन, सीताहरणादि दुःख सहन करने वाले आदि धर्मों में परिणत, एक विलक्षण अत्यन्त गम्भीर राम प्रतिपादित करता है।

इसी लिए यहां राम पद केवल रोजी राम को कहकर तादृश असंख्येयधर्मान्तर परिणत राम को लक्षित करते हुए, उसकी सातिशय दुःख सहनशीलता को अभिव्यक्त करता है। यही राज्यनिर्वासनादि असख्य धर्मों का अभिव्यञ्जन ही प्रयोजन है, जो कि केवल अभिधा द्वारा समर्पणीय नही है।

आचार्य कुन्तक ने उक्त पद रूढिवैचित्र्य वक्रता के प्रसङ्ग में दिया है, इस अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि को कुन्तक रूढिवैचित्र्य वक्रता के असम्भाव्य धर्माध्यारोप गर्भता तथा सद्धर्मातिशयाध्यारोपगर्भता के अन्तर्गत करते हैं।

इस उदाहरण मे "रामोऽस्मि" से रामगत जो असाधारण शौर्य आदि सूचित होता है वह वक्ता द्वारा स्वयं अपने में आरोपित किया गया है। और 'वैदेही' पद से जो सहज-सौकुमार्य सुलभ कातरत्व अभिव्यक्त होता है, उसका वक्ता जानकी से भिन्न रामचन्द्र है। इसलिए इसी एक श्लोक में दोनों के उदाहरण मिल जाते है।

आचार्य महिमभट्ट के अनुसार उक्त पद मे राम शब्द सकल क्लेशभाजनत्व लक्षण धर्म विशिष्ट संज्ञी का प्रत्यायक है, केवल संज्ञावान् का नही, यहां रामत्व से अनुमित है, सकलक्लेश-सहिष्णुत्व और फिर सकलक्लेश-सहिष्णुत्व से अनुमित वियोगानुभवसहिष्णुत्व। इस प्रकार राम का वियोगानुभवसहिष्णुता धर्म अनुमित अर्थ द्वारा अनुमित होता हैं।

तात्पर्य यह है कि राम वियोग को सहन कर सकते है, यह तात्पर्यभूत अनुमेय अर्थ है। इसका हेतु है रामत्व, ऐसा रामत्व जिसमें सर्वविधदुःखसहिष्णुता का अनुमान होता है और यह अनुमित धर्म, रामत्व साथ-साथ वियोग सहने की क्षमता का अनुमान कराता है। अतः वियोग दुःख को सहने की क्षमता अनुमित अर्थ से अनुमित होती है। अतएव वियोगदुःखानुभवसहिष्णुत्व अनुमितानुमेय है।

अन्य उदाहरण जैसे आनन्दवर्धनाचार्य निर्मित विषमबाण लीला-ग्रन्थ का—

तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥

गुण (पाण्डित्य आदि) तभी वास्तव में गुण होते हैं, जब वे सहृदयों द्वारा गृहीत होते है। सूर्य किरणों द्वारा अनुगृहीत कमल ही कमल होते हैं।

यहां द्वितीय कमल शब्द सौरभ सौन्दर्यादि लक्ष्मीपात्रत्व कमल का बोधक होने से तादृश विशिष्टार्थ में परिणत होने के कारण अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का अभिव्यञ्जक है। अत एव यहां सामान्य विशेषभाव से "नीलोघट" की तरह अन्वय हो जायेगा अन्यथा तो "घटोघटः" की तरह शाब्द बोध ही नहीं होगा।

अत्यन्तनिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण जैसे—

रविसङ्क्रान्तलक्ष्मीकस्तुषारावृतमण्डल ।
निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥

यह पद्य वाल्मीकि विरचित रामायण का है। पञ्चवटी मे स्थित रामचन्द्र जी हेमन्त ऋतु का वर्णन करते हैं—

सूर्य मे जिसका सौभाग्य सङ्क्रान्त हो गया है, एव तुषार से आवृत है मण्डल जिसका ऐसा चन्द्रमा निश्वास से अन्ध आइने की तरह प्रकाशवान् नही है।

यहा दृष्टिहीन अर्थ का वाचक अन्ध शब्द आईने-दर्पण मे बाधित होने से अप्रकाशरूप अर्थ को लक्षित करता हुआ, मालिन्यातिशयादि प्रयोजनो को अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य ध्वनि द्वारा अभिव्यक्त करता है।

वाक्यगत-उदाहरण

गगन च मत्तमेघ धारालुलितार्जुनानि च वनानि ।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशा ॥ (छाया)

मत्त मेघो से भरा आकाश, धाराप्रवाह वृष्टि से कम्पित अर्जुन वृक्षो वाले वन, और चन्द्रिका रहित होने से निरहकार चन्द्र वाली राते भी मन को हर लेती है।

तात्पर्य यह है कि न केवल तारो से भरा आकाश अपितु मतवाले मेघो से भरा हुआ आकाश भी कभी मन को हर लेता है। मलयमारुत से कम्पित सहकार वृक्षो वाले सुगन्धित वन ही केवल लोक लोचनो के लिए आनन्ददायक नही होते, अपितु धारा प्रवाह वृष्टि से धवलित अर्जुन वृक्षो का वन भी कभी लोगो की अभिलाषा का विषय बनता है। चन्द्रमा की स्वच्छ चाँदनी से चमचमाती दुग्धधवला यामिनी ही केवल लोगो के उत्कण्ठित नही करती, अपितु निरहकार चन्द्र वाली काली घटाओ से छायी नीली निशायें भी कभी-कभी लोगो का मनोरजन करती ही हैं।

उक्त पद्य मे उन्मत्तता जो कि चेतन का धर्म है, वह अचेतन मेघ मे बाधित है। सादृश्यवश चारो दिशाओ मे घटाओ के मडराने व मालिन्य के बढाने को लक्षित करता हुआ आकाश मे असमञ्जकारित्व व दुर्निवारत्वादि असख्य धर्मों को अभिव्यक्त कर रहा है, इसी प्रकार निरहकार शब्द भी चन्द्रमा के मालिन्यार्थ को लक्षित करते हुए, उसकी परतन्त्रता व विच्छायत्वादि या उदय होने रूप इच्छा का त्याग प्रभृति धर्मों को ध्वनित करता है। यह अनेक पदो मे होने से वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य ध्वनि का उदाहरण है।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रभेद

मुख्य रूप से प्रकाशमान व्यङ्ग्य अर्थ ही ध्वनिकाव्य की आत्मा है। वह चिदानन्दचमत्कारघन प्रतीयमान वाच्यार्थ-विभावादि की अपेक्षा कही इतनी

शीघ्रता से प्रकाशित होता है कि क्रम लक्षित नही होता है और कहीं वाच्य-विभावादि की अपेक्षा शनैः शनैः क्रम लक्षित भी होता है। इसी व्यङ्ग्यार्थ के क्रम के अलक्षित व लक्षित के आधार पर यह विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि दो प्रकार का होता है।

असंलक्ष्यक्रमोद्योत· क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥ २ ॥

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि अर्थात् जहां वाच्य विवक्षित होता हुआ भी व्यङ्ग्य परक होता है, इसीलिए इसे अभिधामूला ध्वनि भी कहते हैं, क्योंकि इसके मूल में अभिधेय-वाच्यार्थ स्पष्ट रहता हुआ भी व्यंग्य का उपस्कारक रहता है। इसी वाच्यार्थ विभावादि की अपेक्षा व्यंग्य के अलक्षित व लक्षित होने के कारण, यह क्रमशः असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के भेद से दो प्रकार का होता है।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

रसभाव-तदाभास-भावशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन-भासमानो व्यवस्थित· ॥ ३ ॥

रस, भाव, रसाभास व भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भाव-शवलतायें, जहाँ अङ्गी-प्रधान रूप से सहृदयो के चर्वणा के विषय हो, वहाँ इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रूप प्रथम भेद होता है। अर्थात् ये सब रसभावादि पूर्व सारी ध्वनियाँ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत होता है।

रसभावादि के लक्षण व उदाहरण काव्यप्रकाशादि आकर ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक है, यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र दिखलाया जाता है।

काव्य व नाटकादि में विभावादि योग से परिपुष्ट होकर रत्यादि स्थायीभाव ही प्रपाणकरसन्याय से शृङ्गारादि रस-रूपता को प्राप्त करते हैं। ये रस शृङ्गार वीर करुण इत्यादि नौ हैं। इसमें भी शृङ्गार के दो भेद हैं, सम्भोग व विप्रलम्भ। नायक व नायिका के परस्पर रति विशेष को ही शृङ्गार कहते हैं, जैसे—भवभूतिप्रणीत उत्तर-रामचरित में—राम व सीता के पवित्र प्रणय का वर्णन—

"किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगादि" इत्यादि

यही रत्यादि भाव जहां विभावादि से परिपुष्ट नहीं होता है, तब यह रस न होकर भाव ही कहा जाता है। अथवा प्रधानतया चमत्कारजनक जहां प्रणय-कोप, रत्यादि भाव होते हैं वहां भी भाव ध्वनि ही होती है। जैसे—"तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति" इत्यादि पद्य में उर्वशी के विरह में यह पुरुरवा की उक्ति है, यद्यपि यहाँ विप्रलम्भ शृंगार की चर्वणा भी है, परन्तु वितर्क व्यभिचारि-

भाव की ही प्राधान्येन अभिव्यक्ति होने से भावध्वनि है। इसी प्रकार गुरु नृप देव विषयक रति भी भाव पद से ही कही जाती है।

तिर्यक् विषयक रति का वर्णन या अनुचित आलम्बन मे रति के वर्णन को रसाभास कहते हैं। किसी पूज्यदेवता विषयक अनुचित आलम्बन मे प्रयुक्त रति को भावाभास कहते हैं, जैसे रावण की जगज्जननी जानकी विषयक रति। उत्तम सञ्चारी भावो की प्रशमावस्था को भावशान्ति कहते हैं। जैसे—सुतनु ! जहि हि कोप पश्य पादानत माम्" इत्यादि पद्य मे ईर्ष्यारूप सञ्चारीभाव का शमन होने मे यह भाव शान्ति है।

इन्ही सञ्चारीभावो की उदयावस्था को भावोदय कहते हैं। जैसे—"चरणपतन प्रत्याख्यानात् प्रसादपराङ्मुखे" इत्यादि मे प्रधानतया व्यक्त सञ्चारीभाव विषाद का उदय है।

दो भावो को तुल्यरूप मे आस्वाद को भावसन्धि कहते हैं। जैसे भवभूति के महावीरचरित मे—

उत्सिक्तस्य तप पराक्रमनिधेरभ्यागमादेकत ।
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मा कर्षत ।

यहाँ आवेग व हर्ष भाव की समानरूप मे चर्वणा है। पूर्व-पूर्व भाव के उपमर्दन पूर्वक उत्तरोत्तर भावो के आस्वाद को भावशबलता कहते हैं जैसे—क्व कार्यं शशलक्ष्मण क्व च कुल भूयोऽपि दृश्यते सा' इत्यादि पद्य मे—वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मरण आदि भाव परस्पर बाह्य बाधक रूप रहते हुए भी पर्यन्त मे चिन्ता भाव को प्राधान्येन अभिव्यक्त करते हुए अनेक भावो की शबलता का आस्वादन कराते हैं। यह सब रसादि अर्थ वाच्य के साथ-साथ ही प्रकाशित होता है। काव्य मे प्रधान रूप से प्रतीत होने के कारण यही ध्वनि की आत्मा—स्वरूप कहा गया है।

रस व रसवदलकार मे भेद

अब असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप जो रसादि ध्वनि है, वह रसवद् अलकार से भिन्न है, इसी भेद को निम्न कारिका द्वारा दिखलाते हैं—

वाच्यवाचकचारुत्वहेतुना विविधात्मनाम् ।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मत ॥४॥

जिस काव्य मे अनेक प्रकार के वाच्य-वाचक और इनके चारुत्व हेतु अलकारादि, चर्वणाविषयीभूत प्रधान रस को उपस्कृत करने के तात्पर्य से व्यवस्थित हो, उसी काव्य मे ध्वनिकाव्य का व्यवहार होता है।

तात्पर्य यह है कि जहाँ रसभाव, रसाभास व भावाभास भावप्रशमादि रूप मुख्य—अङ्गीरूप व्यङ्ग्यो का अनुसरण करते हुए, वाच्य वाचकभाव अलङ्कारादि

परस्पर विभिन्नरूप में अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव से व्यवस्थित हों, वही ध्वनिकाव्य का व्यवहार होता है।

रसवद् अलंकार का स्वरूप

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गे तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥५॥

जिस काव्य में पूर्वोक्त व्यङ्ग्यरसादि की अपेक्षा दूसरे ही कोई वस्तु अलंकारादि-वाच्यार्थ प्रधान रूप से चमत्कार जनक होने से, वाक्यार्थरूप में प्रतीत होते हैं और उक्त रसादि अप्रधान या अङ्गरूप से प्रतीत हो, उस काव्य में क्रमशः रस के अङ्ग होने पर "रसवत्" और भाव के अङ्ग होने पर "प्रेय" और भावाभास, रसाभास के अङ्ग होने पर "उर्जस्वी" भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि व भावशवलता के अङ्ग होने पर समाहित नामक अलकार होते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस काव्य मे प्रधान रूप से अन्य अर्थ (वस्तु या अलंकारादि) वाक्यार्थ-प्रधान हो, और रसादि अङ्ग-अप्रधान हो, वह रसवदादि-अलंकार का विषय है, यह अपना मत है।

भामह का विचार

आचार्य भामह के प्रेयोलंकार में यह स्थिति आती है। क्योंकि उनके अनुसार देव, गुरु, नृप आदि के सम्बन्ध में जो प्रीति का वर्णन किया जाता है वहां प्रेयोलकार होता है। ऐसी जगह रसादि उसके अङ्ग हो जाते हैं। इसलिए भामह के अनुसार इसका विग्रह होगा **"प्रेयान् अलंकारो यत्र"** अर्थात्—जहां अतिशय प्रिय जन अलंकार या वर्णन का विषय हो वह प्रेयोलंकार है। इसलिए भामह के अनुसार यह स्वयं वाक्यार्थ होने के कारण अलंकार न होकर अलंकार्य है।

उद्भट का विचार

उद्भट का कहना है कि यदि चाटु विषयक वाक्यार्थ हो तो भी प्रेयोलंकार होता है। उद्भट के मत में भावालंकार ही प्रेयोलंकार है। यहाँ प्रेम से भाव भी उपलक्षित है। (रत्यादि भावों का वर्णन भी इस भावालंकार में आ जाता है) अर्थात् रसादि जहां अङ्गभूत हैं, ऐसे स्थलों में न केवल रसवदादि अलंकार अपितु प्रेयः प्रभृति अलंकार भी होते हैं।

कुन्तक का विचार

आचार्य कुन्तक के मत में रस के योग से जिस अलंकार में सरसता का समावेश हो जाता है, वह रसवत् अलंकार है। इनकी धारणा के अनुसार चमत्कार के दो रूप हैं—भावगत व कल्पनागत। रस प्रपञ्च सारा भावगत चमत्कार के अंतर्गत, और अलंकार प्रपञ्च कल्पनागत चमत्कार के अन्तर्गत है। जहां कल्पना के चमत्कार के साथ-साथ भाव सौन्दर्य का संयोग हो जाता है, वहां कुन्तक के मत में अलंकार रसवत्

हो जाता है, या रसवत् अलकार की स्थिति हो जाती है। कल्पना व अनुभूति का यह मणिकाञ्चनसयोग निश्चित ही काव्य की बहुत बडी सिद्धि है, इसीलिए कुन्तक रसवत् अलकार को अलकार चूडामणि मानते हैं।

यह रसवत् अलकार शुद्ध व सङ्कीर्ण के भेद से दो प्रकार का है।

शुद्ध रसवत् अलकार का उदाहरण

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुन प्राप्तिश्चिराद्दर्शनम् ।
केय निष्करुण ! प्रवासरुचिता केनाऽसि दूरीकृत ।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो,
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तार रिपुस्त्रीजन ॥

कोई चाटुकार राजा की प्रशसा करता हुआ कहता है कि हे राजन् ! आपके शत्रु की स्त्री, स्वप्न मे हसते हुए अपने पति को कहती है—अब व्यर्थ हास्य विनोद करने से क्या लाभ, बहुत दिनो मे भाग्यवश तुम मिले हो, अत मेरे बाहुलता के परिवेष्टन के बाहर नही जा सकोगे। हे निदय ! यह परदेश मे रहने की कौन सी आदत तुम्हे पड गयी ? या किसने तुम्हें मुझसे दूर कर दिया ? इस प्रकार स्वप्न मे अपने प्रियतम से लिपटकर बोलती हुई वह रिपु स्त्री, जागकर जब अपने भुजपाश को रिक्त पाती है, तो जोरो से रोती है।

यहा स्वप्न दर्शन से उद्दीपित शोक स्थायिभाव वाला करुणरस, प्रशसा योग्य राजा के पराक्रमातिशयरूप वस्तु का अङ्ग है। इसीलिए यह शुद्ध रसवत् अलकार है। यहाँ शोक जिसका स्थायीभाव है और स्वप्न दर्शन से जो उद्दीप्त है, ऐसे चर्वणा के विषयीभूत करुणरस से ही सुन्दर राजा का प्रभाव अलकृत है। अन्यथा इस अलकार भूत करुणरस के अभाव मे तो "तुमने शत्रुओ को मार डाला" इतना केवल वृत्तमात्र अलकार ही वाक्य होता। अमिश्रित शब्द करुणरस के द्वारा यह वाक्यार्थ सुन्दरतर हो गया। जैसे चन्द्र मे उपमित मुख अलकृत होता है, उसी प्रकार रस से भी यह राजा का प्रभावातिशयरूप वस्तु उपस्कृत है। इसीलिए यहा रसवत् अलकार है।

सकीर्ण रसवत् अलकार का उदाहरण

क्षिप्तो हस्तावलग्न प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तम् ।
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षित सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतास्त्रिपुरयुवतिभि साश्रुनेत्रोत्पलाभि ।
कामीवार्द्रापराध स दहतु दुरित शाम्भवो व शराग्नि ॥

पराई स्त्री के तत्काल कृत ससर्ग के अपराधी कामुक की तरह त्रिपुरारि शिवजी का यह भीषण बाणाग्नि तुम्हारे पापपुञ्ज को जलावे।

श्लेषालकार द्वारा दोनो (कामुक व शराग्नि) का विशेषार्थ बतलाते हैं—

भय या क्रोध के मारे आसू भरे नयन कमल वाली त्रिपुरासुर की तरुणियो से

हस्त स्पर्श करने पर पृथक् किया गया या तिरस्कृत किया गया, केश ग्रहण करने पर दूर फेंका गया या फटकारा गया, पैरों पर गिरने पर या प्रणत होने पर भय से या वेग से नहीं देखा गया, छूने पर या आलिङ्गन करने पर प्रक्षिप्त किया गया, या भर्त्सित किया गया, (वाणाग्नि व कामुक) आपके दुरितों को दूर करें।

यहाँ त्रिपुर शत्रु (शिवजी) का अतिशय प्रभाव ही वाक्यार्थ है और श्लेष सहित इर्ष्या विप्रलम्भ उसका अङ्ग है। श्लेपमिश्रित ईर्ष्या विप्रलम्भ व करुण दोनों के अङ्ग होने से यह रसवत् अलंकार का संकीर्ण उदाहरण है।

यहां ईर्ष्या विप्रलम्भ के साथ शोकस्थायिभाव वाला करुण रस भी है, जो कि निरपेक्ष भाव से स्थित है। अर्थात् यहाँ परस्पर विरुद्ध होने से ईर्ष्याविप्रलम्भ व करुण का तो अङ्गाङ्गिभाव हो नहीं सकता है। अतः ऐसी स्थिति में त्रिपुररिपु प्रभाव के प्रति दोनों की अङ्गता है अङ्गता का मतलब ही यहाँ चारुत्वहेतु होना है, अलंकार ही चारुत्वहेतु होता है, इसीलिए उक्त दोनों से शिवजी का प्रभावातिशय उपस्कृत है।

संग्रहरूप में कहा भी है—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥

रस, भाव आदि के तात्पर्य का आश्रय लेकर सभी अलंकारों का रखना, उनके अलंकारत्व का साधन है। तात्पर्य यह है कि जहाँ रसादि वाक्यार्थ रूप में है अर्थात् प्राधान्येन अभिव्यक्त है, वहाँ अन्य वस्तु के अङ्ग रूप में या उपस्कारक होने से रसवत् अलंकार न होकर वह केवल ध्वनि का विषय है। उपमादि वहाँ अलंकार होंगे। परन्तु जहां अन्य वस्तु या अलंकार का वाक्यार्थीभाव अर्थात् चमत्कारातिशय प्रयोजकता हो और रसादि के द्वारा चारुत्व की निष्पत्ति की जाय वह सब रसवदादि अलंकार का विषय है।

रसवत् अलंकार का विभिन्न दृष्टि से मूल्यांकन

रसवत् अलंकार के विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। सर्व प्रथम तो यह समस्या है कि रसवत् अलंकार को किस कोटि में माना जाय, इसको अलंकार की कोटि में गिना जाय; या गुणीभूतव्यंग्य की कोटि में गिना जाय; अथवा रसादिध्वनि-कोटि में इसका सन्निवेश किया जाये? इसमें प्राचीन अलंकारिको में भामह व उद्भट इन दोनों ने ही इसे अलंकार रूप में स्वीकार किया है। क्योंकि इन आचार्यों के मत में अलंकारतत्त्व ही काव्य का सर्वस्व है, फिर रसवत् एक अलंकार मान लेने से रसभावादि का भी झमेला दूर हो जाता है, क्यों कि इस प्रकार के जितने भी काव्य प्रकार हैं उन सभी का सुविधापूर्वक उत्तम अलंकार में सन्निवेश किया जा सकता है।

इन दोनों आचार्यों का रसवत् अलंकार का लक्षण भी करीब-करीब एक ही प्रकार का है—

"रसवद् दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरस यथा" (भामह)
रसवद् दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसोदयम्" (उद्भट)

दिखलायें गये हैं स्पष्ट-वाच्यतया श्रृङ्गारादि रस जिसके द्वारा वह रसवत् अलकार है। इन दोनो का करीब-करीब एक ही मत है कि स्पष्टतया श्रृङ्गारादि रसो को दिखलाने वाला अलकार ही रसवत् अलकार है।

आचार्य दण्डी भी यद्यपि इसे अलकार ही मानते हैं परन्तु इनका व्याख्यान पूर्वाचार्यों की अपेक्षा इस विषय मे उदार है। ये रसवदादि का लक्षण करके फिर अपने ही ढङ्ग मे उदाहरण द्वारा इसे समझाने की कोशिश करते हैं।

प्रेय प्रियतराख्यान रसवद्रसपेशलम् ।
उर्जस्विरूढाऽहकारयुक्तोत्कर्ष च तत् त्रयम् ॥

प्रियतर भाव की अभिव्यक्ति करने से श्रोता तथा वक्ता की प्रीति करने वाले आख्यान को या उक्ति विशेष को प्रेय नामक अलकार मानते हैं। इसी प्रकार रत्यादि स्थायीभाव रूप से रमणीय आख्यान को रसवत् अलकार मानते हैं।

और रूढाधिकार=गर्व द्योतक आख्यान को उर्जस्वि अलकार मानते हैं। इन तीनो मे वाच्यशोभास्वरूप उत्कर्ष के होने से, इनका अलकारत्व होना सर्वथा सगत ही है। इसमे रसवत् अलकार के उदाहरण के प्रसग मे कहा है—

मृतेति प्रेत्य सङ्गन्तु यया मे मरण मतम् ।
सैवावन्ती मया लब्धा, कथमत्रैव जन्मनि ॥

जिस वासवदत्ता को मरी हुई, सुनकर उससे मिलने के लिए मैं अपने प्राण छोडना चाहता था, वही अवन्तिराज पुत्री वासवदत्ता, इसी जन्म मे, बिना प्राणत्याग किये ही मुझे किस प्रकार मिल गई ?

इस उदाहरण मे उदयन निष्ठ रीति की वासवदत्ता रूप विभाव तदुक्त मधुर वचनादि अनुभाव और हर्ष विस्मयादि सञ्चारी भावो से पुष्टि हुई है, अत यहाँ रति रसरूप को प्राप्त हो गई। निश्चित ही दण्डी की रसविषयक व्याख्या पूर्वाचार्यों से बहुत सूक्ष्म व उदार है, परन्तु फिर भी उसे घेरे के बाहर इसका रसादि नामकरण करना नही चाहते हैं। अत स्पष्ट है कि भामह उद्भट व दण्डी रसवत् को एक अलकार के रूप मे स्वीकृत करते हैं।

परन्तु आनन्दवर्धनाचार्य आदि ध्वनिवादी आचार्य रसवत् अलकार को अलकार कोटि मे नहीं मानते हैं। इन्होंने इस रसवत् को अलकार के निम्न स्तर से तो अवश्य उन्नत दशा मे रखा, परन्तु रसादि ध्वनि का दर्जा ये भी इसे न दे सके। ध्वनिकार के अनुसार रसवत्—अलकार का लक्षण इस प्रकार है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादय ।
काव्ये तस्मिन्नलकारो रसादिरिति मे मति ॥

भावार्थ यह है कि जहाँ किसी अन्य वाक्यार्थ का प्राधान्य हो और रसादि उसके अंग रूप में हों, उसे रसवत् अलंकार कहते हैं।

यह रसवत् अलंकार शुद्ध व संकीर्ण दो प्रकार का होता है। "किं हास्येन न मे प्रयास्यति" इत्यादि श्लोक में शुद्ध रसवत् अलंकार है। क्योंकि यहाँ शुद्ध करुणरस राजविषयक रति या राजस्तुति का अङ्ग है। दूसरा संकीर्ण रसवत् का उदाहरण है—"क्षिप्तो हस्तावलग्नः" इत्यादि श्लोक। इसमें शिव का प्रतापातिशय मुख्य वाक्यार्थ है, और शोक सहित ईर्ष्या विप्रलम्भ उसका अंग है। इसलिए अलंकार से संकीर्ण मिश्रित-रस के, शिव प्रतापातिशय का अंग होने से यह संकीर्ण रसवत् अलंकार है। इसमें श्लेष से सूचित करुणरस तथा ईर्ष्या विप्रलम्भ दोनों के भगवद्विषयक रति का अङ्ग होने से करुण तथा विप्रलम्भ का विरोध भी नहीं होता है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने रस, रसवत् अलंकार व अन्य उपमादि अलंकारों की विभक्त विषयता दिखलायी है एक प्रश्न यह भी है कि उत्तम रसवत् अलंकार को किस कोटि में रक्खा जाय—उत्तम काव्य में, मध्यम काव्य में या अधम काव्य में।

जैसा कि पूर्वाचार्यों ने भामहादियों ने इसको अलंकार रूप में माना है, पर उनके समय तक काव्य के चमत्कार का उच्चावच स्थिति को लेकर कोई वर्गीकरण नहीं था। अतः वे लोग चमत्कार के आधार पर काव्य का नियोजन न कर केवल विषयवस्तु व शैली के ही आधार पर काव्य का विभाजन करते थे। उनके पक्ष में तो इस प्रकार के वर्गीकरण का फिर कोई महत्व भी नहीं है और फिर ध्वनिवादियों की तरफ से, तो रसवत् अलंकार को अलंकार कोटि में या अलंकार प्रधान काव्य की कोटि में रख भी नहीं सकते हैं—जैसा कि मम्मट का कहना भी है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ का० प्र० ८/२

अलंकार का यह लक्षण रसवत् अलंकार में सङ्गत नहीं होता है, क्योंकि रसवत् अलंकार किसी वाच्य-वाचक का उपस्कारक नहीं होता है। अपितु यह तो साक्षात् रसादि का ही उपस्कारक होता है। अतः मम्मट भट्टादि सभी ध्वनिसिद्धान्तानुयायियों ने इसे गुणीभूतव्यंग्य की कोटि में रक्खा है। क्योंकि "प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे" इत्यादि रसवत् अलकार के लक्षण द्वारा ध्वनिकार ने रसादिध्वनि में सम्मिलित होने से इसका स्पष्ट ही निषेध कर दिया है। अतः उत्तम काव्य में आना इसका असम्भव सा ही है। पर ध्वनिकार ने बड़े संकोच के साथ इसे गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के अपराङ्ग व्यङ्ग्य जैसे प्रभेद में रक्खा है। इसमें भी समोक्ति आदि अलंकारों की तरह स्पष्टतया गुणीभूतव्यङ्ग्य के नाम से उद्घोषणा करने में मानो इसका अवमूल्यन सा हो रहा हो, अतः इसको वे सहसा उसमें प्रविष्ट करने में हिचकिचाते से हैं और एक प्रकार के सान्त्वना जैसी इसे देकर बड़े विनय से इसका गुणीभाव दिखलाने में समर्थ

होते है, यहा आप कहते हैं कि—"रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावो रसवदलकारे दर्शित तत्र च तेषामाधिकारिकवाक्यापेक्षया गुणीभावो विवहनप्रवृत्तभृत्यानुयायि राजवत् ।" अर्थात्—रसादिरूप व्यङ्ग्य का गुणीभाव रसवत् अलकार मे दिखाया जा चुका है, वहा उसका आधिकारिक वाक्य की अपेक्षा गुणीभाव विवाह मे प्रवृत्त भृत्य का अनुगमन करने वाले राजा की तरह है। इसी बात को पण्डितराज जगन्नाथ ने "दास्यमनुभवद्राजकलत्रमिव" इस वाक्य द्वारा व्यक्त किया है।

रसवत् अलकार के विषय मे, और ध्वनिकार द्वारा व्याख्यात इसके दोनो उदाहरणो के विषय मे आचार्य कुन्तक सहमत नही हैं।

आपका कथन है कि उक्त "क्षिप्तो हस्तावलग्न" इत्यादि उदाहरण मे ध्वनिकार ने कामी तथा शराग्नि की उपमा अथवा रूपक की जो कल्पना की है, वह सरासर अनुचित है क्योकि ये दोनो पदार्थ अत्यन्त विरुद्धस्वभाव वाले हैं, अतएव उन दोनो विरुद्ध धर्मों का एक दूसरे मे अध्यारोप करना, या उन दोनो का साम्य बतलाना सभव नही है। ऐसे विरोध को तो स्वय परमात्मा भी प्रयत्न करके नही हटा सकता है। यदि यह कहा जाय कि उक्त श्लोक में विशेष प्रकार के शब्दो द्वारा उन दोनो का साम्य प्रतीत होता है, तो 'गुड का टुकडा' इस शब्द से भी इसके विरोधी विष आदि की प्रतीति भी होने लगेगी, इसलिए करुण तथा विप्रलम्भ शृ गार जैसे विरोधियो मे साम्य मानना उचित नहीं है।

भावाभाव की तरह उक्त दोनो के निर्मूल होने से उन दोनो के साम्य का उपपादन नही हो सकता है। इसलिए ध्वनिकार का यह अनुचित विषय के समर्थन मे चातुर्य दिखलाने का प्रयत्न व्यर्थ है।

दूसरा उदाहरण "किं हास्येन न मे प्रयास्यसि" इत्यादि मे कुन्तक का कथन है कि उक्त श्लोक मे वियोग मृत्यु के कारण ही हुआ हो यह मानना आवश्यक नहीं है, अपितु वह शत्रुओ के डर के मारे भाग जाने से भी हो सकता है, अथवा केवल करुण रस को ही मान लेने पर विप्रलम्भ शृङ्गार के मानने का कोई अवसर नहीं है। कुन्तक के मत से यहा एक ही रस मानना चाहिए। दोनो रसो के गुण प्रधानभाव से स्थिति मानना व्यर्थ है। फिर दोनो मे से चाहे किसी को माना जाय, पर उसे राजविषयक रति का अङ्ग मानना तो सर्वथा अनुचित है। कुन्तक दोनो उदाहरणो मे प्राधान्येन रस को ही व्यङ्ग्य मानते हैं।

व्यङ्ग्य रस को ये किसी स्थिति मे अप्रधान नही मानते हैं। यही मत व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट का भी है, वे भी किसी भी स्थिति मे व्यङ्ग्य को हमेशा प्रधान ही मानते हैं। सम्भवत व्यक्तिविवेककार को यह प्रेरणा कुन्तक से ही मिली हो, अत एव वे गुणीभूत व्यङ्ग्य जैसे काव्य प्रभेदो को बिलकुल ही नही मानते है।

इस प्रकार के काव्यो मे एक तो कुन्तक गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि मे तो यह प्रधानतया रसाभिव्यञ्जक है, इससे रसवत् अलकार का वह स्वरूप

यहाँ नहीं मानते जैसा कि आनन्दवर्धनाचार्य ने प्रतिपादित किया है, अतः कुन्तक व महिमभट्ट की दृष्टि में ये काव्य उत्तम कोटि के काव्य हैं।

ध्वनिवादी आचार्यों में पण्डितराज जगन्नाथ ने इस विषय को बड़ी गम्भीरता के साथ दर्शाया है आपका कहना है कि ऐसे गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य जो वाच्य-वाचक से प्रधान हैं, पर किसी रसादि के प्रति गौण है, चमत्कार का आधार होते हुए, गुणीभूतव्यङ्ग्य की द्वितीय कोटि में नहीं रक्खे जायेंगे। अपितु प्रथम कोटि में माने जायेंगे, यह व्यवस्था इन्होंने चमत्कार को ध्यान में रखकर की है।

पर्यन्त में ध्वनिकार की भी इसमें एक हल्की सहानुभूति सी है। आपका पुनः कहना है कि वे गुणीभूत व्यङ्ग्य जो रसादि तात्पर्य में पर्यवसित होते हैं ध्वनि कोटि में ही आते हैं—

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥४०/३

रसवत् अलंकार के विषय में भामह व भट्टोद्भटादि के मत का खण्डन

भामहादि-विद्वानों के मत में चिदात्मक रस व चित्तवृत्ति विशेष भाव आदि के अचेतन वस्तु में सम्भव न होने से, विशेषतः अचेतन वस्तु के वर्णन स्थल में रसवदादि अलंकार नहीं हो सकते हैं, अपितु चेतनों के मुख्यरूप से वाक्यार्थ बोध स्थल में ही रसवत् आदि अलंकार हो सकते हैं। अर्थात् चेतन पदार्थ के वर्णन में रसवदादि अलंकार होते हैं, और अचेतन वस्तु के वर्णन प्रसंग में उपमादि अलंकार होते हैं। इस प्रकार प्राचीन आचार्य रसवत् अलंकार व उपमादि अलंकारों का विषय विभाग करते हैं।

परन्तु ग्रंथकार आनन्दवर्धनाचार्य उक्त विषय विभाग का खण्डन करते हैं। आपका कहना है कि रसवत् अलंकार उपमादि अलंकारों के विषय विभाग का आधार यदि चेतन व अचेतन वस्तु मानी जायेगी, तब तो उपमादि अलंकारों का विषय बहुत सीमित या निर्विषय अर्थात् इनके उदाहरण के लिए कहीं अवकाश ही नहीं रह जायेगा। क्योंकि अचेतन वस्तु वृत्तान्त में भी, चेतन विभावादि वर्णन के सामर्थ्य से, या समारोप से, चेतनवत् चमत्कार की सम्भावना हो सकती है। अर्थात् अचेतन वस्तु भी किसी न किसी का किसी तरह विभाव बन जाता है, तब कवि के वर्णन कौशल से वह भी चेतनवत् चमत्कार के प्रसार में समर्थ हो जाता है, क्योंकि कोई भी जड़ वस्तु जब कवि के वर्णन का विषय बन जाती है, तब पारसमणि के स्पर्श की तरह कुछ उज्ज्वलरूप में सहृदयों के सामने आती है। वही बार-बार देखे गए नदी पर्वत, पत्थर आदि जड़ वस्तु जन सामान्य के समक्ष जड़ हैं। परन्तु कवि के वर्णन के विषय बन जाने से तो वही वृक्ष हंसते हैं, पत्थर रोते हैं। यह बात क्या किसी काव्य-रसिक से छिपी है कि भवभूति के पत्थर तो हमेशा रोते ही रहते हैं।

"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्,"

कहने का अर्थ यह है कि लोकशास्त्र मे तो भले ही चेतन व अचेतन का भेद-भाव माना जाए, कोई बात नही, पर काव्य या सहृदयो की परिधि मे तो यह तुच्छ भेदभाव बिलकुल ही मिट जाता है। यहाँ तो विरह विदग्धो के सदेश तक अचेतन वस्तु पहुचाती है, क्योकि "कामार्ता हि प्रकृतिकृपणा चेतनाचेतनेषु"।

इस विषय मे यह सब न देखकर भी यदि प्राचीनो की ही बात 'तुष्यतु दुर्जन-न्याय' मे मान भी ली जाय, तो कविता या साहित्य के एक बहुत बडे भाग से हाथ धोना पडेगा, अर्थात् साहित्य जगत की बहुत बडी क्षति होगी, क्योकि सस्कृत साहित्य मे यत्र-तत्र सर्वत्र ही काव्य नाटक आख्यायिकाओ मे वन-नदी-पर्वत-ऋतु-सरोवर-चन्द्र-चाँदनी-उद्यानादि का वर्णन विभावरूप मे महाकवियो द्वारा समुपवर्णित है, सभी सहृदयों के लिए सारवान् सरस व हृदयावर्जक हैं। इनकी आह्लादमयता व मनोहरता का अपलाप नही किया जा सकता है।

अत उक्त रसनिधानभूत वर्णनीय वस्तु को नीरस मानने के लिए कोई भी सहृदय सहमत नही होगा।

काव्य के क्षेत्र मे वर्णनीय वस्तु के विषय मे चैतन्य की उतनी अपेक्षा नही जितनी कि आस्वादयिता के लिए चैतन्य की आवश्यकता है।

कवि के वर्णन के विषयीभूत—सरिता, लता-निकुन्ज भी तत्तत् वृतान्तो के समारोप मे किस तरह सहृदयो के हृदय को हरण करते हैं, दो तीन उदाहरणो द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं—

उर्वशी के विरह मे पुरूरवा नदी को लक्ष्य कर कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा कर रहा है—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना,
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाऽविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो,
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥

यह नदी नही है, अपितु प्रिय विरहजन्य ताप को नही सहनकर, पीडा को शान्त करने के लिए प्रियतमा उर्वशी ही नदी रूप मे परिणत हो गयी है, ऐसा मैं सम्भावना करता हू, क्योकि इसमे तरङ्ग ही कुटिलतायुक्त कटाक्ष विक्षेप है, तरङ्गो के आघात से अत्यन्त चञ्चल पक्षियो की श्रेणी ही काञ्ची (करधनी) है, और यह वेग या कोपावेश से बन्धन खुल जाने पर नीचे गिरते हुए कपडे को, प्रिय द्वारा पकडे जाने की शङ्का से, मानो ऊपर खींचती हुई की तरह, स्वच्छ फेन (झाग) को आकृष्ट करती हुई, अनेको प्रियकृत अपराध का स्मरण कर रूठ सी गयी हो, अतएव मानो गतिभङ्गका अभिनय कर रही है।

यहाँ अचेतन नदी के गतिविशेषरूप चरित में मानिनी नायिका के चरित का समारोप, चेतन सा प्रतीत होता हुआ सहृदयों के आस्वाद का विषय बन रहा है।

विरह के उन्माद में पुरुरवा किसी लता में रूठी हुई उर्वशी की आशंका कर रहा है—

तन्वीमेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्गमा।
चिन्तामौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते,
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा॥

कोपनशीला यह उर्वशी, पैरों में गिरे हुए मुझको तिरस्कृत कर, मानो पश्चात् उत्पन्न पश्चात्ताप के मारे मेघ के जल से गीले पल्लव के रूप में आँसुओं से धुले अधरवाली, अपने समय के बीत जाने पर फूलों का खिलना बन्द हो जाने से, आभरणों से शून्य की तरह और भौरों के अभाव से, चिन्ता के कारण मौनभाव को प्राप्त हुई लता सी प्रतीत होती है।

यहाँ लता के चरित में कलहान्तरिता नायिका के वृत्तान्त के आरोप द्वारा ही रसवत्ता प्रतीत होती है। व्रज से आये हुए उद्धव को भगवान् कृष्ण पूछते हैं—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहस्साक्षिणाम्,
क्षेमं भद्र! कलिन्दशैलतनया तीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना,
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥

हे सौम्य उद्धव! आज भी मेरी स्मृति में लीन एवं गोप युवतियों की रति क्रीडा के विलास में नर्म सचिव की तरह सहायता देने वाले तथा राधा के एकान्त क्रीड़ा के साक्षात्कार करने, यमुना तट पर विराजमान उन लताकुञ्जों की कुशलता तो है न? अभी बहुत दिनों से मुझको वहाँ से चले आने पर, सुरतशय्या के विन्यासार्थ थोडे से भी त्रोटन कार्य के बन्द हो जाने से उपयोग नहीं होने के कारण, हरे-हरे नये पल्लव जीर्ण होकर पीले से हो रहे होंगे—ऐसा मैं समझता हूं।

यहां जड़ लता निकुञ्जों के वृत्तों में चेतन क्रीड़ा सचिव के वृत्तान्त का समारोप होने से स्पष्ट ही सहृदयों को रसवत्ता का अनुभव हो रहा है।

पूर्वोक्त प्रकार से कोई भी अचेतन वस्तु वृत्तान्त चेतन वस्तु के वृत्तान्त के समारोप से चेतनवत् चमत्कारदायक हो जाता है, जैसे स्वभावतः जड़ भी चन्द्र चन्दनादि पदार्थ चेतनरूप से वर्णित होकर ही सचेतनों के चित्ताकर्षक होते हैं। जैसे प्रकृत्या जड़ पर्वत भी कवि के वर्णन का विषय बनकर, कहीं श्रृंगार रस का उद्दीपन विभाव, और कहीं भयानक रस का या अद्भुतरस का आलम्बन विभाव हो जाता है। इसी प्रकार सभी जड़ वस्तुयें विभावरूप से वर्णित हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में सभी

पदार्थों मे साक्षात् या परम्परया रस के सम्बन्ध होने से रसवदादि अलकारो का ही साम्राज्य हो जायेगा और उपमादि अलकारो का विषय सर्वथा लुप्त हो जायेगा। तस्मात् जहाँ व्यङ्ग्य रसादि अङ्ग या उपकारक ही है, अङ्गी या प्रधान कोई वाच्य या व्यङ्ग्य वस्तु अलकार ही समझना चाहिए।

परन्तु जहाँ व्यङ्ग्य रसादि अङ्गी प्रधानतया ही प्रतीत होते हो, वहाँ सर्वथा वे अलकार्य ही होते हैं। प्रधानतया प्रतीत हुए रसादि ही ध्वनि व्यवहार के विषय होते हैं।

गुण व अलकार की विभाग व्यवस्था

जैसे शौर्य, सौजन्य, विद्या आदि गुण शरीर के अन्दर प्रधानभूत आत्मा मे रहते हैं और उसी की शोभा-उत्कर्ष आदि को बढाते है, वैसे ही माधुर्य-ओज-प्रसाद आदि गुण रसादि स्वरूप प्रधान अङ्गी मे रहते हुए रसादि की ही उत्कृष्टता को बढाते है।

जैसे केयूर, वलय आदि आभूषण शरीर मे रहता हुआ भी, शरीर के द्वारा आत्मा को भूषित करता है, वैसे ही क्रमश शब्दार्थ-वृत्ति अनुप्रास उपमादि अलकार काव्य के शब्दार्थरूप अङ्गो के द्वारा ही रसादि को सुशोभित करता है।

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणा स्मृता ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत् ॥६॥

जो अङ्गीभूत उस रस का आश्रय लेकर रहते है, वे गुण कहे जाते है और जो अङ्गभूत शब्दार्थों का आश्रय लेकर रहते है, वे कटक कुण्डलादिवत् अलकार माने जाते हैं।

गुण यद्यपि रसनिष्ठ हैं, फिर भी परम्परा सम्बन्ध से या उपकार द्वारा वे शब्दार्थवृत्ति भी होते हैं—

शृगार एव मधुर पर प्रह्लादनो रस ।
तन्मय काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥७॥

यद्यपि अत्यन्त आह्लादजनक शृङ्गार रस ही साक्षात् माधुर्य गुण विशिष्ट प्रतीत होता है, तथापि शृङ्गार प्रधान शब्दार्थमय काव्य भी स्वाश्रयाभिव्यञ्जकत्वरूप सम्बन्ध द्वारा अर्थात् परम्परारूप सम्बन्ध से माधुर्य गुणवान् व्यवहृत होता है। अर्थात्—गुण साक्षात् रसनिष्ठ होते हुए भी परम्परा सम्बन्ध से वे शब्दार्थनिष्ठ होगे। यह परम्परा सम्बन्ध ही प्रकारान्तर से स्वाश्रयाभिव्यञ्जकत्वरूप सम्बन्ध कहा जाता है। यहाँ स्व शब्द से गुणो का ग्रहण करना होगा, उन गुणो का आश्रय रस है, और उस रस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष से गुण गौणरूप से शब्दार्थ मे भी रहेंगे। इस विषय मे मम्मट का भी यही कथन है—

"गुणवृत्त्या पुनस्तेषा वृत्ति शब्दार्थयोर्मता"

अन्य रसो की अपेक्षा शृङ्गार रस प्राणिमात्र मे आनन्दातिशय को प्रदान करता है, अत एव यह आनन्दजनन द्वारा चित्त को शीघ्र ही द्रवित करने वाला साक्षात्

माधुर्य गुणशाली है। शृङ्गार के अभिव्यञ्जक शब्दार्थमय काव्य में तो उपचार से ही माधुर्य गुण का व्यवहार होता है।

चित्तद्रुति जनकत्व तो यद्यपि माधुर्य गुण में ही है परन्तु श्रव्यता—कर्ण-सुखदता की प्रतीति ओजो गुण व प्रसाद गुण में भी है।

माधुर्य गुण के प्रकर्ष की अधिकता

यह माधुर्य गुण शृंगार मे, इससे भी अधिक विप्रलम्भ में और इससे भी अधिक करुण में चित्तद्रुति का प्रयोजक है। अतः उत्तरोत्तर विच्छित्ति विशेष के उत्पादक होने के कारण अधिक व्यक्त रूप में यह माधुर्य प्रतीत होता है और तत्तत् रसों के व्यञ्जक शब्दार्थ में भी रहता है—

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥८॥

ओजो गुण

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितः ॥९॥

रौद्र-वीर और अद्भुत रस शब्दार्थमय काव्य में अभिव्यक्त होते हुए दीप्ति चित्तसमुज्वलता से अधिक चमत्कृत होते हैं, इसलिए उज्ज्वलता या रौद्रादिरसों की अभिव्यक्ति में निमित्तभूत शब्दार्थ को भी आश्रय कर ओजो गुण व्यवस्थित है।

अभिप्राय यह है कि रौद्र आदि रस अत्यन्त दीप्ति या उज्ज्वलता को उत्पन्न करते हैं, इसलिए लक्षणा से उन्हें ही दीप्ति कहा जाता है। उस दीप्ति का प्रकाशक शब्द दीर्घ समास की रचना से अलंकृत वाक्य है।

उदाहरण जैसे—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावबद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

भीम क्रुद्ध होकर द्रोपदी से कहता है—

हे देवि! घूमते हुए भुजदण्ड से मण्डित प्रचण्ड गदा के अभिघात से चूर्ण-चूर्ण होकर विदीर्ण जंघावाले दुर्योधन के चिक्कण एवं संलग्न गाढ़ रुधिरों द्वारा रञ्जित हाथों से भीम तुम्हारे बालों को सजायेगा।

यहां पूर्वार्ध वाक्यों में दीर्घ समास व गाढ शब्द रचना से स्पष्ट ही ओज गुण व्यक्त हो रहा है।

कहीं कहीं दीर्घ समास व गाढ रचना रहित शब्दार्थ भी प्रतिपाद्य उद्धत अर्थ, ओजो गुण व रौद्रादि रसों की दीप्ति को अभिव्यक्त करता है—

जैसे क्रुद्ध अश्वत्थामा कहता है—

> यो य शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमद पाण्डवीना चमूनाम्,
> यो य पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्या गतो वा,
> यो यस्तत्कर्मसाक्षी, चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीप,
> क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्

पाण्डवो की सेना मे जो भी कोई अपने बाहुबल का घमण्ड करने वाला शस्त्र धारण करता है, तथा द्रुपदवंश मे जो-जो बालक, वृद्ध, युवक या गर्भ मे भी विद्यमान हैं, और जो-जो मेरे पिता (द्रोणाचार्य) के घृणित हत्याकाड के साक्षी हैं, या सग्राम के लिए मुझे उद्यत होने पर जो-जो मेरे प्रतिपक्षी होकर उपस्थित होते है, उन-उन को एव जगत के अन्तक स्वय यमराज को भी क्रोध से नष्ट करने वाला मैं तैयार हू।

यहा दीर्घ समास के नहीं रहने पर भी उद्धत अर्थ ही ओज गुण का व्यञ्जक है।

प्रसाद गुण का स्वरूप

> समर्पकत्व काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
> स प्रसादो गुणो ज्ञेय सर्वसाधारणक्रिय ॥१०॥

जिस काव्य मे सभी रसो के प्रति समर्पकता (सरलता पूर्वक समस्त रस व्यञ्जकता) है। उसी को सर्वरसानुकूल वृत्तिवाला प्रसाद गुण समझना चाहिए।

अर्थात्—शब्दार्थों की स्वच्छता का नाम ही प्रसाद है। यह प्रसाद गुण किसी रस शब्द, अर्थ विशेष, या माधुर्यादि की अपेक्षा नही रखता है, अपितु सभी रस व रचना मे साधारणतया रहता है। प्रसाद की मुख्यरूप से व्यङ्ग्यार्थ के प्रति समर्पकता समझनी चाहिए।

भामह के अभिप्रायानुसार यह गुणो का विवेचन है। ये माधुर्य ओज प्रसाद गुण सहृदयो के द्रुति, दीप्ति, प्रसादात्मक जो चित्तवृत्ति विशेष हैं, मुख्यतया तत्स्वरूप हैं। अर्थात् मुख्यरूप से गुण सहृदयो की चित्तवृत्ति है।

इन द्रुति दीप्ति प्रसादात्मक वृत्तियो का आस्वाद, तत्तत् रसो की चर्वणा से जन्य है, अत आस्वाद्य तत्तत् रसों मे इनका उपचार हो जाता है, उन रसो के चर्वणा के प्रयोजक शब्दार्थ के होने से शब्दार्थ मे भी इनका उपचार हो जाता है।[1]

श्रुति-दुष्टादि दोष शृङ्गारध्वनि मे वर्जित है

श्रुतिदुष्टत्वादि जो अनित्य दोष हैं, अर्थात् जिनके श्रवण मात्र से सहृदय श्रोता

---

१ ते च प्रतिपत्त्यास्वादमया मुख्यतया, तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे, ततस्तद्व्यञ्जकयो शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम् ॥ (लोचन)

के चित्त में उद्‌विग्नता आ जाय, या जिनके श्रवण से अगम्यस्मृति का उदय हो, या पदों के विपर्यास से कल्पना दोष जिनसे उत्पन्न हो, ऐसे दोषों का ध्वन्यात्मभूत शृंगार में सर्वथा त्याग करना चाहिए।

ये दोष क्रमशः "अधाक्षीत्, अक्षोत्सीत्, तृणेढि" इत्यादि संयुक्ताक्षरविशिष्ट व टवर्ग-णकार विशिष्ट श्रुतिकटुत्व कहे जाते हैं, "छिद्रान्वेषी महाँस्तब्ध"। असभ्यस्मृति हेतुक अश्लील दोष कहे जाते हैं, "कुरु रुचिम्" इत्यादि विपर्यय द्वारा कल्पनादुष्ट कहे जाते हैं। इनका विशेष विवेचन हमने अपने "काव्यप्रकाश एक अध्ययन" नामक पुस्तक में कर दिया है, जिज्ञासु जन वहीं से अवगम कर लें।

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥११॥

श्रुतिदुष्टत्व प्रभृति जिन दोषों को अनित्य दिखलाया गया है, वे प्राधान्येन ध्वन्यमान शृंगार में ही हेय हैं। अन्यत्र रौद्रादि रसों में गुणीभूतव्यङ्ग्य या उद्धतार्थ प्रतिपाद्य प्रकरण में तो ये दोष, दोष न होकर गुण ही होते हैं, इसलिए इनकी क्वचित्कता के कारण ही इन्हें अनित्य भी कहा गया है।

इस प्रकार यहाँ तक के ग्रंथ के अनुसार हमने असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप ध्वनि प्रभेद की सामान्यरूप से व्याख्या कर दी है, इससे अधिक इसका वर्णन करना भी असम्भव सा है, क्योंकि एक ही रस के अर्थात्—एक शृङ्गार रस के ही भेद-प्रभेदों की कल्पना करना कठिन है। सभी रसों के सभी प्रकारों की कल्पना का तो फिर कहना ही क्या है।

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदा स्वगताश्च ये।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥१२॥

उस अङ्गीभूत रसादि के अङ्गों-उपकारकों उपमादि अलंकारों के जो प्रभेद हैं और जो स्वगत रसभावादि तथा संयोग-विप्रलम्भादि प्रभेद हैं, उन सबके परस्पर सकट संसृष्टि के प्रतिपादन करने पर अनन्त संख्या हो जायेगी, इसीलिए विशेषरूप से उसका वर्णन नहीं किया गया है।

अतः किसी एक रस के विषय में अलंकारों के साथ उसका अङ्गाङ्गिभाव से दिग्दर्शनमात्र करा देने से, व्युत्पन्न सहृदयों की बुद्धि, उक्त रीति से सर्वथा कल्पना कर सकती है,

दिङ्मात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम्।
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥१३॥

रसादि ध्वनियों के अनन्त भेदों के होने से, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेदों का दिङ्मात्र प्रदर्शन किया है। जिससे विशेषज्ञ सहृदय अन्य अनिर्दिष्ट प्रकार विशेषों स्वयं कल्पना द्वारा प्रकाश प्राप्त कर लेंगे, क्योंकि प्रतिभाशाली तत्त्वज्ञों के लिए दिक् दर्शन ही काफी है।

शृंगाररस मे अन्य अलंकारो की अङ्गता

ऐसा काव्य जिसमे अङ्गीभूत शृ गार रस हो, उसमे अङ्गरूप मे भी अनुप्रासादि शब्दालकारो के विनिवेश का आग्रह नही करना चाहिए, क्योकि सुकुमार शृ गार के या उसके प्रभेद विप्रलम्भ आदि के अङ्गरूप से प्रकाशन मे वही अलकार समर्थ होता है, जिसकी रचना या निर्माण मे विशेष प्रयत्न नही करना पडता है। अनुप्रास की योजना मे तो समानरूप शब्दो के अनुसधान करने मे कवि को अधिक प्रयास करना पडता है, इसीलिए शब्दो के विन्यास विशेष मे ही कवि का सारा अवधान होने से, उक्त अनुप्रास उस शृ गार ध्वनि का उपकारक न हो कर, अपकारक ही हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सुकुमार शृङ्गार उक्त अनुप्रास की छटा से खचाखच भरे हुए समानरूप शब्दमाला को वहन करने मे अत्यन्त असमर्थ हो जाता है। फलत शृ गार की चर्वणा सरसतया अभिमुख न होकर शब्दाच्छटा ही श्रोता या सहृदय के समक्ष उपस्थित होती है। अत अनुप्रास, यमक, दुष्करश्लेषादि अलकारो का जहाँ तक हो शृ गार रस मे अङ्गरूप मे भी विनिवेश की ध्वनिकार अनुमति नही देते हैं—

शृ ङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रास प्रकाशक ॥१४॥

प्रधान रूप से प्रतीयमान शृ गार रस के साङ्गोपाङ्ग सभी प्रभेदो मे, समान शब्दस्वरूप अनुप्रास-अलकार अङ्गरूप मे प्रकाशक—अभिव्यञ्जक नही रहता है।

ध्वन्यात्मक प्रधानीभूत शृङ्गार व्यञ्जनावृत्ति द्वारा वाच्यवाचको से अभिव्यक्त होकर ही रमणीय होता है। ऐसे शृङ्गार के प्रकाशन के लिए यमक, चित्र, दुष्कर, श्लेषभङ्ग आदि का विशेष निवेश नही करना चाहिए।

ध्वन्यात्मभूते शृ गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्व विप्रलम्भे विशेषत ॥१५॥

ध्वन्यात्मक शृ गार मे, विशेषकर विप्रलम्भात्मक शृङ्गारध्वनि मे शक्ति-प्रतिभा सम्पन्न कवि को भी यमक, सभङ्गश्लेषादि अलकारो का विनिबन्धन नही करना चाहिए, क्योकि इस प्रकार के सुकुमार सरणि मे प्रतिभावान कवि से भी अनवधान की सम्भावना रहती है। "प्रमादित्वम्" पद से यह भी सूचित होता है कि "काकतालीयन्याय"[1] से कदाचित् कहीं एक यमकादि अलकार का सरलतया निवेश हो जाने पर यह भी विशेष यमकादि के सरम्भ का आग्रह कवि को नहीं करना चाहिए, खासकर विप्रलम्भ शृ गार मे। क्योकि विप्रलम्भ शृङ्गार अत्यन्त सुकुमार होता है, वह थोडी भी समानरूप शब्दजन्य कठोरता को सहन नही कर सकता।

---

१ काकागमनमिव तालपतनमिव य समागम स काकतालीयपदेन उच्यते। ज्यो ही कौवा आया त्यो ही तालफल गिरा—अकस्मात्।

अत एव—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥१६॥

रसादि ध्वनि में वही अलंकार उपकारक माना गया है, जो कि रसनिबन्धनानुकूल प्रयास से ही निष्पन्न हो जाय, अर्थात् जिसका सहज सन्निवेश रसादि की निष्पत्ति के साथ साथ हो जाय। रसादि-सामग्री के निष्पत्ति के साथ ही अनायास जिस अलंकार की अङ्गरूपता आश्चर्यपूर्वक हो जाय, वही अलंकार उक्त ध्वनि का उपस्कारक माना जाता है।

रसादि की अङ्गता में अनायास सम्पन्न अलंकार के उपकार का उदाहरण—

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता ।
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः ।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पः स्तनतटीं,
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ॥

मानिनी को मनाता हुआ कोई नायक कहता है कि—हे अनुरोध को न मानने वाली निर्दय! कपोल में बनी पत्रावली को हाथ के रगड़ से मसल डाला है। निःश्वासों ने अमृत के समान मधुर तेरे अधर रस को पान कर लिया है। तेरे कण्ठ का आलिङ्गन करने वाला वाक्य स्तनभाग को कम्पित कर रहा है। अरी निर्दय! तेरा प्रिय तो क्रोध (मान) हो गया है, न कि हम।

यहां नायक की अपेक्षा मान अधिक प्रिय समझा गया है। यह अनायास सम्पन्न हुआ व्यतिरेकालंकार विप्रलम्भ ध्वनि को उपस्कृत करता हुआ, उसका अङ्ग बन गया है।

उपमा आदि अर्थालंकारों मे इतनी कठिन समस्या नहीं जितनी कि यमक-अनुप्रास दुष्करश्लेषादि में। क्योंकि यमकादि अलंकारों में तो शब्दान्वेषणरूप विशेष प्रयास करना ही पड़ता है, अन्य अर्थालंकार तो प्रतिभाशाली कवि के रसानुकूल प्रयास के साथ-साथ ही आप से आप सम्पन्न हो जाते है, उनमें कवि को पृथक् से प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। जैसे—बाणभट्ट की कादम्बरी में कादम्बरी के दर्शन के अवसर पर, (अर्थालंकारों की अनायास अङ्गता) या प्रवरसेन विरचित सेतुबन्ध महाकाव्य में मायाराम अर्थात् इन्द्रजाल द्वारा भगवान् रामचन्द्र के सिर के दर्शन से विह्वल सीता देवी के वर्णन के अवसर पर।

यद्यपि महाकवि माघ कृत शिशुपालवध नामक महाकाव्य के षष्ठ सर्ग में, और महाकवि कालिदासकृत रघुवंश महाकाव्य के नवें सर्ग में, वसन्त के वर्णन प्रसङ्ग में अधिकतर यमकालंकार का ही प्रयोग किया है। परन्तु ऐसी जगह यमकादि अलंकारों की ही प्रधानता है क्योंकि चमत्कार प्रतीति यहां शब्द जन्य ही है। विद्यमान

रसादि चमत्कार उस शब्दालंकार के चमत्कार से व्यवहित हो जाता है। अतः वहाँ उक्त उपकार्योपकारत्व भाव की बात नहीं है।

पूर्वोक्त का सारांश ही निम्नलिखित पद्यों में दे दिया है—

रसयन्ति हि वस्तूनि सालंकाराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते।
शक्तस्यापि, रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ॥
रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते।
ध्वन्यात्मभूते शृंगारे त्वङ्गता नोपपद्यते ॥

महाकवि के एक ही प्रयत्न से रस, अलंकार सहित कितने ही वर्णनीय विषय निष्पन्न हो जाते हैं। परन्तु अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि को भी यमकादि की रचना करने में विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। अतः उसके निर्माण में कवि के ध्यान बट जाने से यमकादि रस का अङ्ग नहीं होता है। एवं ध्वनिभूत शृङ्गार में भी यमकादि अङ्ग नहीं है। परन्तु रसाभास के प्रति यमकादि को अङ्ग होने में कोई क्षति नहीं है।

ध्वनि के आत्मभूतशृङ्गार का अभिव्यञ्जक अलंकार वर्ग

यह अलंकार वर्ग भी बाह्य अलंकार कटक-कंकण, केयूर-कुण्डल की तरह यथा-स्थान में पहनने से शरीर की शोभा को बढ़ाता हुआ शरीरी का भी उत्कर्ष करता है, इसी प्रकार रूपकादि अलंकार वर्ग भी यथा स्थान कवि द्वारा निबद्ध होकर शब्दार्थ की शोभा को बढ़ाता हुआ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि की भी शोभा को बढ़ाता है—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥१७॥

ध्वन्यात्मक शृङ्गार में रसोपकारकत्व की भावना से प्रतिभासम्पन्न कवि द्वारा निबद्ध रूपकादि अलंकार वास्तव में रसोपयोगी होकर सौन्दर्य को बढ़ाता है।

अलंकार को रसाङ्गरूप में विनिवेश की समीक्षा

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ॥
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥१८॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् ॥
रूपकादिरलंकारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥१९॥

(१) रस के प्रति अङ्गरूप में ही अलंकारों की विवक्षा करना।

(२) अङ्गीरूप में कदापि विवक्षा न करना।

(३) यथावसर में उस अलंकार का ग्रहण और त्याग करना।

(४) आरम्भकर अन्त तक उस अलंकार के निर्वाह का प्रयास करना।

(५) समाप्तिपर्यन्त उस अलंकार को रसपोषक बनाने का ध्यान रखना।

इन पाँच प्रकारों के विनिवेश विशेष को ही रसों के प्रति अलंकारों के विनियोग की समीक्षा है।

रस निष्पत्ति में सावधान कवि रसोपकारक जिस अलंकार को प्रयुक्त करना चाहता है उसका उदाहरण—

अभिज्ञान शाकुन्तल में राजा दुष्यन्त भ्रमर को लक्ष्य कर कहता है—

"चलापाङ्गां दृष्टिं"..........

वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर ! हतास्त्वं खलु कृति।

हे मधुकर ! मैं तो केवल यह परिग्रह के योग्य है या नहीं इत्यादि विकल्पों के विचार में ही मारा गया, परन्तु तुम तो साहस करके कृतार्थ हो रहे हो, अतः मुझसे तो उत्कृष्ट तुम ही हो—इत्यादि व्यतिरेकालकार अनायास ही निष्पन्न होकर शृङ्गार रस का पोषक बन रहा है।

कदाचित् रसादि के उपकारकरूप से विवक्षित भी अलंकार स्वयं अङ्गीरूप उपकार्य रूप में विवक्षित हो जाता है। जैसे—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्॥

जिस भगवान् ने सुदर्शन नामक चक्राभिघात के अनुल्लंघनीय आज्ञा से ही राहुवधूजन के रतोत्सव को आलिङ्गन से रहित केवल चुम्बनमात्र शेष कर दिया।

उक्त पद्य में शृङ्गार, वीर, करुण रस या विष्णु विषयक प्रभावातिशय की विवक्षा के रहने पर भी "राहुवधूजन के रतोत्सव को चुम्बनमात्र शेष कर दिया" इस पर्यायोक्त अलंकार में जितना चमत्कार है, उतना 'राहु के सिर को काट डाला' इस व्यङ्ग्यार्थ में नहीं है: अतः प्रधानतया पर्यन्त में पर्यायोक्त की ही यहाँ विवक्षा मानी जायेगी।"

अवसर में किसी अलंकार का ग्रहण

उद्यामोत्कलिकाम्...............

पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्या करिष्याम्यहम्॥

रत्नावली नाटक में वत्सराज उदयन की अपने नर्म सचिव के प्रति यह वचन है कि परकीय नारी की भाति इस उद्यान लता को देखता हुआ मैं आज निश्चय ही देवी वासवदत्ता के मुख को क्रोध से लाल कर दूंगा। उक्त पद्य में श्लेष से अनुप्राणित उपमा अलंकार का भविष्यत्कालिक ईर्ष्या विप्रलम्भ शृङ्गार के उत्कर्षाधायक होने की दृष्टि से उक्त अवसर पर ग्रहण किया है।

उचित अवसर में त्याग

कवि जब अन्य किसी अलंकार को ही अत्यन्त रसोपयोगी समझता है, तब

प्रथम गृहीत अलंकार को अनुपयोग के कारण छोड़ देना है—

> रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
> स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि ।
> कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः,
> सर्वं तुल्यमशोक ! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥१॥

कोई विरही अशोक वृक्ष के प्रति कहता है—हे मित्र अशोक ! तुम भी नये-नये पल्लवों से रक्त हो, और मैं भी प्रिया के प्रशंसनीय गुणों में अनुरक्त हूं। तुझ पर भौंरे आते हैं और कामदेव के चाप से मुक्त बहुत से बाण मुझ पर भी आते हैं। कान्ता-पादतलाहति जैसे तुम्हारे लिए आनन्ददायक है, इसी प्रकार मेरे लिए भी।

इस प्रकार हम दोनों के सब कुछ बराबर होने पर भी केवल विधाता ने मुझे सशोक बना दिया, अर्थात् तुम्हारे व मेरे में केवल यही अन्तर है कि तुम अशोक हो, पर दुर्दैव ने मुझे सशोक बना डाला।

उक्त पद्य मे प्रथम तीन चरण में निबद्ध श्लेषालंकार चतुर्थ चरण में रसोत्कर्ष की दृष्टि से व्यतिरेक की विवक्षा से परित्यक्त होता हुआ भी, विप्रलम्भ शृंगार को पुष्ट ही कर रहा है।

उक्त पद्य मे संकर की आशङ्का

किसी का कहना है कि उक्त पद्य में श्लेष और व्यतिरेक की निरपेक्ष स्थिति नहीं है, अपितु नरसिंह की तरह अङ्गाङ्गिभावरूप संकर ही है।

पूर्वपक्षी का यह कथन कि यहां अङ्गाङ्गिभाव रूप संकर है, यह ठीक नहीं है। क्योंकि जहाँ श्लेषविषयक शब्द में ही प्रकारान्तर से व्यतिरेक की प्रतीति हो, वहाँ तो संकरालंकार हो सकता है।

अर्थात् दोनों के उपकार्य-उपकारक भाव और एक विषयता (एकास्पदता) रहने पर ही उक्त संकरालंकार होता है। परस्पर निरपेक्षता व भिन्न विषयता रहने पर तो उक्त अलंकार (संकर) नहीं होता है।

संकरालंकार का उदाहरण तो निम्न वाक्य हो सकता है—

"स हरिर्नाम्ना देव सहरिर्वरतुरगनिवहेन" इत्यादि।

कोई चाटुकार राजा की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि—हे राजन् ! वह देव तो केवल नाम से ही "सहरि" ऐसा कहलाता है, किन्तु आप तो श्रेष्ठ तुरगों से युक्त होने के कारण (वास्तव में) सहरि कहलाने योग्य हैं।

उक्त वाक्य में हरि शब्द देव व अश्व दोनों का वाचक है अतः सहरि शब्द में श्लेष है। यह श्लेष देव की अपेक्षा राजा में वास्तविक "हरिभिः अश्वैः सहितः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार आधिक्य बतलाने के कारण प्रतीयमान व्यतिरेक का पोषक है। इन दोनों का यहां "सहरि" एक शब्द ही आस्पद है, अतः दोनों का संकर हो सकता है।

यद्यपि यहाँ भी "सहरि" यह पद दो वार कहा गया है, तथापि दोनों की एकानुपूर्वीकत्व होने से एकविपयता मान ली जाती है।

तात्पर्य यह है कि जहाँ एकाश्रय में ही दोनों अलंकारों का अङ्गाङ्गिभाव हो, वहां संकरालंकार माना जाता है। जैसे—"अतिगाढ़गुणायाश्च नाब्जवद् भङ्गुरा गुणा:" इत्यादि स्थल मे यहाँ गुण शब्द तन्तु कमल के रेशे का भी वाचक है, और कमल के गुण भङ्गुर है, पर प्रकृत मे किमी नायिका के गुण पुष्ट घने हैं, तत् गुण शव्दमूलक ही यहाँ व्यतिरेक भी है। यहा उक्त श्लेप व्यतिरेक का पोपक है अत: अङ्गाङ्गिभाव संकर है।

प्रकृत मे "रक्तस्त्वम् नवपल्लवै" इत्यादि पद्य में वो श्लेपालंकार का आश्रयी-भूत शव्द और है, और व्यतिरेकालंकार का अन्य है, अर्थात् रक्तत्वादि शव्द तो श्लेप के विपय है, अशोक व सशोक शव्द व्यतिरेकालकार का विपय है।

यदि इस प्रकार के विपय मे संकरालंकार की कल्पना की जायेगी, तो फिर संसृष्टि अलंकार का तो विपय ही नही रह जायेगा।

यह भी नही कहा जा सकता है कि उक्त पद्य मे श्लेप प्रयुक्त समता के कारण व्यतिरेक आत्म-प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा हो, व्यतिरेक के लिए साम्य सम्पादन (उपमा) की कोई आवश्यकता नही है, क्योंकि साम्य के विना भी व्यतिरेक स्वतन्त्र ही रमणीयता का आधान करता है जैसे निम्न पद्य में—

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि शम्या।
गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तम: कज्जलेन।
प्राप्तोत्पत्ति: पतङ्गान्न पुनरूपगता मोषमुष्णत्विषो वो,
वर्ति: सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपस्य दीप्ति: ॥

सम्पूर्ण दीपों के दीप भगवान सूर्य की दीप्तिरूप कोई लोकोत्तरवर्ति, जो निर्दय वेग से पर्वतो को उखाड़ देने वाले कल्पान्त के वायु से नहीं बुझ पाती, जो दिन में भी अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाश फैलाती है, और तमरूपी कज्जल प्रकाश फैलाती है, और तमरूपी कज्जल से जो रहित है, जो पतङ्ग-सूर्य से उत्पन्न होती है, फिर भी पतङ्ग-कीट से नही बुझती, ऐसी वह दीप्ति आप लोगों को सुखी करे।

उक्त स्थल में सामान्य दीप कलिका तो थोड़े से भी पवन से बुझ जाती है, तथा दिन में प्रकाशित नही होती है और पतंगाओ से भी बुझ जाती है। परन्तु यह तो उससे विलक्षण ही है, अत: इस द्वीप शिखा में आधिक्य प्रतीत होने से श्लेपो-त्थापित वाच्योपमा के विना ही व्यतिरेक का प्रदर्शन किया गया है।

यहाँ यह भी नही कहा जा सकता है कि श्लेपमात्र की चारुत्व प्रतीति से ही व्यतिरेक का अ ग श्लेप माना जाय, ऐसी वात भी नहीं। क्योंकि व्यतिरेकालंकार तो

श्लेष के बिना भी केवल साम्यमात्र के प्रतिपादन से भी रमणीय होता ही है। जैसे निम्न पद्य—

> आक्रन्दा स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि
> स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः।
> अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्तिः समैवावयो-
> स्तत् किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धुमेवोद्यतः॥

कोई वियोगी जलधर को लक्ष्य करके कहता है—

हे मित्र मेघ ! मेरा क्रन्दन तुम्हारे गर्जन के तुल्य है और मेरी अश्रुधारा तुम्हारे मुसलाधार वर्षा के समान है। प्रियाविरहजन्य मेरी शोकाग्नि तुम्हारी चमकती हुई बिजली के समान है और हृदय के अन्दर विराजमान दयिता का मुख, तुमसे आवृत्त चन्द्रमण्डल की तरह है। इस प्रकार हमारा तुम्हारा व्यवहार तुल्य होने पर भी तुम हमेशा मुझे जला डालने के लिए तत्पर क्यों हो।

यहां श्लेष के बिना भी, केवल मेघ व विरही-पुरुष में साम्य के प्रतिपादन मात्र से ही, मेघ में दाहोद्यम प्रयुक्त आधिक्य के प्रकाशन द्वारा ही व्यतिरेक की रमणीयता सम्पन्न हो जाती है। अतः व्यतिरेक के लिए श्लेष का अंग होना या अपेक्षा होना कोई जरूरी नहीं है।

रसोत्कर्ष को ध्यान में रखते हुए किसी अलंकार के अत्यन्त निर्वाह के दुराग्रह का त्याग—

कवि जहां आरम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त तक रसैकतान है। इसी प्रसंग में रस की पुष्टि के लिए आदि में किसी अलंकार का विन्यास करा भी लिया तो, अन्त तक उसी के निर्वाह की उत्कट अभिलाषा न रक्खे। इस प्रकार रसास्वाद में कोई विघ्न नहीं आयेंगे। जैसे—

> कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढम्,
> नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
> भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितम्।
> धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन्॥

(कोप के कारण अपनी कोमल और चञ्चल बाहुलता के पाश में जोर से बांधकर, सन्ध्या के समय सखियों के सामने वासभवन में ले जाकर, उस नायक के दुश्चेष्टित को सूचित करके "फिर ऐसा नहीं" यह लड़खड़ाती अव्यक्त आवाज में कहते हुए, रुदन करती हुई नायिका के द्वारा, अपने नखक्षत आदि को छिपाने में संलग्न, हंसते हुए प्रियतम को कोई नायिका मार रही है। कवि उसको धन्य-धन्य कह रहा है।)

उक्त पद्य में कवि ने बाहुलतिका में पाश का आरोप कर, रूपकालंकार प्रारम्भ किया, परन्तु बाद में रसभंग के भय से दयिता के व्याधवधू व व्यासभवन में कारागार के अनुचित रूप के अत्यन्त निर्वाह का दुराग्रह कवि ने नहीं किया।

इस पुष्टि के लिए कवि जिस अलंकार को पर्यन्त तक अङ्गरूप में ही रखता है—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्।
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति॥

विरह व्यथा से व्याकुल यक्ष अपनी प्रेयसी के लिए मेघ द्वारा सन्देश भेजता हुआ कह रहा है कि—

हे भीरू! यद्यपि मैं प्रियंगुलता में तेरे सुकुमार अंगों की, चञ्चल हरिणी के प्रेक्षण में तेरे कटाक्ष-व्यापार की, चन्द्रमा में मुख क्रान्ति की तथा मोरों के पिच्छ-कलाप में तेरे केशपाश की और मन्दाकिनी की मन्द तरंगों में तेरे भ्रूविलासों की उत्प्रेक्षा करता हूँ, परन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि, कहीं भी एकत्र (एक ही वस्तु में) तुम्हारे सारे अंगों का सम्पूर्ण सादृश्य नही देख पाता हूँ।

यद्यपि पृथक् पृथक् वस्तु में तुम्हारे एक-एक अंग के सादृश्य का अवलोकन कर कथञ्चित प्राण धारण कर रहा हूं, परन्तु प्रयत्न करने पर भी इधर उधर ढूढने पर भी सारे अंगों का एकत्र सादृश्य न मिलने से मुझे पूर्ण शान्ति नही मिल रही है। इससे नायिका का अनुपम सौन्दर्य सूचित होता है। यक्ष ने यहाँ अपनी प्रेयसी के लिए जो भीरू अर्थात् कातरशील—यह सम्बोधन दिया है, इससे यह अभिव्यक्त होता है कि जो व्यक्ति कातरहृदय वाला होता है वह अपना सर्वस्व (धन) एक ही जगह नही रख देता है, अपितु अनेकत्र कुछ अंशों को स्थापित करता है।

यह प्रत्यक्ष लोकव्यवहार में भी देखा जाता है। इसलिए विधाता तुम्हारे सौन्दर्य का इतना लोभी रहा कि वह साक्षात् तुम्हारे सौन्दर्य की तो बात ही क्या अपितु तुम्हारे सौन्दर्य के सादृश्य को भी मानो एकत्र स्थापित नही कर सका।

यहाँ तद्भावाध्यारोप रूप (अर्थात् जिसमें जो नही हो, उसका अहार्य-आरोप रूप, जैसे श्यामा-लताओं मे अङ्ग का आरोप रूप) उत्प्रेक्षा को अनुप्रमाणित करने वाला सादृश्य उपक्रान्त किया और अंग रूप से विप्रलम्भ की पुष्टि के लिए अन्त तक निर्वाह भी किया। अर्थात् कविनिबद्ध उत्प्रेक्षालंकार का अनादि से अन्त तक विप्रलम्भ शृंगार की पुष्टि के लिए उसका निर्वाह भी किया है।

पूर्वोक्त समीक्षा के बिना तो अलकारादि सन्निवेश रसोपकारक नही होता है। महाकवियो के प्रबन्धो मे भी इस प्रकार के समीक्षा की कमी देखी जाती है। परन्तु सूक्तिसहस्र व्याख्यानों से ससार मे जिन्होंने कीर्ति अर्जित कर ली है, ऐसे महात्माओ के दोषोद्घोषण करना तो अपनी ही निन्दा करना है। इसलिए विस्तार भय से हमने उक्त दोषोद्घाटन नही किया, इसलिए नही कि त्रुटियाँ हैं ही नहीं।

उक्त समीक्षा का परिशीलन कर प्रतिभाशाली कवि यदि इस ध्वनि मार्ग का अनुमान करेगा तो निश्चित ही असामान्य सफलता को प्राप्त करेगा।

सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का विभाग

विविक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक भेद है, जिसमे वाच्य विभावादि प्रतीति के बाद क्रमश व्यङ्ग्य लक्षित होता है, ऐसे घण्टा के अनुरणन स्वभाववाले ध्वनि को सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहते हैं। यह भी दो प्रकार का होता है—शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक।

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽनुस्वानसंनिभ ।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थित ॥२०॥

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का, घण्टानुरणन की तरह क्रमश प्रकाशमान जो ध्वन्यर्थ है, अर्थात् जिस ध्वनि मे वाच्य व व्यङ्ग्य का क्रम लक्षित हो, उसे सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि कहते हैं। यह शब्दशक्तिमूलक व अर्थशक्तिमूलक के भेद से दो प्रकार का होता है।

सक्षेप मे इस ध्वनि की गणना इस प्रकार की जा सकती है, ध्वनि—दो प्रकार की है—अविवक्षितवाच्य ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि।

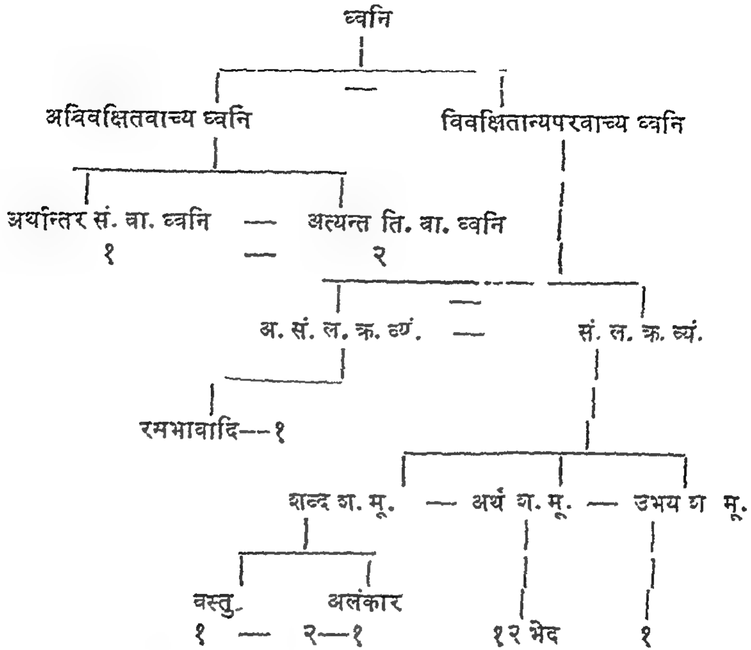
इनमे अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद हैं—

(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि और (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि। पुन विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भी दो भेद हैं (१) असलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यध्वनि और सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि। इनमे असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का एक ही भेद रसभावादि है। परन्तु सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि दो प्रकार का माना है—शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक।

अन्य मम्मटादि आचार्यों ने इसका एक उभयशक्तिमूलक भेद भी माना है, जिसका उल्लेख ध्वन्यालोक मे नही है।

पुन वस्तु व अलकार के भेद से शब्दशक्तिमूलक ध्वनि दो प्रकार की होती है। अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद होते हैं। उभयशक्तिमूलक ध्वनि का एक ही भेद है। इस प्रकार सब मिलाकर ध्वनि के अठारह भेद होते हैं।

ध्वनि का संक्षिप्त मानचित्र



शब्दशक्तिमूलक ध्वनि व श्लेष में अन्तर

जहाँ शब्दशक्ति से अर्थान्तर—कोई दूसरा अर्थ प्रकाशित होता है, वही यदि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहा जाय, तो फिर शब्दशक्ति के द्वारा द्वितीय अर्थ को प्रकाशित करने वाले श्लेषालंकार का कोई विषय ही नहीं रह जायेगा।

क्योंकि शब्दशक्ति से जहाँ भी अर्थान्तर का बोध होगा उन सभी स्थलों में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि ही समझी जायेगी। इस प्रकार श्लेष के लिए कोई अवकाश या स्थान ही नहीं रह जायेगा।

उक्त आशंका को दूर करने की इच्छा से शब्दशक्तिमूलक ध्वनि व श्लेषालंकार का विषय विभाग दिखलाते हैं—

> आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
> यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥२१॥

जिस काव्य में शब्द से अनुक्त—अभिहित न होकर (अर्थात् साक्षात् संकेतित न होकर, अलंकार आक्षेप सामर्थ्य से ही अर्थात् व्यञ्जना व्यापार द्वारा प्रकाशित होता है, वह शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि है, और जहाँ अभिधा शक्ति द्वारा ही दो वस्तुओं का समान रूप अभिभाव होता है, उसे श्लेष कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जहाँ अनेकार्थक शब्दों के प्रकरणादिवश किसी एक अर्थ के नियमन हो जाने पर पुन. अभिधामूला व्यञ्जना द्वारा द्वितीय अर्थ का भी यदि बोध होता है, तो वहाँ शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानी जाती है। और जहाँ प्रकरणादि के अभाव मे अनियन्त्रित अभिधा से ही समानरूप मे दो अर्थों का बोध होता है, वहाँ श्लेषालंकार का विषय है।

इसीलिए श्लेष के विषय मे व्यञ्जना व्यापार का सम्बन्ध नही होने से उक्त शब्दशक्तिमूलक ध्वनि से ही श्लेषालंकार गतार्थ नही हो सकता है। अत श्लेष का विषयापहार नही हुआ, क्योंकि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मे एक अर्थ वाच्य व अन्य अर्थ व्यङ्ग्य रहता है और श्लेषालंकार मे दोनों वाच्यार्थ ही रहते हैं।

श्लेष मे दोनों अर्थों की वाच्यता का उदाहरण—

> येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्काय पुरास्त्रीकृतो,
> यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गा च योऽधारयत्।
> पायात् स सर्वदोमाधव । इत्यादि

कवि विष्णु व शिव मे राजा की शुभ कामना कर रहा है। विष्णु पक्ष मे-कृष्णावतार लेकर जिसने शकटासुर राक्षस को ध्वस्त किया, वामनावतार मे बलि को जीतने वाले जिस काय को मोहिनी रूप मे परिणत किया वह माधव आपकी रक्षा करें।

शिव पक्ष मे—काम को जलाने वाले जिस शंकर ने त्रिपुरासुर के दाह के अवसर पर भगवान विष्णु के शरीर को अस्त्र बनाया था, जिसने भुजग का हार व वलय धारण किया है और जो जटा मे गगा को धारण किये हैं। ऐसे उमाधव—पार्वती पति शकर आपकी रक्षा करें।

उक्त पद्य मे प्रकरणादि के नियामक के अभाव मे अभेद द्वारा ही "सर्वदोमाधव" इत्यादि समान शब्दों से समान रूप से दोनो अर्थो की प्रतीति होती है। अत यहाँ श्लेषालंकार है, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नही।

अभिधाशक्ति द्वारा यदि कही अलंकारान्तर की प्रतीति होती हो तो वहाँ भी श्लेष का ही विषय समझना चाहिए, जैसा कि महिमभट्ट आदि का कहना है।

परन्तु जहाँ शब्दशक्ति के सामर्थ्य मे आक्षिप्त वाच्य से अतिरिक्त व्यङ्ग्य रूप अलकार प्रकाशित होता हो तो वह सब ध्वनि का ही विषय है।

जैसे अभिधावृत्ति द्वारा अलकारान्तर की प्रतीति श्लेषालंकार के द्वारा—

> तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ।
> जनयामासतु कस्य विस्मय न पयोधरौ॥

मुक्ताहार के विना भी स्वभाव से ही अत्यन्त मनोहर उस नायिका के स्तन द्वय किस व्यक्ति को चकित नही कर देते हैं। अर्थात् सभी को सौन्दर्य से आश्चर्य चकित कर देते हैं।

इस पद्य में आपाततः "हारेण विनाऽपि हारिणी" इस स्थल में विरोध की प्रतीति होती है, परन्तु हारिणी का 'हारवाला' यह अर्थ न करके मनोहर अर्थ कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है 'अपि' शब्द के द्वारा वह वाच्य भी है। इसलिए यह उदाहरण विरोधाभास के अनुग्राहक श्लेप का ही विषय है, न कि शब्दशक्ति-मूलक उक्त असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का।

अन्य ऐसे स्थलों में जहां व्यञ्जना व्यापार द्वारा अभिव्यक्त होता हुआ भी अलंकार रूप अर्थ, यदि किसी दूसरे शब्द द्वारा अभिहित हो जाय, तो वहां भी शब्द शक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि न होकर, गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही व्यवहार होता है।

अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा प्रकाशित वह अर्थ यदि वाक्य-घटक किसी एक पद से भी अभिहित हो जाता है तो वह व्यङ्ग्यार्थ भी वाच्य बन जाता है, अतः ऐसे स्थल में ध्वनि का व्यवहार नहीं होता है।

जैसे इस निम्न उदाहरण में—

यहाँ कोई कवि कृष्ण के प्रति गोपी की उक्ति के वर्णन द्वारा राजा को आशीर्वाद देता है—

> **दृष्ट्वा केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया,**
> **तेनैव स्खलितास्मि नाथ! पतितां किन्नाम नालम्बसे।**
> **एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-**
> **र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्॥**

उक्त पद्य मे द्व्यर्थक "गोपरागादि" शब्दों की अभिधा द्वारा प्रकरणवश गोधूलि आदि अर्थों में नियन्त्रित हो जाने पर, पुनः "गोपे-रागः" इत्यादि अपर अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार द्वारा ही सम्भावित होती है, परन्तु "सलेश" शब्द द्वारा पुनः अभिधा का ही पुनरुज्जीवन कर देने से दोनों अर्थों मे वाच्य श्लेप की ही विषयता है, न कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की विषयता है।

इस प्रकार के प्रसंग वाच्य श्लेप के ही विषय माने जाते है, परन्तु जहाँ अनेकार्थक शब्द के प्रकरणादि द्वारा एक अर्थ में अभिधा के नियन्त्रित हो जाने पर, द्वितीय अलंकारादि अर्थ का पुनः अभिधामूला ध्वनि द्वारा ही प्रकाशन होता है जैसे—

"यथा—अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत, ग्रीष्माभिधानः फुल्ल-मल्लिका धवलाट्टहासो महाकालः"

इसी बीच मे पुष्पसमयरूप वसन्त ऋतु को समाप्त करते हुए, अत्यन्त सफेद सौध-अट्टालिका के समान उज्ज्वल मल्लिका पुष्पों के विकास से शोभायमान तथा दिन को बड़ा करने वाला ग्रीष्मकाल उल्लसित हुआ। यह वाच्यार्थ है।

एवं इतने मे वसन्त जैसे सुखद सत्ययुगादि को नष्ट करते हुए, विकसित मल्लिका कुसुमवत् अट्टहास करने वाले एवं राक्षसों के लिए अत्यन्त विकराल रुद्रावतार

धारण करने वाले महाकाल नामक भगवान शंकर अत्यन्त उल्लसित हुए। यह व्यङ्ग्यार्थ है।

उक्त सन्दर्भ में ऋतु वर्णन प्रसंग से प्रकरण द्वारा ग्रीष्मपक्षीय अर्थ में अभिधा के नियन्त्रित हो जाने पर, शिव पक्षीय अर्थ तथा "महाकाल" शंकर व ग्रीष्म के—उपमानोपमेय भावव्यञ्जन द्वारा उपमा की प्रतीति अभिधामूला व्यञ्जना से ही होती है, इसलिए यह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का विषय है।

जहाँ एक शब्द द्वारा दो अर्थों का ज्ञान होता है वहां मुख्यत श्लेष अलंकार होता है। किन्तु जहाँ ध्वनन व्यापार द्वारा आक्षिप्त होकर कोई अर्थ या अलंकारान्तरशब्दशक्ति से प्रकाशित होता है वह सभी शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय है।

इस प्रसंग में लोचनकार ने चार मत प्रस्तुत किये हैं, जिनका सारांश इस प्रकार है—

(१) प्रथम मत—कुछ लोगों का कथन यह है कि अनेकार्थक स्थलों में अभिधा शक्ति द्वारा ही द्वितीय अर्थ का भी बोध हो जाता है, बाद में प्रकरणादि द्वारा नियन्त्रित इन शब्दों से ध्वनन व्यापार द्वारा ही द्वितीय अर्थ का भी ज्ञान होता है, अभिधा में ही पूर्वविदित वह अर्थ होने के कारण इसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहते हैं।

(२) द्वितीय मत—दूसरे लोगों का कहना है कि "अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्" इत्यादि स्थल में दूसरी अभिधा से ही ग्रीष्म व भीषण महाकाल देवता रूप अर्थ—सादृश्यवश अर्थ सामर्थ्य से अभिहित करती है, अत एव यह ध्वनन व्यापार रूप कही जाती है।

(३) तृतीय मत—अन्य लोगों का कहना है कि—शब्द श्लेष में शब्द भेद के कारण और अर्थ श्लेष में भी शक्ति भेद के कारण शब्द का भेद हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार दूसरे अर्थ के कथन के लिए दूसरा शब्द वहाँ लाया जाता है। यह दूसरा शब्द कभी अभिधा व्यापार के द्वारा लाया जाता है।

जैसे—कौन इधर दौड़ रहा है और कैसा गुण वाला है, इन दोनों प्रश्नों के उत्तर के लिए "श्वेतो धावति" यह एक ही वाक्य है। अर्थात् 'श्वा इतो धावति', कुत्ता इधर से दौड़ता है, और वह श्वेतो धावति, सफेद गुण वाला है। यहाँ पर श्लेष वाच्यालंकार हो जाता है। परन्तु जहाँ ध्वनन व्यापार से ही शब्द लाया जाता है। वहाँ शब्दान्तर से प्रतिपन्न वह अर्थान्तरप्रतीयमान ही होता है।

(४) चतुर्थ मत—इन लोगों का कथन है कि अर्थ सामर्थ्यवश दूसरा अर्थ भी अभिहित ही होता है, परन्तु पश्चात् प्रतिपन्न उस दूसरे अर्थ का पूर्व प्राकरणिक अर्थ के साथ जब रूपणा या उपमानोपमेयभाव होता है, वह किसी अन्य शब्द से नहीं है, अपितु वह ध्वनन व्यापार द्वारा ही है, इत्यादि।

इस विषय में व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट का विचार कुछ विलक्षण ही है—आप शब्द में अभिधा के अतिरिक्त अन्य शक्ति मानते ही नही, अन्य जो व्यञ्जनादि शक्तियाँ हैं वे तो अर्थ में ही ठीक मालूम पडती हैं शब्द में नहीं। शब्द अनेक शक्तियों का आश्रय नही हो सकता है। एकाधिक शक्तियों का आश्रय जिन पदार्थों को माना है वे सब एक ही साथ कार्य करती हुई परस्पर निरपेक्ष हैं। जैसे—अग्नि की दाहकता, पाचकता व प्रकाशकता आदि किन्तु जिन शक्तियों को शब्दाश्रित माना जाता है, उनमें न तो यह देखा जाता है, और न माना ही जाता है। क्योंकि अन्य शक्तियों की प्रवृत्ति अभिधा पर निर्भर रहती है। इसलिए भिन्न-भिन्न पदार्थों को उनका आश्रय मानना चाहिए, न कि एकमात्र शब्द को।

"यत् पुनरस्यानेकशक्तिसमाश्रयत्वाद् व्यापारान्तरपरिकल्पनं तदर्थस्यैवोपपद्यते न शब्दस्य, तस्यानेकशक्तिसमाश्रयत्वासिद्धे, इत्यादि।

प्रकृत में उक्त उदाहरणों में जो अप्राकरणिक अर्थान्तर शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित होता है, उसमें पूर्व अर्थ की अपेक्षा कही असम्बद्धार्थता प्रतीत न हो एतदर्थ प्राकरणिक व अप्राकरणिक अर्थों में उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर लेनी चाहिए। इसलिए ऐसे स्थलों में अर्थान्तर शब्द सामर्थ्य से आक्षिप्त रहता है, न कि शब्दतः कहा जाता है। अतः श्लेष से शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि पृथक् ही है।

जिस श्लिष्ट उक्ति में साक्षात् शब्द के द्वारा विरोधालंकार सूचित हो, ऐसे श्लेष व विरोध वाच्यालंकार के विषय होते हैं—जैसे—बाणभट्ट के हर्षचरित में—"समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्, तथाहि—सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च रत्यादौ" दधीचि का अनुचर विकुक्षि सावित्री से गायत्री के विषय में कह रहा है—यह गायत्री एकत्र सम्मिलित परस्पर विरोधी पदार्थों की तरह अत्यन्त आश्चर्य एवं कुतूहलजनक प्रतीत हो रही है—जैसे मालूम पड़ता है कि मानो अत्यन्त घने अंधकार के समीप देदीप्यमान सूर्य ज्योति चमक रही हो इस तरह यद्यपि विरोध प्रतीत होता है, तथापि सन्निहित घोर अन्धकार की तरह काले-काले केशों के रहने पर भी यह अत्यन्त चमकीली कान्ति वाली है। इस तरह से विरोध दूर होकर विरोधाभास में परिणत हो जाता है। यद्यपि यहाँ विरोध का वाचक 'अपि' नही है, परन्तु "विरोधिनाम्" में विरोध शब्द से ही स्पष्ट विरोधाभास की प्रतीति हो जाती है, इसलिए यहाँ श्लेष व विरोध दोनों वाच्य ही हैं।

अब संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिरूप विरोधाभास का स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम्।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम्॥

जो सबका एक घर है और घर नही भी है, जो बुद्धि रहित है और बुद्धिमान् भी है, जो हरे भी है और काले भी है, जो क्रिया कुशल भी है और क्रियाशून्य भी है एव जो चक्रनाशक है, और चक्रधारी भी है, ऐसे भगवान को आप लोग नमस्कार करें।

यहाँ आपातत यह प्रतीयमान विरोध, क्रमश सभी चराचरो के एक प्रधान रक्षक और अविनाशी एव अधिपति बलभद्र, कृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध इन चारो की मूर्तिस्वरूप सुदर्शनचक्रधारी शत्रुनाशन भगवान् कृष्ण को तुम लोग प्रणाम करो। इन अर्थों के व्यञ्जना द्वारा विरोधाभास मे परिणत हो जाने से उक्तार्थ के वाचक कोई शब्द न होने से, श्लेष द्वारा परिपुष्ट यह विरोधाभास-सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण है।

इस प्रकार अन्य भी शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के प्रकार हो सकते हैं, विद्वज्जन स्वय उनका ऊहापोह कर लें।

अर्थशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि

अर्थशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि वहाँ होती है जहाँ वाच्यार्थ व्यञ्जना व्यापार द्वारा किसी अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है। यहाँ भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के प्रतीति का क्रम रहता है।

अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थ स प्रकाशते।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्ति विना स्वत ॥२२॥

जहा अर्थ शब्द व्यापार के बिना ही अपने सामर्थ्य से अर्थान्तर को प्रकाशित करता है, वह अर्थशक्ति-सम्भव नामक सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि है।

उदाहरण

एववादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

प्रसङ्ग—देवर्षि नारद जी के द्वारा शिवजी के साथ पार्वती की विवाह वार्ता जब हिमालय के साथ चल रही थी, तो समीप मे बैठी हुई पार्वती की मनोदशा वर्णन परक यह पद्य है।

इस प्रकार जब देवर्षि (शिव जी के साथ पार्वती जी के विवाह की) चर्चा कर रहे थे, तो पिता के बगल मे बैठी हुई पार्वती नीचे मुह करके लीला कमल के पत्रों की गणना करने लगी।

उक्त पद्य मे लीला कमल पत्र गणना, अपने स्वरूप को बिलकुल अप्रधान करके, शब्द व्यापार के बिना ही, व्यभिचारिभावात्मक लज्जारूप अर्थान्तर को प्रकाशित करता है। यहा वाच्यार्थ के प्रतीति के बाद, विवाह सम्बन्धी वार्तालाप के श्रवण के समय गौरी का मुखनमन व कमलपत्रगणन क्रमश लज्जाभाव को अभिव्यक्त करता

है, अतः वाच्य व व्यङ्ग्य की प्रतीति में स्फुटरूप से ही क्रम लक्षित होने से यह अर्थ-शक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण है।

यद्यपि भाव ध्वनि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के ही अन्तर्गत है, तथापि क्रमलक्षित होने से यह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का भी विषय हो सकती है।

इस प्रसंग में लोचनकार श्री अभिनवगुप्त पादाचार्य की टिप्पणी इस प्रकार है—"यद्यपि रस भावादिरर्थो ध्वन्यमान एव भवति, न वाच्यः कदाचिदपि, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषय. यत्र हि विभावानुभावेभ्य स्थायिगतेभ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्तिस्तत्रास्त्वलक्ष्यक्रम यथा—निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्य-मित्यादौ। इह तु पद्मदलगणनमधोमुखत्वं चान्यथापि कुमारीणां सम्भाव्यते इति, झटिति न लज्जायां विश्रमयति हृदयं अपि तु प्राग्वृत्ततपश्चर्यादिवृत्तान्तनुस्मरेण तत्र प्रतिपत्तिं करोतीति क्रमव्यङ्ग्यतैव, रसस्त्वत्रापि दूरत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने भातीति तदपेक्षयाऽलक्ष्यक्रमतैव, लज्जापेक्षया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्, अमुमेव भावमेव शब्दः केवलशब्दश्च सूचयति।

यद्यपि रस, भाव, आदि अर्थ ध्वन्यमान ही होता है कभी भी वाच्य नही होता है, तथापि सभी रस भावादि अलक्ष्यक्रम का विषय नही होता है। जहां स्थायिगत या व्यभिचारिगत पूर्ण विभावों और अनुभावों से जल्दी रस की प्रतीति हो जाती है, वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है, जैसे—निर्वाणभूयिष्ठ इत्यादि द्वारा पार्वती के आगमन का वर्णन, और मनोभाव का शरसन्धानादि इत्यादि स्थलों में। परन्तु यहाँ तो कमल के पत्तों को गिनना और नीचे मुख करना, कुमारियो को अन्यथा भी सम्भव है। इस प्रकार जल्दी ही हृदयलज्जा में विश्रान्त नही होता अपि तु (हृदय) पहिले सम्पन्न हुए तपश्चर्या आदि वृत्तांत के अनुस्मरण से उस (लज्जा) का ज्ञान करता है, इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता ही है, परन्तु रस यहाँ से दूर ही है, क्योंकि पहले व्यभिचारी के पर्यालोचन कर लेने पर ही, बाद में प्रतीत होता है। अत. रस की अपेक्षा तो अलक्ष्यक्रमता है, पर लज्जा की अपेक्षा तो संलक्ष्यक्रमता ही है। वृत्ति में इस अभिप्राय को 'एव' और 'केवल' शब्द द्वारा सूचित किया है। विश्वनाथ कविराज ने उक्तपद्य में प्राधान्येन 'अवहित्या' की अभिव्यक्ति मानी है।

जहां वाच्यार्थ किसी शब्द की सहायता से अर्थान्तर का प्रकाशन करता है, वह अर्थशक्त्युद्भवसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय नही है जैसे—

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥

किसी कामिनी ने समागमयोग्य संकेतकाल को जानने की इच्छावाले अपने प्रिय को, हंसते हुए नेत्रों के इशारे से कमल के फूल को संकुचित करते हुए, अभिप्राय को सूचित कर दिया।

यहा यद्यपि कमल मनोचम्प, सन्ध्या सकेत काल की अभिव्यक्ति हो जाती है, फिर भी आकूल शब्द द्वारा वह अभिहित कर दिया गया है, अत यहा अर्थशक्ति-मूलक सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि न होकर गुणीभूत व्यङ्ग्य ही है। इसी प्रकार शब्द अर्थ या उभयशक्ति के द्वारा प्रतीयमान अर्थ, पुन स्वोक्ति द्वारा प्रकाशित किया जाता है, वह भी सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय नही होता है।

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थं कविना पुन ।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वने ॥२३॥

जिस काव्य मे शब्द अर्थ और उभय शक्ति के द्वारा व्यञ्जनाव्यापार से कोई व्यङ्ग्यार्थ आक्षिप्त होता हुआ भी यदि कवि पुन स्वोक्ति किसी पद या वाचक शब्द द्वारा उक्त प्रतीयमानार्थ को आविष्कृत कर देता है, अर्थात् उस पिहित अर्थ को स्पष्ट कर देता है तो वह सलक्ष्य या असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय न होकर, केवल श्लेषादि अलकार का ही विषय होता है।

(१) शब्दशक्ति द्वारा प्रतीयमान जहा पदान्तर द्वारा अभिहित होता है—

वत्से मा गा विषादम् इत्यादि

इस पद्य मे विषाद आदि शब्दो से ही शिव आदि प्रतीयमानार्थ प्रतीत हो जाते हैं, परन्तु बीच मे छद्म इत्यादि शब्दो से पुन अभिहित हो जाने से गुणीभूतव्यङ्ग्य हो गया है।

(२) अर्थशक्तिद्वारा प्रतीयमान जहाँ पदान्तर से अभिहित किया जाय—

"अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तात ॥

इत्यादि पद्य मे वार्धक्यादि अर्थ द्वारा यद्यपि समागम-सौकर्य अभिव्यक्त है, परन्तु व्याज शब्द से उसे अभिहित कर दिया है।

उभय शक्ति के द्वारा प्रतीयमान जहा पदान्तर मे अभिहित हो जाता है—

"दृष्ट्या केशव, गोपरागहृतया" इत्यादि।

इस पद्य मे गोपराग इत्यादि पदपरिवर्तन के अयोग्य होने से शब्दशक्ति द्वारा अर्थान्तर अभिव्यक्त होता है, और अर्थशक्ति प्रकरणवशात् लक्ष्य अर्थ मे है। कृष्ण के अखिल तरुणी विषयक प्रच्छन्नानुराग जो उभय शक्ति द्वारा प्रतीयमान है 'सलेश' इस शब्द मे अभिहित हो जाने से यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य ही है।

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर सम्भवी स्वत ।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपक ॥

अर्थ शक्तिमूलक सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के प्रभेद

अर्थशक्त्युद्भव सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का व्यञ्जक अर्थ दो प्रकार का होता है। एक कवि या कविनिबद्ध वक्ता की कल्पना से कल्पित, दूसरा स्वत सम्भवी। प्रथम के भी पुन दो भेद हैं—

(१) कविनिबद्धप्रौढोक्ति (२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति और तीसरा (३) स्वतःसम्भवी

इस प्रकार इस ध्वनि के तीन भेद होते हैं।

पुनः यह तीन प्रकार का अर्थ-वस्तु से वस्तु का व वस्तु से अलंकार का, और अलंकार से वस्तु का, और अलंकार से अलंकार का व्यञ्जक होने से एक-एक प्रकार में चार तरह से अभिव्यक्त होता है। फलत. तीनों प्रकारों को मिलाकर यह अर्थ-शक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम ध्वनि बारह प्रकार का होता है, जैसाकि हम पहले गणना कर चुके हैं।

ध्वन्यालोक में इन सभी प्रकार की ध्वनियो के उदाहरण नही दिये है। केवल दो चार उदाहरणों से ही इस प्रकरण को समझाया है। जिज्ञासु पाठक हमारे "काव्य-प्रकाश एक अध्ययन" नामक ग्रंथ से इस प्रकरण को समझ लें। यहाँ थोड़े उदाहरणों द्वारा दिग्दर्शन कराया जाएगा।

(१) कविप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्नस्वरूप—कविप्रौढोक्ति का अर्थ है कि जो वस्तु केवल कवि की दुनियाँ में ही प्रसिद्ध हो, न कि बाह्य जगत् में अर्थात् कवि कल्पना मात्र से जहाँ किसी वस्तु के स्वरूप का निर्माण होता है जैसे—

कविप्रौढोक्ति वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य—

सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।
अभिनवसहकारमुखान्, नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान्॥

वसन्त समय युवति जनों की ओर लक्ष्य कर नवीन पल्लवरूप पंखों से युक्त अत्यन्त सौरभमय नूतन आम्रमञ्जरीरूप काम बाणों को तैयार करता है, परन्तु केवल छोड़ने के लिए कामदेव को नहीं देता है।

यहाँ अचेतन वसन्त शरकार-बाण बनाने वाला है, और काम धनुर्धारी है। इत्यादि वस्तुरूप अर्थ, केवल कवि कल्पनामात्र से निष्पन्न होकर क्रमशः वसन्त ऋतु में काम वासना के विकासरूप वस्तु को अभिव्यक्त करता है।

वसन्त का बाण बनाना पुनः काम के लिए अर्पण करना यह सब कवि की कल्पना या प्रौढोक्ति मे ही सम्भव है न कि बाह्य जगत् में, इसीलिए इस भेद को कवि प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न मानते हैं।

(२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नस्वरूप—जहाँ कवि के द्वारा निबद्ध-वक्ता अपनी कल्पना से किसी वस्तु का निर्माण करता है, उसे कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्ति कहते हैं जैसे—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति वस्तु से वस्तु की अभिव्यक्ति।

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिर किमभिधानमसावकरोत्तप ।
सुमुखि येन तवाधरपाटल, दशति बिम्बफल शुकशावक ॥

कोई नायक किसी नायिका को कहता है कि—हे सुमुखि ! अत्यन्त भाग्यवान् शुकशावक ने किसी पर्वत मे कितने दिनो किस नाम का तीव्र तप किया, जिससे यह तुम्हारे अधर के समान पाटल वर्ण बिम्बफल को बडे चाव से चख रहा है ।

यहाँ कविनिबद्ध नायक—प्रौढोक्तिवश निष्पन्न शुकशावककृत नायिका के अधरवत् पाटल वर्ण बिम्बफल का आस्वादन रूप वाच्य वस्तु से "अतिशय पुण्यशाली व्यक्ति ही तुम्हारे अधर का रसास्वाद कर सकता है" यह व्यङ्ग्यवस्तु अभिव्यक्त हो रही है ।

(३) स्वत सम्भवी—जो वस्तु न केवल कवि की दुनियाँ या काव्यजगत् मे ही प्रसिद्ध हो, अपितु औचित्यपूर्ण होने के कारण बाह्य जगत मे भी सम्भव हो, वह स्वत सम्भवी है ।

स्वत सम्भवी वस्तु से व्यङ्ग्य वस्तु की अभिव्यक्ति—

उदाहरण

एव वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

देवर्षि नारद के इस प्रकार शिवजी के साथ पार्वती के विवाह की चर्चा चलाने पर, पिता के पास बैठी हुई पार्वती अधोमुखी होकर केवल कमल के पत्तों की गणना करने लगी ।

इस पद्य मे स्वत सम्भवी मुखनमनादिरूप वाच्य-वस्तु से पार्वती का लज्जा-रूप भाव अभिव्यक्त हो रहा है ।

अर्थशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अलकारध्वनि का निरूपण—

जहाँ वाच्यरूप अलकार से भिन्न व्यङ्ग्यात्मक—अलकार व्यञ्जना द्वारा किसी अर्थ से अभिव्यक्त होता है उसको अर्थशक्त्युद्भव सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य अलकार ध्वनि कहते है ।

जैसे कविप्रौढोक्तिसिद्ध, कविनिबद्ध, स्वत सम्भवी त्रिविध वस्तुओ से अभि-व्यञ्जित त्रिविध वस्तु ध्वनि होती है, इसी प्रकार त्रिविध अलकारो द्वारा अभि-व्यञ्जित त्रिविध अलकार ध्वनि भी होती है । यही छ प्रकार की ध्वनियाँ पुन परस्पर अभिव्यक्त होकर बारह प्रकार की होती हैं ।

अर्थशक्तेरलकारो यत्राप्यन्य प्रतीयते ।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य स प्रकारोऽपरो ध्वने ॥२५॥

जिस काव्य मे वाच्यभूत अलकार से भिन्न व्यङ्ग्यभूत-अलकार भी अर्थनिष्ठ

व्यञ्जना से प्रतीत होता है, वह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का अर्थशक्त्युद्भव अलंकार ध्वनि नामक दूसरा ही प्रकार होता है।

अर्थशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि की निर्विषयता का सन्देह कर, उसका निवारण करते हैं—

रूपकादिरलंकारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः।
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः ॥२६॥

अन्यत्र वाच्यरूप से प्रसिद्ध जो रूपकादि अलकार वर्ग है, वह सब प्रतीयमान रूप से अधिकतया, आदरणीय उद्भट आदि आचार्यो द्वारा दिखलाया गया है। जैसे संदेह आदि अलकारो मे उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति का प्रकाशित होना दिखाया गया है, इस प्रकार अलकारान्तर का अलकारान्तर मे व्यङ्ग्य होना बहुत यत्नसाध्य नही है।

यद्यपि यह सब अलकारों का प्रपञ्च प्राचीन भट्टोद्भटादि आचार्य प्रदर्शित कर चुके हैं, फिर भी अलंकार की व्यञ्जना के विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें अवश्य है, जिनका वे लोग वर्णन नही कर सके। उन्होने तो केवल अलकार-लक्षणकार की हैसियत से वाच्य अलंकार विशेष के विषयरूप में ही अधिकतर कहा है।

इसके बाद हमें आगे सिर्फ इतना ही कहना है कि—

अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥२७॥

अलंकारान्तर की प्रतीति मे भी जहाँ वाच्य का तत्परत्व नही भासित होता हे, वह मार्ग ध्वनि का नही माना जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सन्देह, रूपक, दीपक आदि अलंकारो मे यद्यपि साम्य उपमा व्यङ्ग्य है, परन्तु वहाँ व्यङ्ग्य उपमा परक चारुत्व की व्यवस्था नही है, अपितु वह व्यङ्ग्य पुनः वाच्य अलंकार का ही उपस्कार करता है। इसीलिए उक्त स्थलो में संदेह, रूपक, दीपक आदि वाच्यालंकारों मे ही व्यपदेश होता है, न कि उपमा से; क्योंकि वहा वाच्य स्वयं तत्पर उपमा परक नहीं होता है, अर्थात् वाच्य उपमा का उपस्कार नहीं करता है। जैसे निम्न पद्य मे—

चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैर्लता।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी ॥

चन्द्र किरणों से रात्रि, कमलो से नलिनी (लता) फूल के गुच्छो से लता, शरत्काल की शोभा हंसों से और काव्यकथा सज्जनों से गौरवान्वित की जाती है।

उक्त पद्य में अप्रस्तुत चन्द्र किरण आदि का और प्रस्तुत सज्जन व्यक्ति का कर्ता रूप से, एवं निशा आदि अप्रस्तुत का तथा काव्यकथा रूप प्रस्तुत का कर्म-रूप से गुरुत्वापादन रूप एक धर्म के साथ सम्बन्ध बोधक दीपकालंकार के वाच्यरूप मे भान होने पर भी चन्द्रकिरणादि का सज्जन के साथ तथा निशा प्रभृति का काव्य

कथा के साथ सम्बन्ध के बिना वाच्यार्थ सङ्गत नही होता है। अत जैसे चन्द्रिका आदि मे निद्रा प्रभृति गौरवान्वित होती है, वैसे ही सज्जन विद्वानो से काव्य कथा गौरवान्वित होती है। इस तरह व्यञ्जना द्वारा उपमानोपमेय भावरूप व्यङ्ग्य के होते हुए भी यह व्यङ्ग्य, उक्त वाच्यार्थ का ही पोषक प्रतीत होता है। इसीलिए उक्त व्यङ्ग्य की प्रधानता न होने से, उक्त स्थल मे ध्वनि का व्यवहार नही होता है।

परन्तु जिस काव्य मे वाच्यार्थ ही व्यङ्ग्य का पोषक होकर अप्रधानरूप से प्रतीत होता है, वहा पर व्यङ्ग्य की प्रधानता होने से ध्वनि का ही व्यवहार होता है।

अर्थशक्तिमूलक व्यतिरेक ध्वनि का उदाहरण

जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादपो गलितपत्र ।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च ॥

कोई अत्यन्त दानशील दरिद्र व्यक्ति दु खी होकर कहता है कि—किसी भी जगल के एक भाग मे शाखा पत्र रहित कुब्ज वृक्ष होकर मैं जन्म लू तो यह अच्छा है, किन्तु इस मृत्युलोक मे (जहाँ कि मागने वालो की कमी नही) अत्यन्त दानशील व निर्धन मनुष्य होकर जन्म न लू।

उक्त पद्य मे दानशील निर्धन व्यक्ति के जन्म की निन्दा और पत्र शाखा रहित कुब्ज पादप के जन्म की प्रशसारूप अर्थ वाच्यरूप मे भासित होता है। "विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्था' की तरह यहा भी उक्त पादप और पुरुष मे सादृश्य ज्ञानपूर्वक तादृश वृक्ष की अपेक्षा तादृश पुरुष के अधम जन्म की ही अधिक शोचनीय दशा व्यञ्जना व्यापार से ध्वनित होती है।

इसीलिए यहाँ अर्थशक्तिमूलक व्यतिरेक ध्वनि है। इस प्रकार अलकार ध्वनि मार्ग का विश्लेषण कर, अब उसकी प्रयोजकता को भी बतलाते हैं—

शरीरीकरण येषा वाच्यत्वे न व्यवस्थितम्।
तेऽलकारा परा छाया यान्ति ध्वन्यङ्गता गता ॥२८॥

वाच्यरूप से जिनका शरीर रूप, अर्थात् कटक कुण्डलादि स्थानापन्न होने से वाच्य दशा मे शरीरत्व होना माना जाता है, वे अलकार ध्वनि के अङ्ग होकर परा शोभा को प्राप्त करते है। इसीलिए अलकार ध्वनि का निरूपण निरर्थक नही है।

ध्वन्यङ्गता दो प्रकार से होती है—व्यञ्जक होने से और व्यङ्ग्य होने से। इनमे से यहाँ प्रकरणवश व्यङ्ग्य होने से ध्वन्यङ्गता समझनी चाहिए। व्यङ्ग्य होने पर भी जब अलकारो के प्राधान्य की विवक्षा होगी, तभी वह ध्वनि का अङ्ग समझा जायेगा या ध्वनि मे उसका अन्त पात होगा, अन्यथा तो गुणीभूतव्यङ्ग्य ही समझा जायेगा।

प्रधानरूप से प्रतीयमान व्यङ्ग्यरूप अलंकारों के भी दो भेद होते हैं—वस्तु से अभिव्यक्त अलंकार और अलंकार से अभिव्यक्त अलंकार। इनमें भी—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलंकृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥२९॥

जब केवल वस्तुमात्र से अलंकार अभिव्यक्त होते हैं, तब वे अलंकार वाच्यरूप वस्तु की अपेक्षा निश्चित ही अधिक चमत्कारजनक होने के कारण ध्वनि पद से व्यवहृत होते हैं। क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त करने के अभिप्राय से ही काव्य रचना में कवियों की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ बोधनद्वारा ही सहृदयों को आह्लादित करने से कवि का उद्देश्य सिद्ध होता है, अन्यथा कविता करना ही व्यर्थ हो जायेगा।

अलंकारान्तरव्यङ्ग्यभावे ध्वन्यङ्गता भवेत् ।
चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ॥३०॥

उन्हीं अलंकारों में अन्य किसी अलंकार के व्यङ्ग्यरूप में होने से भी ध्वन्यङ्गता हो जाती है। यदि चारुत्व के उत्कर्ष के कारण व्यङ्ग्य का प्राधान्य लक्षित होता हो तो। क्योंकि यह बात पहिले ही कह चुके हैं कि "चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा" इति।

इस प्रकार ध्वनिकाव्य का विवेचन कर, अब ध्वन्याभासरूप गुणीभूत व्यङ्ग्य-काव्य का निर्वचन करते हैं—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते ।
वाच्यस्याङ्गतया वाऽपि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥३१॥

जहाँ प्रतीयमान अर्थ (प्रम्लिष्ट) अस्फुट रूप से, अथवा वाच्य के अङ्गरूप से भासित होता है, वह काव्य इस शब्दशक्तिमूलक या अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम-ध्वनि का विषय नहीं है, अपितु वह गुणीभूतव्यङ्ग्य का विषय है।

यह प्रतीयमान अर्थ भी दो प्रकार का होता है, स्फुट और अस्फुट। इनमें जो स्फुट होकर शब्दशक्ति द्वारा अथवा अर्थशक्तिद्वारा प्रकाशित होता है, वही ध्वनि का विषय माना जाता है तदितर नहीं। स्फुट होकर भी जो प्रतीयमान वाच्य के अङ्गरूप में भासित होता है, वह इस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि का विषय नहीं होता है। वह गुणीभूतव्यङ्ग्य ही कहलाता है जैसे—कोई मुग्धा अपनी सखी से कहती है—

कमलाकरा न मलिना हंसा उड्डायिता न च सहसा ।
केनाऽपि ग्रामतटागेऽभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥

अरी सखी ! न तो यह तालाब ही गन्दा हुआ और न सहसा हम ही उड़ा दिये गये, किसी ने गाँव के तालाब में मेघ को उल्टा करके डाल दिया है।

उक्त स्थल में व्यङ्ग्यरूप से प्रतीयमान—"मुग्धावर्तक मेघ का प्रतिबिम्ब दर्शन" है। यह व्यङ्ग्य उक्त वाच्यार्थ का ही पोषक होने के कारण, ध्वनिपद के व्यवहार का विषय न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही विषय है।

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के आभास का विवेचन कर, अब अविवक्षितवाच्य ध्वनि के आभास का भी विचार प्रस्तुत करते हैं—

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः ।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः ॥३२॥

अव्युत्पत्ति या अशक्ति के कारण, स्खलित गति-अर्थात् बाधितार्थ विषयक शब्द का जो प्रयोग है, उसे विद्वानों ने ध्वनि का विषय नहीं माना है। अर्थात्—व्युत्पत्ति की कमी के कारण, जैसे अनुप्रासादि तुकबन्दी के निर्माण में ही अधिक स्नेह होने से या पद्यात्मक वृत्तों के परिपूर्ण करने के सामर्थ्य के न होने से, अथवा बाधितार्थक शब्दों के लक्षणा या गौणीवृत्ति द्वारा प्रयोग किए जाने से, काव्य उक्त अविवक्षित वाच्य ध्वनि का विषय नहीं माना जाता है।

अब ध्वनि के वास्तविक सारभूत स्वरूप का संक्षेप में उपसंहार करते हैं—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।
यद्व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य, तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥३३॥

प्रधानरूप से भासमान व्यङ्ग्यार्थों के सारे ही विवक्षितान्यपरवाच्यादि प्रभेदों में, जिस व्यङ्ग्यार्थ का स्फुटरूप से ही भान होता है, वही वास्तव में ध्वनि का अखण्ड, असाधारण लक्षण है।

द्वितीय उद्योत सम्पूर्ण ।

तृतीय उद्योत

व्यंजकों के भेद से ध्वनि भेदों का विवेचन

विनेय बुद्धि के विकास के लिए प्रकारान्तर से पुनः ध्वनि भेदो का निरूपण करते हुये ग्रन्थकार अतीत व वर्तमान उद्योत की संगति दिखा रहे हैं—

यद्यपि व्यङ्ग्य के प्रकार विवेचन के साथ-साथ अविवक्षितवाच्य ध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का द्वितीय उद्योत में सप्रभेद निरूपण किया जा चुका है, वहां भी अविवक्षितवाच्य आदि ध्वनि स्थल में वाच्य व्यञ्जक है, और इस प्रकार व्यञ्जकमुख से भी भेद कह दिया गया है, तथापि वहां वाच्यार्थ व्यङ्ग्यमुख से ही व्यंग्य के ही आधार पर भिन्न होता है, जैसा कि उक्त दोनों ध्वनियों के नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है। अविवक्षित है वाच्य अर्थ व्यग्य के द्वारा जहां, उसे अविवक्षित-वाच्य ध्वनि कहेंगे और विवक्षित है व्यङ्ग्यार्थप्रवण वाच्य जिसमे उसे विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि कहेंगे।

इस प्रकार यथावस्थित इन भेदों मे व्यञ्जकरूप जो अर्थ है वह व्यङ्ग्यमुख प्रेक्षी होकर ही शरणागत की तरह भेद को प्राप्त करता है। अर्थ व्यञ्जक होता हुआ भी व्यङ्ग्यता के योग्य भी वह होता है, परन्तु शब्द कभी भी व्यग्य नही होता है, अपितु व्यञ्जक ही होता है। इसलिए व्यंग्यमुख से या व्यंग्य के आधार पर ध्वनि प्रकारों के प्रभेदों को कह देने पर भी शुद्ध व्यञ्जक के आधार पर अब हम ध्वनि के प्रकारों के प्रभेदो का विवेचन करेंगे।

ये व्यञ्जक होंगे पद, वाक्य, वर्ण, पदभाग—प्रकृति या प्रत्यय, संघटना, महा-वाक्य इत्यादि। अर्थ की तरह इनमें व्यङ्ग्यता की सम्भावना नही हो सकती है व्यञ्जक मात्र इनका स्वरूप है, अतः इसी क्रम से ध्वनि प्रकारो का प्रकाशन किया जायेगा।

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता।
तदन्यस्यानुरणन-रूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः ॥ १ ॥

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के भेद से जो दो प्रकार का है, वह पद व वाक्य से प्रकाशित होने के कारण पुनः दो प्रकार का होता है, उसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो संलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक भेद है, वह भी पद और वाक्य से प्रकाशित होने के कारण दो प्रकार का होता है।

इस प्रकार उक्त तीनों ध्वनि ६ प्रकार की हुई—अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य प्रभेद में पद की प्रकाशकता—

धृति क्षमा दया शौच कारुण्य वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चानभिद्रोह सप्तैता समिध श्रिय ॥

महाभारत में महर्षि वेदव्यास का कथन है कि—धैर्य, क्षमा, दया, पवित्रता, करुणा, मधुरवचन, और मित्रों के साथ द्रोह न करना, ये सात गुण सम्पदाओं के लिए समिधा है, अर्थात् उद्दीपक-वर्धक हैं।

यहाँ पर "जैसे शुष्क इन्धन अग्नि के उद्दीपक होते हैं, वैसे ही धैर्यादि भी समृद्धि में उद्दीपक हैं," इस प्रकार पर्यवसान औपम्य के बोध में होने पर भी, पहले धैर्यादि गुणों में समिधा के तादात्म्य का बोध होने से समिध शब्द उद्दीपक अर्थ में लाक्षणिक होता हुआ, अनन्य साध्य समृद्धि के प्रति धैर्यादि के विलक्षण साधनत्व का व्यंजक होता है। समिध का इन्धनरूप वाच्यार्थ के सर्वथा त्याग होने से, यहां अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि है।

उसी अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य रूप भेद की पद प्रकाशना—

"रामेण प्रियजीवितेन तु कृत प्रेम्ण प्रिये नोचितम्"

ऋष्यमूक पर्वत में विरह में पीडित रामचन्द्र जी सीता जी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि—हे प्रिये, अपने प्राणों के लोभ से राम ने (मैंने) तुम्हारे प्रणय के उचित कार्य नहीं किया।

उक्त पद्यखण्ड में सीता जी के लिए 'प्रिये' इस सम्बोधन द्वारा ही 'राम' पद आक्षिप्त है, पुन शब्द द्वारा अपने लिए "रामेण" इस पद का प्रयोग बाधित होता हुआ केवल दशरथापत्यमात्र अर्थ को न बतलाकर साहसरसत्व, सत्यसन्धत्व, उचितकारित्वादि धर्मों में परिणत राम अर्थ को प्रकाशित कर रहा है। इसीलिए 'राम' पद यहाँ तत्तत् अर्थान्तरों में परिणत होने के कारण अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि का प्रकाशक है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य प्रभेद की वाक्य-प्रकाशता—

या निशा सर्वभूताना तस्यां जागर्ति सयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥

भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में अर्जुन के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—जो सब भूतों की रात्रि है, उसमें सयमी जागता रहता है और जिसमें सब प्राणी जागते हैं, वह देखते हुए मुनि की रात्रि है। गीता के इस पद्य में उक्त कथन से उपदेश्य-अर्जुन के प्रति कोई उपदेश सिद्ध नहीं होता है, कि रात्रि में जागना चाहिए और अन्यत्र दिन में रात्रि की तरह रहना चाहिए। इस वक्तव्य से तो कुछ भी नहीं

मिला। अतः उक्त कथन अपने स्वार्थ रूप वाक्यार्थ में बाधित होता हुआ, तत्तत् पदों के मुख्यार्थ को सर्वथा त्याग देता है। इस प्रकार बाधित होने पर संयमी का तत्त्वदृष्टि में अवधान और मिथ्यादृष्टि में पराङ्मुखत्व ध्वनित करता है।

"सर्वभूतानाम्" से यहां सभी अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त चतुर्दश भूतों की जो रात्रि है, अर्थात् व्यामोह जननी (तत्त्वदृष्टि) है, उसमें संयमी जागता रहता है, कि कैसे (तत्त्वदृष्टि) पाई जाय, न कि विषयवर्जन मात्र से संयम लाभ है। अथवा सब भूतो की मोहिनी रात्रि मे जागता रहता है कि कैसे इसे त्याग किया जाय? परन्तु जिस मिथ्या दृष्टि मे समस्त भूत जागते हैं, अर्थात् अतिशय रूप से सुप्रबुद्ध रहते हैं, वह उस संयमी के रात्रि अर्थात् अप्रबोध का विषय है, क्योंकि उस (रात्रि) की चेष्टा (स्थिति) मे वह प्रबुद्ध नही है। इस प्रकार यह संयमी लोकोत्तर क्रिया कलाप में व्यवस्थित होकर सब कुछ देखता है। अतः पूर्वोक्त वाक्य से न तो जागरणार्थ ही कोई विवक्षित है और न राज्यर्थ ही कोई विवक्षित है। अपितु मुनि का तत्त्वज्ञान मे अपहित रहना और अतत्त्वज्ञान से पराङ्मुख होना प्रतिपादित किया है, इसलिए यह पूरा वाक्य ही तिरस्कृतवाच्य ध्वनि का व्यञ्जक है।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि प्रभेद की वाक्य प्रकाशकता—

विषमयितः केषामपि केषामप्यतियात्यमृतनिर्माणः।
केषामपि विषामृतमयः, केषामप्यविषामृतमयः कालः॥

अपने पूर्वोपार्जित कर्मफल के दुःख का अनुभव करता हुआ कोई व्यक्ति कह रहा है—

किन्ही पापी व्यक्तियों के लिए तो यह समय विषमय अर्थात् केवल दुःख साधनमय प्रतिकूल ही प्रतीत होता है। तथा किन्ही पुण्यात्माओं के लिए तो अमृतमय सुख-साधनमय अनुकूल यह समय प्रतीत होता है और किन्ही पुण्य-पाप मिश्रित कर्म-वालों के लिए विषमय व अमृतमय प्रतीत होता है। अत्यन्त मूढ़ों व योगियो के लिए न विषमय और न अमृतमय अर्थात् सुख-दुःख शून्य, न प्रतिकूल और न अनुकूल ही यह समय प्रतीत होता है।

उक्त वाक्य में विष और अमृत शब्द दुःखसाधन एवं सुखसाधनरूप वाच्यवत् प्रतीयमान अर्थ का दुःख-सुखरूप व्यङ्ग्यार्थ मे सक्रान्त होकर ही व्यवहार होता है, इसीलिए यह वाक्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का व्यञ्जक है।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यंग्य प्रभेद की पद प्रकाशकता—

प्राप्तं धनैरर्थिजनस्य वाञ्छा दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि।
पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः कूपोऽथवा किन्न जडःकृतोऽहम्॥

अत्यन्त दानशील दरिद्र व्यक्ति देने मे असमर्थ होकर खेद प्रगट कर रहा है—

यदि विधाता ने मेरे जैसे मूढ़ व्यक्ति को अनेक प्रकार के धनो से याचकगण की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए उत्पन्न नही किया, तो अत्यन्त स्वच्छ जल से भरे हुए तालाब या रास्ते का अत्यन्त शीतल कूप ही मुझको क्यो नही बना दिया।' अर्थात् मेरी अपेक्षा तो मार्ग का तालाब या कूप का ही जीवन परोपकारक होने से अधिक अच्छा है।

यहा पर 'जड' पद अत्यन्त खिन्न वक्ता के विशेषणरूप से मूढार्थ का प्रतिपादन कर अभिधा के शान्त हो जाने से, पश्चात् शीतल कूपरूप व्यग्यार्थ को अभिधामूल व्यजना से अभिव्यक्त करता है। अत उक्त शब्दशक्त्युद्भव सलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि की पदप्रकाशता स्पष्ट ही प्रतीत होती है। इसी शब्दशक्त्युद्भव सलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि की वाक्य प्रकाशकता—

"वृत्तोऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्व शेष"

बाणभट्ट द्वारा विरचित हर्षचरित मे सिंहनाद नामक वृद्ध-राजा के सेनापति हर्ष को कहता है—

हे राजन्! आपके पिता प्रभाकरवर्धन एव बडे भाई राज्यवर्धन के मरण-रूप इस महाप्रलय के हो जाने पर, अब राज्यशासन भार को ग्रहण करने के लिए, आप ही बचे हुए मालूम पडते हैं। इस प्राकरणिक वाक्यार्थ बोध के हो जाने पर "इस सृष्टि के प्रलय होने पर पृथिवी को धारण करने के लिए आप शेषनाग ही है" यह व्यग्यार्थ अभिधामूला व्यञ्जना द्वारा प्रकाशित होता है। पश्चात् वाच्यार्थ व व्यग्यार्थ के परस्पर मे समन्वयार्थ उपमानोपमेय भाव भी व्यक्त होता है। अत उक्त अनेक पदो मे प्रकाश्य होने के कारण यह वाक्य प्रकाश्य शब्दशक्ति समुद्भव ध्वनि का विषय है।

कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्त्युद्भव सलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि की पद प्रकाशकता—

चूताङ्कुरावतस क्षणप्रसरमहार्घमनोहरसुरामोदम्।
असमर्पितमपि गृहीत कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्मीमुखम्॥

कवि वसन्त का वर्णन करता है—

आम्रमञ्जरी के अवतस वाले, क्षण (वसन्तोत्सव) के प्रसार से मनोहर सुर (कामदेव) के आमोद (चमत्कार) से भरे (दूसरे पक्ष मे बहुमूल्य सुरा की सुगन्धि से युक्त) वसन्त लक्ष्मी के मुख को कामदेव ने बिना समर्पित किये ही ग्रहण किया।

यहा बिना समर्पित किये ही कामदेव ने वसन्तलक्ष्मी के मुख को ग्रहण किया। इस वाक्यार्थ मे "असमर्पितमपि बिना समर्पित किये ही" यह पद उक्त अवस्था के द्वारा अर्थशक्ति से कामदेव के बलात्कार को प्रकाशित करता है।

कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अर्थशक्तिमूलक वाक्य प्रकाशकता—

"सज्जयति सुरभिमासो" इत्यादि, (यह पद्य पहिले दिया जा चुका है) यहाँ सुरभिमास-वसन्त बाणों को तैयार करता है, परन्तु अभी कामदेव को समर्पण नहीं कर रहा है। इस कविप्रौढ़ोक्ति से निर्मित अनेक पद यह ध्वनित करते हैं कि यह वसन्त काम के अतिशय उद्दीपन का समय है।

कवि निबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि की पद प्रकाशकता—

सत्यं मनोरमा रामा सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥

कविनिबद्ध कोई वैरागी वक्ता कहता है कि—यह बात ठीक है कि रमणियां मनोरम होती है, और यह भी ठीक है कि विभूतियां-ऐश्वर्य भी सभी को अच्छा लगता है, किन्तु मतवाली अङ्गना के कटाक्षभङ्ग की तरह चंचल यह जीवन ही कितना निबद्ध स्थिर है ?

यहां प्रगाढ़ वैराग्यसम्पन्न कविनिबद्ध वक्ता उक्त पद्य के अर्थ से यह ध्वनित कर रहा है कि ये सभी विषय वनितादि व विभूतियां अपने जीवन मात्र के उपयोग की वस्तुयें हैं। जीवनाभाव मे तो इनका भी कोई मूल्य नहीं है। जीवन ही स्वतः चचल होने मे जब अनास्था का स्थान है तो बेचारे विषयों को दोष देने से क्या लाभ ? प्रथम तो अपने ही जीवन को उपालम्भ देना चाहिए। वह भी स्वभावतः चञ्चल है, अतः अपराधी नहीं। इस प्रकार "मत्त ङ्गनापाङ्गलोलम्" इस पद से गाढ वैराग्य प्रकाशित किया है।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि की वाक्यप्रकाशकता—"शिखरिणी क्व नु नाम कियच्चिरम्" इत्यादि (पहले ही दिखलाया जा चुका है)

उक्त पद्य में कविनिबद्ध कोई नायक किसी नायिका के पुण्यातिशय लभ्य अधर की प्रशंसा कर रहा है कि—जब तीव्र तप के बिना तेरे अधरवत् बिम्बफल का भी रसास्वाद दुर्लभ है, तब तेरे अधरपान की तो बात ही क्या, अर्थात् कोई पुण्यशाली व्यक्ति ही तुम्हारे अधरपान का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है, इस बात को अर्थशक्ति द्वारा अनेक पदों ने अभिव्यक्त कर रहा है। पदसमुदाय से अभिव्यक्त होने से इसमें वाक्यप्रकाशकता है।

स्वतःसम्भवी अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि की पदप्रकाशकता—

वाणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा॥

हे व्याध ! तेरे घर मे बेचने के लिए हाथी के दाँत व व्याघ्रचर्म है ? इस तरह किसी वणिक् के पूछे जाने पर वृद्ध व्याध कहता है—हे वणिक् ! हमारे घर मे हाथी के दाँत व व्याघ्रचर्म, तब तक कहा मे हो सकते हैं जब तक कि लटकते हुए घुघराले बालो से अलकृत अत्यन्त सुन्दर मुख वाली पुत्र-वधू सविलास विचरती है ।

इस पद्य मे 'लुलितालकमुखी' यह पद व्याध-वधू के स्वत सम्भवी तादृश शरीर सौन्दर्यरूप अर्थशक्तिमूला व्यञ्जना द्वारा मुख क्रीडासक्ति को सूचित करता हुआ, उसके पति की निरन्तर सभोगासक्तिजनित क्षीणता को प्रकाशित करता है ।

स्वत सम्भवी अर्थशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि की वाक्यप्रकाशकता—

शिखिपिच्छकर्णपूरा भार्या व्याधस्य गर्विणी भ्रमति ।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥

केवल मोर पखो का कर्णाभरण पहनी हुई व्याधवधू बहुमूल्य मोती के आभूषणों से अलकृत सपत्नियो के बीच मे गर्व से इठलाती हुई विचर रही है ।

यहा पर मौक्तिको से अलकृत सपत्नजनो के बीच गर्वीली व्याधवधू का भ्रमणरूप स्वत सम्भवी वस्तु है जो कि सपत्नियो के दिलो मे सम्भोग पराङ्मुख होने से रातदिन मृगया मे व्यग्र होने से हाथी जैसे बड़े-बड़े जानवरो को मारने मे समर्थ था । अत उन स्त्रियो का मौक्तिक आभूषण उनके सभोग सुख से वञ्चित होने की सूचना देते हैं, और इधर व्याधवधू के केवल पिच्छ—मोर के पख मात्र भूषण उसके सतत विलास के अतिशय को सूचित करता है ।

यह स्वत सम्भवी अनेक पदों से अभिव्यक्त होने के कारण यह ध्वनि वाक्य प्रकाशक है ।

ध्वनि की पदप्रकाशकता

सहृदयों के हृदय के लिए आह्लादक पदसन्दर्भ विशेष वाक्य ही काव्य है इसी काव्य विशेष को ध्वनि कहा है । यह ध्वनिकाव्य तो शब्दार्थ को गौण कर अतिशय चमत्काराधायक व्यङ्ग्यार्थ बोधक पदसन्दर्भ विशेष वाक्य मे ही रहेगा । क्योकि वाक्यशक्तिवादी वेदान्ती व प्राभाकरादि मीमासको का भी यही मत है कि अखण्ड वाक्य वाक्यार्थ का बोधक है, पद तो केवल स्मारकमात्र है । तब ध्वनि की पदप्रकाशकता तब हो सकती है जब कि पद ध्वनि का वाचक हो । अत पद मे वाचकता शक्ति न होने से फिर ध्वनि पदप्रकाश्य कैसे हो सकती है ।

आपका कहना ठीक है कि पद स्मारक होते है न कि वाचक । वाचकता के अभाव मे पदो की प्रकाशकता कैसे होगी ? इत्यादि, परन्तु ध्वनिसिद्धान्त मे ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ध्वनि व्यवहार के लिए तो वाच्य वाचकभाव की अपेक्षा न होकर व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव की अपेक्षा होती है और यह व्यङ्ग्य व्यञ्जकभावरूप सम्बन्ध व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा ही हो सकता है । अत अभिधाशक्ति की वाचकता

पद में न भी रहे तो कोई क्षति नहीं है, क्योंकि व्यंजनाशक्ति के द्वारा ही पद के व्यञ्जकता सम्बन्ध विशेष से ध्वनि का बोध हो जायेगा, इसलिए ध्वनि की पद-प्रकाशता सिद्ध हो जाती है।

जैसे मुख-नयनादि अवयवविशिष्ट सम्पूर्ण शरीर से आत्मारूप शरीरी की रमणीयता की प्रतीति होने पर भी, अत्यन्त सुन्दर मुखादि अवयव में ही रमणीयता का प्रयोजकत्व माना जाता है। इसी प्रकार साकांक्षपदसमुदायात्मक वाक्य में व्यङ्ग्य रसादिविशिष्ट काव्य की आह्लादजनकता की प्रतीति होने पर भी अन्वयव्यतिरेक द्वारा तत्तत् पदविशिष्ट के रहने पर ही रमणीयता की प्रतीति होती है और तत्तत् पद विशिष्ट के न रहने पर रमणीयता की प्रतीति नहीं होती है। अतः व्यञ्जकवाक्य घटक पद में भी अनुभव सिद्ध व्यञ्जकत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है। उक्त आशय को निम्नोक्त परिकर श्लोकों से पुष्ट कर रहे हैं :—

अनिष्टस्य श्रुतिर्यद्वदापादयति दुष्टताम्।
श्रुतिदुष्टादिषु व्यक्तं तद्वदिष्टस्मृतिर्गुणम्॥

पदानां स्मारकत्वेऽपि पदमात्रावभासिनः।
तेन ध्वनेः प्रभेदेषु सर्वेष्वेवास्ति रम्यता॥

विच्छित्ति शोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥

अनिष्ट का श्रवण जिस प्रकार श्रुतिदुष्टत्वादि दोषों में दुष्टता ला देता है, उसी प्रकार इष्ट अर्थ का स्मरण भी गुण हो जाता है।

पदों के स्मारक होने पर भी, पदमात्र से प्रतीत होने वाली ध्वनि के सभी प्रभेदों में रम्यता होती है। जिस प्रकार कामिनी विशेष शोभा वाले एक ही आभूषण से सुशोभित होने लगती है, उसी प्रकार सुकवि की वाणी भी पद से द्योतित होने वाली ध्वनि से सुशोभित होती है।

व्यंजक के आधार पर असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का निरूपण—

इस प्रकार व्यंजकरूप में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का निरूपण कर, अब व्यंजकरूप में ही असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का भी निरूपण करते हैं।

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिवर्णपदादिषु।
वाक्ये सङ्घटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते॥ २॥

जो असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यात्मक रसादि ध्वनि है, वह वर्ण, पद, वाक्य, संघटना में और प्रबन्ध में भी प्रकाशित होता है।

तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि जहाँ केवल पद व वाक्य के द्वारा ही प्रकाशित होता था, वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि, नित्यस्फोटात्मक

प्रक्षररूप वर्ण के द्वारा, और वर्णों के समुदाय प्रयोगार्ह सुप् तिङन्तरूप पद के द्वारा और योग्यता, आकाङ्क्षा, आसक्तिरूप पदसमुदाय विशेष वाक्य द्वारा, तथा च पद व वाक्य के रूप में विशिष्ट पदरचनात्मक रीतिस्वरूप संघटना तथा संघटित वाक्य समुदायस्वरूप प्रबन्ध द्वारा भी प्रकाशित होता है।

यद्यपि वर्ण निरर्थक हैं, क्यों कि "अपद न प्रयुञ्जीत" इस वैयाकरण सिद्धान्त के अनुसार जब तक वे पदरूप में संघटित नहीं हो जाते हैं, तब तक उनमें व्यवहार विशिष्ट योग्यता ही नहीं आ सकती है। पद शब्द का तो अर्थ ही यही होता है कि "पद्यते व्यवह्रियते अनेनेति पदम्" असंघटित इन वर्णों में पुनः बोधकत्व या प्रकाशकत्व योग्यता फिर कैसे आ सकती है ?

इसी आशंका को हृदय में रखकर ग्रन्थकार इसका समाधान दे रहे हैं।

शषौ सरेफसंयोगौ ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृंगारे तेन वर्णा रसच्युतः ॥ ३ ॥

त एव तु निवेश्यन्ते, बीभत्सादौ रसे यदा ॥
तदा तं दीपयन्त्येव ते न वर्णा रसच्युतः ॥४॥

प्रायः रेफ व संयोग सहित तालव्य शकार एवं मूर्धन्य षकार और अधिकतर प्रयुक्त ढकार वर्ण भी शृंगार, करुण व शान्त रस के प्रतिबन्धक होते हैं। इसीलिए उक्त वर्ण उक्त रसों को प्रकाशित नहीं करते हैं। परन्तु वे ही रेफ संयुक्त श ष ढ आदि वर्ण जब बीभत्स, रौद्र व वीरादि रसों में प्रयुक्त होते हैं तब उक्त रसों को प्रकाशित ही करते हैं। इसीलिए वर्णों का भी अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा रसों के प्रति व्यञ्जकत्व माना गया है।

महाभाष्यादि सभी ग्रंथों में सभी वर्णों को अनर्थ नहीं बतलाया गया है, अपितु उन वर्णों में केवल अभिधाशक्ति का अभाव ही माना गया है। परन्तु व्यञ्जनाशक्ति का तो उन वर्णों में भी सद्भाव ही है, क्योंकि यदि वर्णव्यक्ति प्रयोज्य रसादि प्रतीति में सहकारिता नहीं होती तो, कठोर वर्णों के सद्भाव में भी शृंगारादि कोमल रसों की निष्प्रतिबन्ध प्रतीति हो जानी चाहिए और बीभत्सादि रसों में कठोर वर्ण प्रयुक्त समुत्कर्ष नहीं होना चाहिए। अतः कोमल वर्णों के साथ शृंगारादि रसों का और कठोर वर्णों के साथ बीभत्सादि रसों का अन्वय तथा तत्तत् वर्णाभाव प्रयुक्त व्यतिरेक विधान होने से यह सुतरां सिद्ध है कि वर्ण भी रस के अभिव्यञ्जक हैं।

यद्यपि "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" इस भरतसूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव, व संचारीभाव की सम्पत्ति ही रसास्वाद में कारण (निबन्धन) है, तथापि श्रुतिविशिष्ट वर्ण या शब्दों द्वारा समर्प्यभाव से विभावादि उक्त प्रकार के रसास्वाद में निबन्धन कारण होते हैं।

अर्थात् विभावादि की प्रतीति भी तो शब्दाधीन ही है। इसमें कुछ शब्द-वर्ण अनुकूल होते हुए रसादिप्रतीति में सहकारी होते हैं और अन्य प्रतिकूल होते हुए रसादिप्रतीति के प्रतिबन्धक होते हैं। इस प्रकार यह सहृदयों के अनुभव से सिद्ध है

कि कुछ वर्ण रसादिप्रतीति में सहकारी है, व अन्य वर्ण उक्त प्रतीति में प्रतिबन्धक हैं। अतः वर्णों का भी श्रवण के अवसर पर अर्थ की अपेक्षा न रखने पर भी, एक मात्र श्रोत्रग्राह्य मृदु अथवा परुषरूप स्वभाव वाले रसास्वाद मे अवश्य सहकारी मानना चाहिए। इसी सहकारिता के अभिधान के लिए वर्णपद आदि में निमित्त-सप्तमी ही है, न कि वर्णों से ही रस की अभिव्यक्ति होती है, वह विभावादि के संयोग से है।

भाव यह है कि विशिष्ट वर्णों द्वारा समर्प्यभाव ये विभावादि चमत्कार की अभिव्यक्ति करते हैं। इस स्थिति में इन वर्णों की भी कम महिमा नहीं है, क्योंकि तत्तत् रसाभिव्यक्ति में व्यञ्जकत्व की हैसियत से तत्तत् वर्णों का महान् सहयोग है।

वर्णों की रस व्यञ्जकता सिद्ध कर सम्प्रति पदों की व्यञ्जकता को उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता,
ते लोचने प्रतिदिश विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा,
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि॥

'लावाणक' ग्राम में अपनी प्रेयसी वासवदत्ता के जल जाने की बात को सुनकर वत्सराज उदयन विलाप कर रहा है—हे प्रिये! भय से काँपती हुई और शरीर से गिरते हुए वस्त्राञ्चल के छोर वाली, तुम किसी भी अवस्था में भुलाने योग्य नहीं हो। निश्चित ही जलते समय उन भय से कातर आँखों को चारों ओर घुमाती होगी कि शायद कोई मुझे बचा ले, परन्तु धुँयें से अन्धे दारुणअग्नि ने तुम्हें जला ही डाला, क्योंकि अग्नि धुँयें के कारण अन्धा था, यदि कहीं अपनी निर्धूम स्वच्छ आँखों से वह तुमको निहार लेता तो शायद तुम्हारे उस सुकुमार सौन्दर्य को देखकर जलाने की हिम्मत न करता।

उक्त पद्य में वासवदत्ता रूप इष्टजन के नाश से उत्पन्न वत्सराज वृत्ति चित्तवृत्ति विशेषात्मक शोक स्थायीभाव वाले करुण रस को "ते" यह पद नायिका वासवदत्ता के नयनवृत्ति अनिर्वचनीय गुणगण सौन्दर्य स्मरण द्वारा करुण परमपुष्ट हो रहा है, अतः उक्त ध्वनि में 'ते' इस पद की प्रकाश्यता समुचित प्रतीत होती है। "ते लोचने" में "ते" इस पद के विषय मे लोचनकार की आलोचना इस प्रकार है—आपका कथन है कि तत् शब्द का प्रयोग दो प्रकार से होता है, एक तो पूर्व प्रक्रान्त के परामर्श के लिए और दूसरा किसी निमित्त से प्राप्त स्मरण विशेष के आकार की सूचना के लिए। जहाँ पहले प्रकार से प्रयोग होता है, वहाँ "यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः" इस नियम के अनुसार यत् शब्द का होना अनिवार्य सा है, न होने पर उसका आक्षेप कर लिया जाता है। किन्तु जहाँ किसी कारणवश प्राप्त स्मरण-विशेष के आकार का "तत्" शब्द सूचक होता है, वहाँ "यत्" शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती है।

प्रस्तुत उदाहरण में "ते लोचने" का तत् शब्द दूसरे प्रकार से प्रयुक्त हुआ है—अर्थात् यहाँ वासवदत्ता के नेत्रों के स्वसंवेद्य एवं अव्यपदेश्य अनन्त गुणों के स्मरण के आकार का सूचक यह 'तत्' शब्द है।

अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि की पदावयव की व्यञ्जकता—

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणाम्,
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत् समुत्सृज्य बाष्पं,
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः॥

कोई प्रवासी अपने मित्र को अपनी प्रेयसी के प्रसंग में कहता है—गुरुजनों के समीप, लज्जा के मारे सिर झुकाकर स्तनकलशों में कम्प उत्पन्न कर देने वाले क्रोध को भीतर ही रोक कर और आँसू टपका कर, उसने चकित हरिणी की तरह मनोहर नेत्रों का त्रिभाग अर्थात् कटाक्ष जो मुझ में लगा दिया, तो क्या उसने "ठहरो" यह नहीं कहा?

यहाँ समस्त पदावयवरूप "त्रिभाग" शब्द अभिलाष, क्रोध, दैन्य, एवं गर्व से मन्थरभाव से वह देखने लगी। इस प्रकार के स्मरण में हेतुभूत पदावयव त्रिभाग शब्द प्रवासविप्रलम्भ को और उद्दीप्त करता हुआ, विप्रलम्भ ध्वनि को प्रकाशित कर रहा है।

वाक्य प्रकाश्य यह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि दो प्रकार का होता है शुद्ध व अलंकारान्तर से संकीर्ण।

प्रथम—शुद्ध का उदाहरण—

कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितैः।
वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तयाऽम्बया।
नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना।
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये! स तव प्रियः॥

यह पद्य यशोवर्मा प्रणीत "रामाभ्युदय" नामक नाटक का है। उक्त पद्य में सीताजी को उद्देश्य कर विरह व्याकुल-अवतार रामचन्द्र जी कहते हैं—

हे प्रिये! जिस मेरे प्रणय के कारण कौशल्या के द्वारा अनेकों बार रोके जाने पर भी कृत्रिमकोप, अश्रुपात, विषादयुक्त रोदनादि उपायों से वन को भी तू चल दी, जिसके प्रणय के कारण तुमने इतनी मुसीबतें उठाईं। वह तुम्हारा प्रिय राम तो अभिनव मेघ मालाओं की घटाओं को देखता हुआ भी तुम्हारे बिना भी कठिन हृदय यह जी ही रहा है। उक्त वाक्य राम व सीता के परस्परानुराग को परिपुष्ट करता हुआ विप्रलम्भ को प्रकाशित कर रहा है।

अलंकार से संकीर्ण का उदाहरण—

स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि-
र्यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः,

तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखः,
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः ॥

काम की नदी रूप प्रवाह में वहे जाते हुए, गुरुजन आदि के सेतु से रोके गए, अपूर्ण मनोरथ प्रिय (प्रेमी और प्रेमिका) यद्यपि दूर-दूर खड़े रहते हैं, तथापि निम्न-लिखित की तरह अङ्गों से उन्मुख होकर नेत्ररूपी मृणाल से लाए गये रस का परस्पर पान करते ही हैं।

उक्त पद्य में काम मे नवीन नदीप्रवाहत्व के आरोप से, एवं श्रेष्ठजनों में सेतुत्व के और नयनों मे नलिनी नालत्व के आरोप से, इस प्रकार रसपोषक इस रूपकालंकार द्वारा परिपुष्ट यह विप्रलम्भ सम्पूर्ण वाक्य से प्रकाशित हो रहा है।

संघटना

इसी उद्योत में द्वितीय कारिका द्वारा यह कह चुके है कि सघटना से भी असंलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य ध्वनि प्रकाशित होती है। यह सघटना आचार्य वामनोक्त विशिष्ट पदरचनात्मिका रीति ही है, जैसा कि हम पहिले भी निर्देश कर चुके हैं। वामन के अनुसार रीति में यह वैशिष्ट्य गुणों द्वारा आता है, जैसा कि उन्होंने लिखा है; "विशेषो-गुणात्मा" विशेष का अर्थ या वैशिष्ट्य को वामन ने गुण माना है। अर्थात् गुणात्मक पद रचना ही रीति है। वामन रीति तीन प्रकार की मानते है—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। ओज प्रसाद आदि समग्र गुणों वाली रचना वैदर्भीरीति है। ओज और कान्ति गुणोवाली रचना गौडीरीति है, माधुर्य व सौकुमार्य से युक्त रचना पाञ्चालीरीति है। आचार्य मम्मट ने शब्दालंकार अनुप्रास के वर्णन के प्रसङ्ग में इनकी चर्चा की है। वे क्रमशः इन्हे उपनागरिका, परुषा व कोमला मानते है—

माधुर्य्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः॥ (का० प्र०)

वामन की इसी रीति को प्रकृति ग्रन्थकार आनन्दवर्धनाचार्य ने 'संघटना' शब्द से कहा है। आपके अनुसार ये संघटनायें क्रमशः असमासा, दीर्घसमासा व मध्य-समासा के भेद से तीन प्रकार की हैं।

वर्ण, पद व वाक्य की तरह ये संघटनाये भी ध्वनि को प्रकाशित करती हैं, इसीलिए गुण व संघटना के सम्बन्ध के विवेक के लिए और संघटना एक रसाभि-व्यक्ति का मुख्य साधन होने से भी इसका विवेचन आवश्यक मानते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता॥ ५॥

असमास, मध्यमसमास, और दीर्घसमास के भेद से ये संघटनायें तीन प्रकार की होती है।

गुण व संघटना का परस्पर संबंध

गुणों का व संघटनाओं का परस्पर क्या सम्बन्ध है, अर्थात् काव्य में गुण व संघटनायें किस अपेक्षा से रहते हैं। इसमें अनेक अधिकारी विद्वानों के विभिन्न मत हैं, जिन्हें ग्रन्थकार प्रस्तुत कर रहे हैं—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान् तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥ ६ ॥

माधुर्य, ओज व प्रसाद गुणों का अवलम्बन कर रहने वाली यह संघटनात्मक रीति, रसादि को अभिव्यक्त करती है। इसका नियमन वक्ता तथा वाच्यार्थ के औचित्य पर निर्भर है, अर्थात् गुणाश्रित रसव्यंजक संघटना की व्यवस्था वक्ता व वाच्यार्थ के औचित्यानुसार होती है।

"गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती" इत्यादि कारिका के अनुसार गुणों व संघटना के सम्बन्ध को लेकर तीन विकल्प किये गये हैं—

(१) प्रथम विकल्प के अनुसार गुण और रीति में अभेद है। यह अभेद पक्ष आचार्य वामन का है। वामन ने गुण व रीति में अभेद माना है। इस अभेद पक्ष के अनुसार "गुणानाश्रित्य" का अर्थ है कि आत्मभूत गुणों का आश्रयण करके रहने वाली संघटना। यद्यपि गुण और संघटना का अभेद है, परन्तु वह अभेद शिंशपा के आश्रित वृक्षत्व की तरह है, अर्थात् स्वाभिन्न वस्तु का भी स्व से भेद परिकल्पित किया गया है।

भेद पक्ष में भी दो विकल्प हैं—संघटना के आश्रित गुण हैं अथवा गुणों के आश्रित संघटना है।

(२) द्वितीय विकल्प—गुण व संघटना में भेद मानने वाले आचार्य भट्टोद्भट आदि हैं। आपके मतानुसार गुण संघटना के धर्म हैं। धर्म हमेशा अपने धर्मी के आश्रित होते हैं, इसलिए गुण संघटना के आश्रित हैं। इनके अनुसार उक्त कारिका की व्याख्या इस प्रकार होगी—

"गुणान् आधेयभूतान् आश्रित्य" अर्थात् आधेयभूत गुणों का आश्रयण करके रहने वाली संघटना, यह अर्थ होगा।

(३) तृतीय विकल्प—इसके अनुसार संघटना गुणों के आश्रित है, अर्थात् संघटना अपने आधारभूत गुणों का आश्रयण करती है। 'गुणानाश्रित्य' इत्यादि यह अन्तिम विचार स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य का है। अतः यही सिद्धान्तपक्ष भी है। संघटना को गुणों के आश्रित मानते हुए, वे उसे रसों का अभिव्यञ्जक मानते हैं। "गुणानाश्रित्य" उक्त कारिका को तीनों विकल्पों में संगत करते हुए आचार्य ने यह सूचित किया कि उक्त सभी पक्षों में संघटना रसाभिव्यक्ति में साधन है। यहाँ सिद्धान्तपक्ष में जो यह कहा गया है कि संघटना गुणों के आश्रित है, इसका अभिप्राय

यह नहीं है कि गुणों के साथ संघटना का कोई आधाराधेयभाव सम्बन्ध है। क्योंकि इस प्रकार के सम्बन्ध से गुणों में संघटना नहीं रहती है, अपितु संघटना गुणों के परतन्त्र होकर रहती है, जैसा कि राजाश्रित प्रजावर्ग जो राजा के परतन्त्र या राजमुखापेक्षी होकर रहता है। लोचन में इसे इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

अत्र नाधाराधेयभाव आश्रयार्थः, नहि गुणेषु सघटना तिष्ठतीति तेन राजाश्रयः प्रकृतिवर्ग इत्यत्र यथा राजाश्रयौचित्येनामात्यादिप्रकृतय इत्ययमर्थः एवं गुणेषु परतन्त्रस्वभावा, तदायत्ता, तन्मुखप्रेक्षिणी संघटनेत्ययमर्थो लभ्यत इति भावः।

तीनों पक्षों के प्रदर्शन का प्रयोजन

यदि गुण व संघटना को अभिन्न मान लिया जाय अथवा संघटना के आश्रय में ही गुणों को मान लिया जाय, तब तो जिस प्रकार संघटना का किसी रस-विशेष में कोई नियत रचना नहीं स्वीकृत की गई, उसी प्रकार गुणों की भी अनियत स्थिति हो जायेगी अर्थात् गुणों का तो अपना नियत विषय है...जैसे माधुर्य व प्रसाद गुण की उत्कृष्टता करुण एवं विप्रलम्भ शृंगार मे होती है, इसी प्रकार ओजो-गुण की वरिष्ठता रौद्र व अद्भुत, वीभत्स, वीरादि मे होती है। इसी प्रकार माधुर्य व प्रसाद गुणरसभाव और रसाभाव व भावाभास मे ही होते हैं, यह एक नियत व्यवस्था है।

परन्तु संघटना के विषय में तो यह नही कहा जा सकता है कि अमुक रस में अमुकप्रकार की ही संघटना रहेगी क्योकि शृंगारादि रसो में भी दीर्घसमासा संघटना का आडम्बर, और रौद्रादि रसो मे भी असमस्त ललित पदावली देखी जाती है—

शृंगार रस में दीर्घसमासा संघटना—जैसे—

"मन्दार कुसुमरेणु पिञ्जरितालका" इति

मन्दार नामक कल्पवृक्ष के पुष्पों के पराग से धूसर (भूरे रग) वर्ण वाले घुंघराले केश पाशों से वह विभूषित थी। इसी प्रकार रौद्रादि रसों में असमस्त रचना देखी जाती है, जैसे वेणीसंहार नामक नाटक में अश्वत्थामा की उक्ति मे—

"यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः" इत्यादि

अश्वत्थामा अपने पिता द्रोणाचार्य के अवैध निधन से क्रुद्ध होकर कह रहा है कि पाण्डवों के बीच में जिस-जिस को अपने भुजबल का गर्व है, उन सभी को मैं अभी यमपुरी भेजता हूं। इस प्रकार व्यंग्यरौद्र में दीर्घसमास के अभाव में यह व्यतिरेक व्यभिचार है। अतः गुण न तो संघटनास्वरूप है और न ही संघटना के आश्रित है। इस प्रकार प्रथम व द्वितीय विकल्प का निराकरण हो जाता है।

अर्थात् रसों के अवलम्बन में गुण रहते हैं, यह बात हम द्वितीय उद्योत में ही कह आये हैं—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ इत्यादि ।

अथवा 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से शब्दाश्रय गुणों को मान लेने पर भी, इनकी अनुप्रासादि तुल्यता नहीं है। तात्पर्य यह है कि गुण मुख्यतः रसवृत्ति है, परन्तु परम्परया वे शब्दार्थ में भी रहते हैं। यह परम्परा सम्बन्ध है स्वाश्रयाभिव्यंजकत्व रूप, क्योंकि स्वशब्द से गुणों का ग्रहण होगा, उनका आश्रय है रस। उस रस के अभिव्यंजक हैं शब्दार्थ, इस प्रकार परम्परया इन्हें शब्दाश्रय मान भी लिया जाय, तो भी संघटित शब्दार्थ विशेष में ही इनकी नियत स्थिति नहीं माननी होगी क्योंकि अभी-अभी कह चुके हैं कि असंघटित वर्ण व पदावयव भी ध्वनि के द्योतक होते हैं।

यद्यपि संघटित पद समुदायरूप वाक्य की रसव्यंजकता स्वीकार करने पर अर्थात् तत्तद्रसनिष्ठ गुणों का आश्रयत्व संघटना को प्राप्त हो जाता है, परन्तु पूर्वोक्त व्यभिचार दोष को देखते हुए, यह कहा जा सकता है कि उक्त रसादि के अभिव्यंजनार्थ किसी नियत संघटना की आवश्यकता नहीं है। अतः नियत शब्द ही गुणों का आश्रय परम्परया है, न कि संघटना गुणों का आश्रय है। इसीलिए अनियत संघटनात्मक शब्दों से माधुर्य ओज आदि गुणों के अभिव्यंग्य होने में कोई क्षति नहीं है।

अर्थात् जैसे चक्षु आदि इन्द्रियों के रूप-रसादि विषय अलग-अलग अपने व्यवस्थित हैं, वैसे ही माधुर्य व्यंजनस्थल में भी शृंगार, करुण आदि रसों के व्यंजक कोमल शब्दों को, एवं ओजगुण व्यंजक स्थल में रौद्रवीर आदि रस के व्यंजक कठोर शब्दों को हेतु मानने से उक्त दोष भी दूर हो जाता है। तस्मात् गुण और हैं और संघटना और हैं अर्थात् दोनों भिन्न हैं और इस भेद पक्ष में भी संघटनाश्रित गुण नहीं है यह एक मत हुआ।

संघटना व गुणों का अभेद पक्ष

जो लोग गुण व संघटना को एकरूप मानते हैं उनके मत में पुनः यह आपत्ति आती है कि संघटना की तरह गुणों में भी पुनः अनियतता आ जायेगी, परन्तु उक्त कतिपय लक्ष्यों को ही बदल देने से भी यह दोष दूर हो सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि कवि की वह रचना ही कुछ अनुचित है और सहृदयों को वहाँ अनौचित्य इसलिए मालूम नहीं पड़ता है कि वे सारे दोष कवि प्रतिभा के द्वारा आच्छादित हो जाते हैं। यह दोष भी दो प्रकार का होता है, एक अव्युत्पत्तिजन्य दोष दूसरा अशक्तिकृत दोष। इसमें अव्युत्पत्तिजन्य दोष तो शक्ति प्रतिभा से तिरोहित हो जाने से स्पष्ट लक्षित नहीं होता है, परन्तु जो अशक्ति जन्य दोष है वह शीघ्र ही मालूम पड़ जाता है।

परिकर श्लोक में कहा भी है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥

परन्तु "यो यः शस्त्रं बिभर्ति" इत्यादि स्थल में तो यद्यपि दीर्घसमासा संघटना नहीं है, पर फिर भी सहृदयों के द्वारा अनुभूयमान दीप्तिजन्य ओज का अपलाप नही किया जा सकता है, तस्मात् लक्ष्यानुसार ही लक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। अतः यह गुण व संघटना का ऐक्य पक्ष समुचित नही है। तस्मात् संघटना का नियामक तत्त्व है वक्ता व वाच्य का औचित्य।

इस प्रकार यह वक्ता कही कवि हो सकता है और कहीं कविनिबद्ध वक्ता, कही रसभावसहित होता है व कही रसभावादिरहित।

यदि कवि या कविनिबद्ध वक्ता रसभावादिरहित हों तब तो रचना में भी कामचार है अर्थात् लेखक की अपनी इच्छानुसार है।

परन्तु जब वक्ता वह कविनिबद्ध हो या स्वयं कवि हो वह रसभावादि समन्वित हो, और रस भी प्राधान्येन अभिव्यक्त शृंगार हो, तो नियमतः असमासा यह मध्यमसमासा रचना होनी चाहिए। इसी प्रकार रौद्रादि रसों में दीर्घसमासा या मध्य-समासा रचना होनी चाहिए। इस प्रकार तत्तत् रसों से अभिव्यक्त माधुर्य व ओज की नियत व्यवस्था दिखलाकर, अब प्रसाद गुण के लिए कहते हैं कि "सर्वासु च संघटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी" अर्थात् सभी रसों में व सभी संघटनाओं में प्रसाद गुण व्याप्त रहता है। इसलिए "यो यः शस्त्रं बिभर्ति" इत्यादि स्थलो में जो लोग ओजोगुण को नहीं मानते या उसका अपलाप करते हैं, उन्हे यहां प्रसाद गुण मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी।

अतः संघटना को चाहे गुणस्वरूप मानो, या गुणों से भिन्न मानो पर इसका नियामक हेतु वक्ता व वाच्य का औचित्य ही है, अर्थात् संघटना वक्ता के वैशिष्ट्य या प्रतिपाद्य वाच्य के वैशिष्ट्य पर निर्भर करती है।

इस प्रकार संघटना के रसाभिव्यक्ति हेतु मान लेने पर उसे फिर गुणवृत्ति मानो चाहे गुणविशिष्ट मानो इसमें कोई क्षति नहीं है। लोक में भी यह गुणवृत्ति संघटना है ऐसा व्यवहार होता ही है।

संघटना के अन्य नियामक तत्त्व—

जैसे वक्ता व वाच्य के वैचित्र्य से तदनुरूप संघटना का स्वरूप होता है, उसी प्रकार विषय के भेद, अर्थात् मुक्तकादि के भेद से भी, विषय वैचित्र्य के होने से उनके औचित्यानुसार भी संघटना व्यवस्थित होती है।

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥७॥

विषय के आश्रय से अर्थात् मुक्तक व प्रबन्धादि के भेदो का औचित्य भी, (जो कि वक्ता व वाच्य के औचित्य से भिन्न इस प्रकार का है) संघटना का नियामक होता है। इस प्रकार काव्य प्रभेदो के आश्रय विशेष से भी यह संघटना अनेक प्रकार की होती है।

तात्पर्य यह है कि काव्य प्रभेदों के प्रकार विशेष से भी उक्त संघटना का स्वरूप भेद हो जाना स्वाभाविक है, ये काव्य भेद इस प्रकार हैं—

स्वतन्त्र रूप से वाक्यार्थ बोध मे समर्थ पद्य विशेष को मुक्तक कहते हैं। यह संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश तीनो भाषाओं मे होता है। जो वाक्यार्थ करीब दो पद्यों मे व्यवस्थित रहता है, उसे सन्दानितक या युग्मक कहते हैं। तीन पद्यो तक वाक्यार्थ के व्यवस्थित होने वाले सन्दर्भ को विशेषक कहते हैं। तीन से अधिक चार पद्यो मे वाक्यार्थ सम्पन्न होने वाले प्रसङ्ग को कालापक कहते हैं। इसी प्रकार पांच पद्यो तक होने वाले वाक्यार्थ को कुलक कहते हैं।

काव्य के किसी एक अंश का अनुकरण करने वाले रचना विशेष को खण्ड-काव्य या पर्यायबन्ध कहते हैं। अनेक वृत्तान्तो के वर्णन करने वाले काव्य विशेष को परिकथा कहते हैं। फलपर्यंत पूर्ण वृत्तान्त के वर्णनपरक कथा को सकलकथा, तथा किञ्चित् वर्णनात्मक कथाभाग को खण्डकथा कहते हैं। सर्गबद्ध प्रसिद्ध नायक के वृत्तान्त से पूर्ण रचना को महाकाव्य कहते हैं।

इसी प्रकार दृश्यकाव्य को नाटक कहते हैं। गद्य प्रचुर आख्यायिका कहलाती है, और गद्यपद्यात्मक काव्य को चम्पूकाव्य कहते हैं। थोडे मे यहां इन सबका दिग्दर्शन मात्र करा दिया है, जिज्ञासुओं को विस्तार से इनका स्वरूप हमारे द्वारा अनूदित "नाट्यदर्पण" से कर लेना चाहिए।

मुक्तक, प्राधान्येन रसभावादि का अभिव्यञ्जक होता है, अत ऐसे विषय मे कवि को चाहिए कि वह सावधानी के साथ रसादि के अनुकूल रचना मे तत्पर रहे। प्रबन्धों की ही तरह, मुक्तको के विषय मे भी कवियो का अभिनिवेश देखा जाता है। संस्कृत साहित्य मे महाकवि अमरुक के मुक्तक तो प्रसिद्ध ही हैं, जिसके एक-एक पद्य लबालब रस के प्याले हैं और रसास्वाद की हैसियत से तो इस कवि का एक ही पद्य पूरे एक प्रबन्ध की तुलना करता है। सन्दानितकादिको मे तो प्रबन्धानुसार मध्यमसमासा, दीर्घसमासा ही संघटना का होना आवश्यक है, खण्ड काव्यात्मक पर्यायबन्ध मे तो असमासा तथा मध्यम समासा ही संघटना अपेक्षित है, क्योंकि खण्डकाव्यो मे प्रधानतया शृंगार रस का ही वर्णन रहता है। अनेक वृत्तान्त वर्णनात्मक परिकथा मे तो कवि स्वेच्छानुसार भी रचना प्रस्तुत कर सकता है। खण्डकथा व सकल कथाओं मे तो असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा ये तीनो प्रकार की संघटनायें रह सकती हैं। सर्गबन्धात्मक महाकाव्य मे तो प्रकरणानुसार ही रचना होनी चाहिए।

अभिनय प्रधान काव्य में तो रसाभिनिवेश कवि का रहता ही है अत वहां रचना असमासा व मध्यम समासा ही होनी चाहिए।

आख्यायिका व कथा तो अधिकतर गद्य मे ही रहती है अत इनके लिए भी वक्ता वाच्य एवं विषयगत औचित्य ही रचना का नियामक है।

एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥ ८ ॥

इन गद्य बन्धों में भी जहां छन्दों के नियम का कोई प्रतिबन्ध नहीं है, वही पूर्वोक्त वक्ता वाच्य व विषयगत औचित्य ही, इनका नियामक है। क्योंकि पद्य की ही तरह गद्य में भी रसगत औचित्य का ही सभी जगह आश्रयण कर रचना अधिक रमणीय होती है।

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता ।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद् विभेदवत् ॥ ९ ॥

रसबन्धगत औचित्य का अनुसरण कर सर्वत्र गद्य व पद्य में भी उक्त रचना को रसानुसार करने से ही चमत्कार का उदय होता है।

गद्यबन्ध में भी जहां विप्रलम्भ शृंगार व करुण रस हो, वहां अतिदीर्घ समासा रचना नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार उक्तविषय का अब ग्रन्थकार उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—

इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी ।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः ॥ इति ॥

उक्त रीति से मैंने जो सहृदयों के आह्लादजनक काव्यार्थ का विचार सर्वप्रथम मनन कर प्रस्तुत किया है, उसको तत्त्वाभिनिवेशी अनुसन्धान कर्ता को कभी नहीं भुलाना चाहिए।

प्रबन्ध की रसादिव्यञ्जकता

यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य, व संघटना, की ही तरह प्रबन्ध से भी प्रकाशित होता है, इस बात को पूर्व कारिका द्वारा कह चुके हैं और संघटना पर्यन्त उक्त ध्वनि की व्यञ्जकता के विषय में विस्तार से उदाहरण पुरस्सर विवेचन कर चुके हैं। अब यह दिखलाने का प्रयास कर रहे हैं कि प्रबन्ध भी उक्त अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का प्रकाशक है। ये प्रबन्ध रामायण व महाभारतादि प्रसिद्ध ही हैं, जहां उक्त ध्वनि या ध्वन्यमान अनिर्वचनीयार्थ सर्व सहृदय हृदयानुमोदित ही है। उक्त रसादि ध्वनि प्रबन्ध से किस प्रकार प्रकाशित होता है, उसी प्रकार को बतलाते हैं—

विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥ १० ॥

इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्यान्तराभीष्ट-रसोचितकथोन्नयः ॥ ११॥

सन्धिसन्ध्यङ्गघटन रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥ १२ ॥
उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिन ॥ १३ ॥
अलङ्कृतीना शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीना व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥ १४ ॥

कथा सन्दर्भात्मक प्रबन्धक छं प्रकार से रसादि का अभिव्यञ्जन करता है—

(१) प्रबन्ध मे रसोचित कथा का उपन्यास करना ।

(२) अनुचित कथाश का परित्याग और उचित अश का ग्रहण करना ।

(३) रसोपयोगी सन्धि व सन्ध्यङ्गो का उचित सन्निवेश ।

(४) उचित अवसर मे रस के उद्दीपन व प्रशमन की योजना ।

(५) प्रबन्ध समाप्ति पर्यन्त प्रधान रस का अनुसन्धान करना ।

(६) रसोपयोगी अलकारो का सकलन ।

अर्थात् प्रबन्ध रसादि का व्यञ्जक तभी हो सकता है, जब कि उचित विभावादि की सुयोजना हो । इसमे विभावौचित्य तो प्रसिद्ध ही है कि आलम्बन व उद्दीपनो का तत्तत् रसानुसार नियत व्यवस्था भाव का औचित्य भी स्थायी के अभिव्यञ्जन मे सहायक होता है । अत भावौचित्य के विषय मे भी सावधान रहना चाहिए ।

भाव का अर्थ है प्रकृति, यह तीन प्रकार की होती है—उत्तम, मध्यम व अधम के भेद से । ये भी पुन दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं, जैसे शकर, विष्णु आदि देवता दिव्य प्रकृति के कहे जाते हैं और मर्त्यलोक के राजा आदि अदिव्य प्रकृति के हैं, अवतारी महापुरुष दिव्यादिव्य भेद मे गिनाये जाते हैं ।

इनमे दिव्य का अदिव्य के समान या अदिव्य का दिव्य के समान अपदान—कर्मवृत्तवर्णन नही होना चाहिए क्योंकि उक्त विपर्यास से अनौचित्य दोष का उद्भव होता है, जो रसभङ्ग का कारण है । कहा भी है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥

रस भङ्ग मे अनौचित्य ही प्रधान कारण है, क्योंकि उससे असत्यता का आभास होने लगता है, परन्तु औचित्य तो उसी प्रकार रस को प्रकाशित करता है, जिस प्रकार उपनिषद् ग्रन्थ ब्रह्मतत्त्व को प्रकाशित करते हैं । इसीलिए अनौचित्य का सर्वथा परित्याग कर औचित्य का अनुसरण करना चाहिए ।

अत: विभावादि औचित्ययुक्त कथाभाग का ग्रहण करना चाहिए, ऐसा औचित्य पूर्ण प्रबन्ध ही रसादि का व्यञ्जक होता है। कहा भी है—

कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेवैतत् प्रतिभासते ॥

स्वकपोलकल्पित कथानक को विभावादि औचित्य से इस प्रकार सजाये कि जिससे समस्त प्रबन्ध रसमय प्रतीत हो।

दूसरी बात यह है कि प्रबन्ध रचना में कवि को सर्वदा रसैकतान होना चाहिए, यदि कहीं रस के प्रतिकूल परिस्थिति देखे तो उसे अन्यथा कर, रसानुकूल परिस्थिति का अनुसरण करे, क्योंकि कवि का कृत्य केवल इतिहासमात्र के वर्णन मे नही है, अपि उपलब्ध वृत्त को सरस दिखलाने में है—

कहा भी है—"न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित् प्रयोजनम्, इतिहासादेरेव तत् सिद्धेः" तीसरी बात यह है कि मुख प्रतिमुख गर्भ अवमर्श और निर्वहण नामक इन पांच सन्धियो का, तथा इनके अङ्गों का संघटन प्रबन्ध में रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा होना चाहिए, न कि शास्त्रीय सिद्धान्त के सरक्षण मात्र के लिए। रस के प्रतिकूल सन्धि व सन्ध्यङ्गों का सघटन कवि की महान् भूल है। चौथी बात यह है, रस का उचित अवसर पर उद्दीपन व उचित अवसर पर प्रशमन होना चाहिए जैसे रत्नावली नाटिका के प्रथम अंक में मदनपूजा के अवसर पर वत्सराज उदयन के विषय में सागरिका द्वारा पूर्वराग के प्रकाशन का क्रम, बाद में वासवदत्ता के आगमन के उचित अवसर पर पुनः उक्त रस का प्रशमन। और प्रबन्ध में प्रारब्ध प्रधान रस का प्रबन्ध समाप्ति पर्यन्त अनुसन्धान भी करना चाहिए पुनश्च—प्रबन्ध के प्रधान रस के उपकारक अलंकारों का निबन्धन करना चाहिए, क्योंकि प्रतिभाशाली कवि अलंकार के निर्माण मे आसक्त होकर कदाचित् रस विषयक अवधान से च्युत हो जाते है इसीलिए समर्थ होने पर भी कवि उन्हीं अलंकारों का उपादान करे जो कि रस के अंग हो। प्रबन्धों में प्रायः ऐसे भी कविवर देखे जाते हैं जो अलंकार विषयक अत्यासक्ति से रस की उपेक्षा कर देते हैं। प्रबन्ध द्वारा न केवल असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि ही प्रकाशित होती है, अपितु कभी-कभी संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि भी प्रबन्ध से प्रकाशित होती है।

अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृत.।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥ १५ ॥

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का जो संलक्ष्यक्रमव्यंग्यात्मक शब्दार्थोभय शक्त्युद्भव तीन प्रकार का ध्वनि का प्रभेद है, वह भी किन्ही प्रबन्धों मे भासित होता है।

जैसे ग्रन्थकार आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा विरचित विसमबाणलीला नामक ग्रन्थ में—

कामदेव के अपने परम मित्र—यौवन, वसन्त, और मलयपवन के समागम के अवसर पर—यौवन ने कामदेव से कहा—

भग्नाम्यपहस्तितरेखो निरङ्कुशोऽथ विवेकरहितोऽपि।
स्वप्नेऽपि तव पुनर्भक्ति न प्रस्मरामि ॥ (छाया)

मैं उच्छृंखल, निरङ्कुश एव अविवेकी भले ही बन जाऊँ किन्तु स्वप्न में भी आपके प्रति अनुराग को नही भुला सकता हूँ।

इस प्रकार यौवन की उक्तियाँ कामानुवर्तन आदि निज-निज स्वभावो को व्यक्त करती हुई, पर्यन्त मे पुन अनुवर्तनादि प्रकृत रस मे परिणत हो जाता है।

इसी प्रकार महाभारत के शान्ति पर्व का गृद्ध-गोमायुसम्वाद भी प्रकृत सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का व्यञ्जक है।

सुप्-तिङादि द्वारा असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि की व्यञ्जकता—

वर्णो से लेकर प्रबन्धपर्यन्त सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि की व्यञ्जकता को दिखलाकर अब पद, पदार्थ, कारक व निपात तथा उपसर्गादि व्यञ्जको द्वारा असलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य की व्यञ्जकता को भी सक्षेप मे प्रस्तुत किया जायेगा।

सुप्-तिङ्-वचन सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभि।
कृत्-तद्धित-समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रम क्वचित ॥ १६ ॥

सुप् तिङ् वचन, सम्बन्ध कारक शक्ति (कर्तृत्वादि कारक) कृत्, तद्धित्, और समास से भी कही-कही असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि प्रकाशित होता है। कही वाच्यार्थ जैसे वस्तुरूप विभावादि की व्यञ्जना द्वारा प्रकाशित करता हुआ परम्परया रसादि को भी अभिव्यक्त करता है, इसी प्रकार सुप् तिङादि भी साक्षात् या परम्परया असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का प्रकाशक होता है।

सुप तिङ् सम्बन्ध तद्धित निपातादि की व्यञ्जकता का उदाहरण—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापस।
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुल जीवत्यहो रावण ।
धिग् धिक्छक्रजित प्रबोधितवता कि कुम्भकर्णेन वा,
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनै किमेभिर्भुजै ॥

राम के द्वारा लका मे राक्षस कुल के सहार किए जाने पर स्वावमानन प्रयुक्त निर्वेद से दु खी होता हुआ रावण अपने को कोसता है—

सर्व प्रथम तो यही बडे अपमान की बात है कि तीनो लोको मे एक मात्र वीर मेरे भी शत्रु दिखाई दे रहे है। इसमे भी लका पुरी मे ही आकर समुदाय को क्षति पहुचाने वाला जोरदार शत्रु न होकर एक तपस्वी है। यह सदा देखते हुए भी रावण जी रहा है यह भी कोई प्रशसनीय बात नही है।

इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को भी धिक्कार है, अर्थात् वह भी इस प्रसग मे कुछ न कर सका। आगे जगाये जाने वाला कुम्भकर्ण ही क्या कर लेगा अर्थात् उससे भी कोई समस्या हल होने की नही।

स्वर्ग को एक छोटा सा गाँव समझकर, उसे लूटने मे ही अपने को कृतकृत्य समझने वाले व्यर्थ फूले हुए इन बीस भुजाओं से ही क्या लाभ।

उक्त श्लोक में पूर्वोक्त सुप्तिङादि करीव-करीव सभी की व्यञ्जकता परि-लक्षित होती है।

जैसे "मे यदरयः" यहां सुप्—इस विभक्ति "अरयः" में वहुवचन "तत्राप्यसौ" यहाँ एवकार में सव मिलकर रावण जैसे त्रिलोकी वीर के पराभव की अशक्यता की सूचना देते हुए, उसके पराक्रमातिशय को ध्वनित करते हैं।

"तत्राप्यसौ तापसः" यहां तापस मे तद्धित अण्प्रत्यय तथा अपि निपात की व्यञ्जकता सुस्पष्ट ही है। तापस शब्द उक्त तद्धित प्रत्यय द्वारा तपोमात्र साधन सम्पन्न युद्धानभिज्ञ होने से दीनता को उपलक्षित करता हुआ महापराक्रमी रावण के प्रकृष्ट शौर्य के अननुरूप होने से उसकी अतिशय विडम्बना उपक्षिप्त होती है।

"निहन्ति व जीवति" में तिङ् की अभिव्यञ्जकता है। 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'हन्' धातु से सम्पूर्ण राक्षस कुल के संहार की प्रतीति होती है। 'अहो' अव्यय द्वारा रावण के धिक्कारपूर्वक निन्द्य जीवन की अभिव्यक्ति होती है। "धिक्-धिक् शक्रजितम्" इत्यादि में कृदन्त, तद्धित व समासादि की अभिव्यञ्जकता है।

यहाँ कृत्, तद्धित, समासादि सभी मिलकर मेघनाद गत शौर्य के विद्यमान रहने पर भी, राम द्वारा पराजय को प्राप्त होने से, उसके निन्दातिशय के सूचक हैं।

सम्पूर्ण श्लोक से कुत्सातिशय सूचनद्वारा रावण के युद्धोत्साह का परिपोषण करते हुए वीर-रस को ध्वनित कर रहे हैं, अथवा स्वावमानन प्रधान निर्वेद के प्राधान्येन तत्तत् पदों से अभियुक्त होने से पर्यन्त में रावणनिष्ठ अमर्ष का ही परिपोषण कर रहे हैं।

यहीं पर 'रावण' इस पद में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि भी है। पद्य का वक्ता ही जव स्वयं रावण है फिर अपने नाम का उच्चारण करना अनुचित सा ही है, अतः रावण यह शब्द स्वार्थ में वाधित होता हुआ "लोकान् रावयति" लोगों को रुलावे इस अर्थान्तर में परिणत हो जायेगा।

जैसे महर्षि वेदव्यास का यह पद्य भी उक्त व्यञ्जकों द्वारा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का प्रकाशक है—

अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना॥

आजकल का समय विलकुल ही सुख के सम्पर्क से भी रहित है, और अत्यन्त भयंकर दारुण दुःखों से भरा हुआ है। पृथिवी भी उत्तरोत्तर अत्याचारादि पातको से भरी हुई है, अत एव नीरसता से यह सव शून्य सा मालूम पड़ता है।

उक्त पद्य में 'क्त' प्रत्यय कृदन्त तथा 'छ' प्रत्यय तद्धित, 'कालाः' इस वहुवचन से सर्वथा हमेशा सुखभाव एवं दुःख वहुल नानाविध अत्याचारादि कुकाण्ड जनित निर्वेद

के व्यञ्जन द्वारा पर्यन्त में शान्त-रस अभिव्यक्त होता है।

"पृथिवीगत यौवना" यहाँ अचेतन पृथिवी में यौवनावस्था के बाध होने से वृद्धा स्त्री की तरह उपभोगाक्षमत्व लक्षित होकर अत्यन्त निःसारतारूप व्यङ्ग्यात्मक अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि भी प्रतीत होती है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी सहृदयों को उक्त व्यञ्जकों की स्वयमेव उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिए।

यद्यपि रसादि अर्थ विशेष से ही आक्षेप्य है, उन्हीं अर्थ विशेष विभावादि का व्यञ्जकता विशेष में प्रदर्शन करना उचित था, परन्तु व्यञ्जक शब्दों के बिना, उक्त अर्थ विशेष का बोध न होने से और उन अर्थ विशेषों का व्यञ्जक—शब्दों के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने से पूर्वोक्त व्यञ्जक शब्दों का भी विभागपूर्वक निर्वचन उचित ही है।

अर्थात् जैसे शृङ्गाराङ्गवाचक स्रक्-चन्दनादि शब्द विशेष में ही शृङ्गारादि के प्रति चमत्काराधायकत्व है, वीभत्सादि के प्रति नहीं है। इसका मूल निदान शब्दनिष्ठ व्यञ्जना ही है। अतएव उक्त शृङ्गारादि के व्यङ्ग्य रहने पर ही इन शब्दों में चारुता प्रतीत होती है, अन्य रसों (वीभत्सादि) में अचारुता ही प्रतीत होती है। अतः चारुत्व की अन्यथानुपपत्ति से भी तत्तत् शब्दों की व्यञ्जकता समुचित ही है।

रसादि के विरोधी व्यञ्जकों का परिहार

प्रबन्ध काव्य या मुक्तक काव्य में, अथवा सरस काव्य के प्रति अत्यन्त रुचि रखने वाले कवि को सर्वप्रथम रसों के विरोधी पदार्थों के परिहार में प्रयत्न करना चाहिए।

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बन्धुमिच्छता।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥१७॥

प्रबन्धकाव्य में या मुक्तककाव्य में रसादि को अभिव्यञ्जित करने की इच्छा वाले मतिमान् कवि को चाहिए कि वह रस विरोधी पदार्थों के परिहार के लिए प्रयत्नशील रहे।

हेय पदार्थों का परिगणन करते हैं—

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥१८॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥१९॥

पाच प्रकार से विरोधी पदार्थ प्रकृत रस के विरोधी होते हैं—(१) विरुद्ध रस (जैसे शृङ्गार का वीभत्स आदि) सम्बन्धी विभावादि वर्णन।

(२) प्रकृत रस से सम्बद्ध भी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन।

(३) अनवसर में ही किसी रस का विच्छेद करना व अनवसर में ही किसी रस का प्रकाशन करना।

(४) परिपुष्ट रस का भी बार-बार उद्दीपन करना।

(५) भरत द्वारा प्रदर्शित वृत्तियाँ कैशिक्यादि, अलकारादि मध्यघटित वृत्तियाँ उपनागरिकादि का अनौचित्य =अविषय मे निबन्धन किया जाना।

इन पाँच रस विरोधियों का और इसी प्रकार से परिकल्पित अन्य भी रसभङ्ग कारक पदार्थो का सत्कवियो को परित्याग करना चाहिए। क्योंकि प्रबन्धो का मुख्य उद्देश्य ही रसानुभूति कराना है। इस विषय मे ये सग्रह श्लोक भी है—

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः॥

सुकवियो के काव्य निर्माण का उद्देश्य ही रसादि-निष्पत्ति है, इसलिए उसके निबन्धन-निष्पादन मे उन्हे हमेशा सावधान रहना चाहिए।

प्रमाद मे दोष दिखलाते हैं—

नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥

नीरस प्रबन्ध, कवि के विशेष निन्दा का सूचक है। उस प्रबन्ध से तो उसकी कवित्वेन ख्याति नही हो सकती है, कवि के रूप मे कोई उसे याद भी नहीं करता है।

नवीन कवि के लिए आदेश—

पूर्वे विशृङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः।
तान् समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा॥

बिना किसी नियम के स्वच्छन्द कविता निर्माण करने वाले प्राचीन कवि लोग यदि किसी प्रकार कीर्ति प्राप्त भी कर चुके हो, तो भी उनकी देखा-देखी करके नवीन कवियो को उक्त नियम नही भुला देना चाहिए।

ये वचन हमारे वाल्मीकि व व्यास के अनुकूल हैं—

वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः॥

क्योंकि वाल्मीकि, व्यास आदि जो प्रख्यात कवीश्वर हुए हैं, उनके अभिप्राय

के विपरीत नीति हमने निर्धारित नही की हैं, अपितु ये सारे नियम उन्ही के अभिप्राय के अनुकूल ही हैं।

विरोधी रसो के समन्वय के उपाय

इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से सामान्यत विरोधियो के परिहार का नियम बतलाकर, अब उक्त विरोधी रसो का भी जहा समन्वय हो सकता है, उस परिस्थिति का वर्णन कर रहे हैं—

विवक्षित प्रधानरस जहाँ अपनी विभावादि सामग्री से परिपुष्ट हो जाता है, तो प्रकृत रस के विरोधी रसो अङ्गो का बाध्यरूप मे या अङ्गरूप मे वर्णन करना कोई अनुचित नही।

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभाव वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥२०॥

विरोधी रसाङ्गो की बाध्यता तो प्रकृत रस के अङ्गो द्वारा अभिभव होने पर ही हो सकती है, अन्यथा नही, या उन रसाङ्गो के अङ्गरूपता अर्थात् उपकारकत्व के होने पर भी विरोध निवृत्त हो जाता है।

महाकाव्य व नाटक मे रसोत्कर्ष की दृष्टि से किसी एक रस को मुख्य बनाना चाहिए—

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धाना नानारसनिबन्धने।
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥२१॥

श्रव्य व दृश्य काव्यात्मक नाना निबन्धो के, अनेक रसो से सकुल होने पर भी उन रसो के उत्कर्ष की अभिलाषा से कवि को चाहिए कि वह किसी एक रस को अवश्य मुख्य बनाये।

क्योकि—

विविध रसो की सत्ता रहने पर भी अन्य रस इसके प्राधान्य के विघातक नही होगे—

रसान्तरसमावेश प्रस्तुतस्य रसस्य य।
नोपहन्त्यङ्गिता सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिन ॥२२॥

प्रबन्ध मे प्राधान्येन प्रस्तुत जो रस है, वह बार-बार अनुसन्धीयमान होता हुआ, स्थायीरूप से प्रतीत होता हुआ, प्रबन्धान्तर्वर्ती रसान्तरो के समावेश से भी विचलित नहीं होता है।

क्योकि यह नियम है—

गुण कृतात्मसस्कार प्रधान प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥

गुण-अङ्ग आंगिकरूप मे अपना परिपोप करता हुआ, प्रधान का उपकारक होता है। इस प्रकार प्रधान के उपकारिता में ही उसकी अपनी अङ्गता या प्रागल्भ्य का तथा प्रधान के प्राधान्य का विघात नही होता है।

अत एव—

प्रबन्ध व नाटक में जैसे एक व्यापक वस्तु का विधान किया जाता है, उसी प्रकार रसों का भी।

कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥२३॥

जिस प्रकार प्रबन्ध व नाटकादि में आद्योपान्त रहने वाला एक प्रधान विषय होता है और अवान्तर अङ्गभूत विषय उसको परिपुष्ट करते हैं, इसी प्रकार रस विधान में भी प्रबन्धव्यापी एक प्रधानरस रहता है, अन्य अवान्तर अङ्गभूत रस उसके परिपोषक होते हैं।

अंगरसों की अङ्गता का सम्पादन

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता ॥२४॥

अङ्गी प्रधान रस के अविरोधी रस हो चाहे विरोधी रस, प्रधान रस की तरह उसके परिपोष न करने से, उसकी अङ्गता मे कोई विरोध नही आता है।

इसका परिहार तीन प्रकार से होता है—

(१) प्रथम तो अङ्गीभूत रस की तरह अङ्ग का वर्णन नही करना चाहिए।

(२) द्वितीय—प्रधान रस के विरोधी होने पर भी उक्तविरोधी रस के अङ्गों-रसोपकारक व्यभिचारीभावों का विनिवेश प्रचुर मात्रा में नहीं करना चाहिए। अथवा व्यभिचारी भावों का निवेश करने पर भी उक्त प्रधानरस के ही व्यभिचारी-रूप में या अङ्गरूप में परिणत कर देना चाहिए।

(३) तृतीय—अङ्गभूत रस की परिपुष्टि होने पर भी उसकी अङ्गता का बार-बार ध्यान रखना, अर्थात् उसे अङ्गरूप में ही रखने का प्रयत्न करना।

इसी प्रकार अन्य भी रस विरोध के परिहार के प्रकारों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

परस्पर विरोधी रसों के विरोध परिहारोपाय

विरोधी व अविरोधी रसों के प्रबन्ध में अङ्गता के विषय में वर्णन कर अब दो विरुद्ध रसों का एकाश्रयरूप या नैरन्तर्यरूप विरोध है, उसके परिहार के उपाय का दिग्दर्शन करा रहे हैं—

विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत् ।
स विभिन्नाश्रय कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥२५॥

प्रधान रस का जो रस एकाश्रयरूप या एकाधिकरण्यरूप से विरोधी हो, उसे विभिन्न आश्रय मे कर देने मे कोई दोष नही होता है। इस प्रकार भिन्नाश्रय मे उस रस की पुष्टि होने पर भी, वह प्रकृत रस का उपकारी ही होता है।

विरोध दो प्रकार का होता है, (१)—एकाधिकरण्य विरोध और (२) नैरन्तर्यप्रयुक्त विरोध।

इनमे प्रथम एकाधिकरण्यविरोध —जिस आश्रय मे वीररस हो, यदि उसी मे विरुद्ध भयानक का वर्णन कर दिया जाय तो यह एकाधिकरण्यविरोध कहा जायेगा। इसके विभिन्न आश्रय कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है जैसे नायक मे यदि वीर-रस है तो प्रतिनायक मे भयानक के वर्णन मे कोई विरोध नही होता है।

द्वितीय नैरन्तर्यप्रयुक्त विरोध का परिहार

यदि किन्ही रसो के नैरन्तर्य-निरन्तर-लगातार सन्निवेश मे विरोध होता हो, जैसे श्रृङ्गार व शान्त रस का नैरन्तर्य विरोध है, इनके मध्य मे व्यवधानभूत अद्भुतादि के निवेश से यह विरोध दूर हो जाता है—

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान् ।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यो सुमेधसा ॥२६॥

एकाश्रय मे जिन रसो के वर्णन मे विरोध न हो, पर निरन्तर वर्णन मे विरोध होता हो, ऐसे उन दोनो रसो के मध्य मे व्यवधान के रूप मे किसी तीसरे रस के निवेश से विरोध दूर हो जाता है। जैसे—नागानन्द नामक नाटक मे शान्त व श्रृङ्गार के मध्य मे अद्भुत रस को व्यवधान के रूप मे निवेश करने से कोई विरोध नही रहा।

शान्त रस के विषय मे विचार

कुछ विद्वान् शान्त रस को पृथक् नही मानते हैं। ये लोग नागानन्दादि नाटको को शान्त रस प्रधान न मानकर वीर रस के भेद विशेष दयावीररस प्रधान नाटक मानते हैं। इसमे ये लोग यही प्रमाण देते हैं कि मुनि भरत ने इसके स्थायी का उपदेश *नही किया है। फिर यदि समस्त चित्तवृत्तियो का प्रशम ही इसका स्थायीभाव मान* भी लिया जाए तो भी यह उचित मालूम नही पडता, क्योकि चित्तवृत्तिमात्र के प्रशम अर्थात् अभाव मे तो भावरूप स्थायी की उपपत्ति ही नही हो सकती है। अत कोई उचित स्थायी के न होने से शान्त रस मानना युक्तियुक्त नही है।

परन्तु यह पक्ष सर्वसम्मत नही है, क्योकि यहा चित्तवृत्ति प्रशम शब्द का अर्थ पर्युदास द्वारा सभी चित्तवृत्तियो का विरोधी चित्तवृत्ति वृत्ति विशेष अर्थ है, जैसे

अधर्मादि पदों का धर्म विरोधी पापविशेष अर्थ होता है, उसी प्रकार यहां भी पर्युदास के आश्रयण से सर्वचित्तवृत्ति प्रशम का अर्थ सर्वचित्तवृत्ति-विरोधी कोई अन्य ही चित्तवृत्ति विशेष अर्थ होगा। जैसा कि प्राचीन विद्वानों का कथन भी है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत: षोडशीं कलाम्॥

अर्थात् भूलोक में जितने भी अभीष्ट पदार्थप्राप्ति जन्य सुख है, और जितने भी अलौकिक महान् दिव्य सुख हैं, ये दोनों प्रकार के सुख, तृष्णाक्षयजन्य जो सुख है, उसकी सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है अतः तृष्णाक्षयजन्य के प्रशम विशेष ही इस रस का स्थायी है। इस प्रसङ्ग मे शान्त रस के अनुयायी भरत के इस पद्य को भी प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते॥

अर्थात् भाव अपना-अपना निमित्त प्राप्त कर शान्त से प्रवृत्त होता है, परन्तु फिर निमित्त के समाप्त होने पर शान्त में ही प्रलीन हो जाते हैं।

इस प्रकार सभी रसो की प्रकृति जब शान्त है, तो प्रधानभूत इस रसराज का अपलाप करना अनुचित ही है। अन्य रस तो उसी से उदय व उसी में लय होने वाली विकृतियाँ है।

सभी लोगों के अनुभव का विषय शान्त नही है, केवल इतने मात्र से उसके अस्तित्व का अपलाप करना कहां तक सङ्गत है। इस प्रकार से तो सर्वजनानुभव गोचरता तो ईश्वर की भी नहीं है। क्या इतने से उसका भी अस्तित्व न माना जाय, फिर अन्य रसों के भी अनुभव की योग्यता सर्वसाधारण में कहाँ है। इस तरह से तो सभी रसों का अभाव प्रसक्त हो जायेगा, कतिपय सहृदय ही तो कुछ रसों का अनुभव करते हैं। अतः महानुभावों के अनुभवसिद्ध चित्तवृत्ति विशेष रूप शांत रस का अपलाप कथमपि नही किया जा सकता है।

वीर-रस के प्रभेद विशेष दयावीरादि में भी उसका अन्तर्भाव नही किया जा सकता है, क्योंकि शांत का स्वरूप अहंकार प्रशमरूप है, जबकि दयावीरादि में अहंकार की सत्ता रहती ही है।

इस प्रकार शान्त रस की सत्ता है, प्रबन्ध में उसके विरोधीरस के मध्य व्यवधानरूप में अन्य रस के समावेश कर देने से कोई विरोध नही रह जाता है। इसी बात को कारिका द्वारा कहते हैं—

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि ।
निवर्तते हि रसयो समावेशे विरोधिता ॥२७॥

एक प्रबन्ध मे दो विरोधी रसो के रहने पर भी दोनो के अविरोधी अन्य रस के व्यवधान कर देने पर दोनो विरोधी रसो के एकत्र समावेश मे विरोधिता दूर हो जाती है।

इस प्रकार—

विरोधमविरोध च सर्वत्रेन्थ निरूपयेत् ।
विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतमो ह्यसौ ॥२८॥

इस प्रकार सभी स्थलो मे प्रबन्ध व मुक्तकादि काव्यो मे, विरोध व अनुरोध का निरूपण करना चाहिए, खासकर शृङ्गारप्रधान काव्य मे इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि शृङ्गार-रस अन्य रसो की अपेक्षा सुकुमारतर होता है।

क्योंकि—

अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कवि ।
भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ॥२९॥

शृङ्गार रस मे कवि का थोडा भी दोष सहृदयो को लक्षित हो जाता है, अत उत्तम कवि को चाहिए कि वह उक्त रस मे अतिशय सावधान रहे।

इसलिए कि उक्त शृङ्गार एक साधन है—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा ।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गाना न दुष्यति ॥३०॥

सुकुमारमति विनेयी-शिष्यो के सर्वप्रथम समावर्जन हेतु शृङ्गार ही एक साधन है। इसी के माध्यम से विनेयो को नीति की शिक्षा दी जाती है[1]। इसीलिए उक्त शृङ्गार रस के अङ्गो के साथ अन्य तत् विपरीत रसाङ्गो के सम्पर्क से भी कोई हानि नही होती है।

विषय का उपसहार करते हुए कहते हैं—

विज्ञायेत्थ रसादीनामविरोधविरोधयो ।
विषय सुकवि काव्य कुर्वन् मुह्यति न क्वचित् ॥३१॥

इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से कही हुई रीति के अनुसार रस, भाव एव तदाभासो के परस्पर विरोध व अविरोध के विषय का विचार कर प्रतिभाशाली कवि काव्य के विषय मे किसी प्रकार के भ्रम को प्राप्त नही करता है।

टिप्पणी—१ सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादि गोष्ठी विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता (ध्वा० लू० उ०)

रसादितात्पर्य से वाच्य तथा वाचक की योजना

रस के विषय में विरोधाविरोध व्यवस्था का प्रदर्शन कर अब उक्त रसादि की अभिव्यञ्जना में वाच्य-अर्थ तथा वाचकशब्द की उपयोगिता का निरूपण करते हैं—

महाकवि का यह एक मुख्य कार्य है कि रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से काव्य में शब्दार्थ की सघटना करे।

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवे: ॥३२॥

कथावस्तुरूप वाच्य और उसके वाचकरूप शब्दो की रसादि विषय के औचित्य की दृष्टि से ही योजना करना महाकवि का मुख्य कर्तव्य है।

काव्य व नाट्य में शब्दार्थ के व्यवहार को वृत्ति कहते हैं। ये दो प्रकार की होती है—अर्थवृत्ति और शब्दवृत्ति। कैशिकी आदि वृत्तियां अर्थवृत्तियां कही जाती हैं, और उपनागरिका आदि शब्दवृत्तियाँ हैं। यही शब्दार्थवृत्तियां यदि रसादि तात्पर्य से काव्य या नाट्य में सन्निविष्ट होती हैं तो काव्य या नाट्य की कोई अनिर्वचनीय शोभा होती है—

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयो:
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधा: स्थिता: ॥३३॥

रसादि के अनुसार जो अर्थों व शब्दों का उचित व्यवहार है, (उसे ही वृत्ति कहते हैं) ये वृत्तियां दो प्रकार की मानी गयी हैं—कैशिकी व उपनागरिका। रसादि-तात्पर्य से इनका निवेश काव्यादि मे इसीलिए किया जाता है, क्योंकि रसादि इन दोनो वृत्तियों के जीवन अर्थात् सारभूत हैं। ये शब्दार्थ की वृत्तियां तो इतिवृत्त स्वरूप होने से नाट्य या काव्य के शरीर ही है, जैसा कि लोचन मे कहा है "इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरं" इति मुनि: "नाट्यञ्च रस एवेत्युक्तं प्राक्"

शब्दार्थ से अनतिरिक्त, शब्दार्थाश्रित ये वृत्तियाँ आत्मभूत-रस के शरीर की तरह है। अत. रसादि व शब्दार्थवृत्तिरूप इतिवृत्त का परस्पर जीव व शरीर जैसा व्यवहार है।

कुछ विद्वानों का आक्षेप—

कुछ लोगो का कहना है कि इतिवृत्त के साथ रसादि का "गुण-गुणी" व्यवहार ठीक है, न कि जीव व शरीर व्यवहार, क्योंकि वाच्यभूत इतिवृत्तरूप गुणी, रसादिरूप गुण से युक्त होने से रसादिमय प्रतीत होता है।

अर्थात् रूपादि गुणों से जैसे गुणी द्रव्य की पृथक् प्रतीति नही होती है, अथवा ज्ञानादि गुण से द्रव्य स्वरूप आत्मा का जैसे पृथक्भान नही होता है, उसी प्रकार

इतिवृत्तादि मे पृथक् रसादि का भी भान नही होता है। अत इतिवृत्तादि का रसादि के साथ जीव व शरीर की तरह व्यवहार न होकर गुण गुणी व्यवहार ही ठीक है।

समाधान—यदि आप वाच्यरूप इतिवृत्तादि को गुण गुणी व्यवहार द्वारा रसादिमय ही मानते हैं, यह तो फिर गुण-गुणीभाव गौरत्वमय शरीर की तरह हुआ, अर्थात् जैसे गौरत्व गुण तथा गुणी शरीर की अलग मे प्रतीति नहीं होती है, वैसे ही रसादिमय इतिवृत्त मे भी आप रसादि की प्रतीति मानना चाहते हैं, परन्तु उक्त दृष्टान्त मे तो शरीर के प्रत्यक्ष होते ही नियत गौर वर्ण की भी प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार प्रकृत रसादिमय इतिवृत्तादि स्थल मे भी, इतिवृत्तरूप शरीर के भासित होते ही तन्नियत रसादि का भान भी सभी को हो जाना चाहिए, परन्तु रसादि का भान तो केवल सहृदय को ही होता है, न कि सभी को। अर्थात चाहे सहृदय या असहृदय हो, दोनो को एक साथ वाच्य तथा रस की प्रतीति नहीं होती है, इस बात को प्रथम उद्योत के "शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते" इत्यादि प्रसग मे बहुत कहा जा चुका है, कि रसादि व्यङ्ग्य तो केवल सहृदयैक वेद्य है, तथा वह वाच्य से सर्वथा पृथक् है। इसको 'भ्रम धार्मिक विश्वस्त" इत्यादि गाथाओ मे विधि-निषेध द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है।

पूर्व पक्ष का पुन आक्षेप—

पूर्वपक्षी का सहृदयैकवेद्यता के प्रसङ्ग मे कहना है कि जिस प्रकार रत्नो की जात्यत्व—उत्कृष्ट जाति को केवल जौहरी ही जान सकता है, इसी प्रकार आपके इतिवृत्तरूप वाच्य के रसादिमयत्वरूप-गुणोत्कर्ष को सहृदय व्यक्ति ही जान सकता है, सर्व साधारण व्यक्ति नही जान सकता है। इस प्रकार भी उक्त इतिवृत्तादि गुणी व रसादि गुण को सामान्य रत्नत्व गुणी व जात्यत्वरूप उत्कर्षगुण मे समानगुण-गुणीभाव मानने मे क्या हानि है ?

समाधान—उत्कृष्ट रत्नजातीयता की समानता रसादि मे नही है, क्योकि उत्कृष्ट रत्नजातीयता, रत्नत्वसामान्यरूप से अतिरिक्त भासित नही होती, अर्थात् यदि रत्न की उत्कृष्टता भासित होगी तो नियत ही वह रत्नस्वरूपमय ही भासित होगी, न कि उससे पृथक्—इस नियम के अनुसार तो रसादि को भी नियमत वाच्य विभावादिरूप मे ही भासित होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नही, सहृदय व्यक्ति विभावादि से कुछ पृथक् ही विलक्षणरूप मे रसादि का आस्वादन करता है।

दूसरी बात यह है कि रत्नो की उत्कृष्टता व उनके स्वरूप सामान्यरत्नत्व की जिस प्रकार साथ-साथ प्रतीति या सहोपलम्भरूप मे प्रतीति होती है, उस प्रकार रस व विभावादि की प्रतीति नही होती है। यहाँ तो नियमत विभावादि की पूर्व प्रतीति होगी तत्पश्चात् रसादि की प्रतीति होगी।

यह भी यहाँ नही कहा जा सकता है कि प्रकरणादि से सहकृत शब्द ही युगपत्-

वाच्य व व्यङ्ग्य की प्रतीति करा देगा, वीच में उसके अर्थ के परामर्श की कोई आवश्यकता नहीं।

यह हम मानते हैं कि प्रकरणादि अवच्छिन्न ही शब्द व्यञ्जक होता है, परन्तु उसकी व्यञ्जकता में भी कभी केवल शब्दरूप कारण होता है, और कभी वाचकता शक्ति कारण होती है।

जहाँ शब्द स्वरूपत. व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं, जैसे संगीत में गीत वाद्यादि, वहाँ भी शब्द के श्रावण प्रत्यक्ष के वाद ही व्यङ्ग्य रसादि की प्रतीति होगी जहाँ वाचकताशक्ति व्यङ्ग्य रसादि में कारण होती है, वहाँ वाच्यवाचक भावमूलक ही शब्द मे व्यञ्जकत्व रहेगा, तदुत्तर काल मे पुनः व्यङ्ग्यार्थ रसादि प्रतीति माननी पड़ेगी। अर्थात् काव्य मे वाच्यार्थ प्रतीति के विना कही भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती है। इसीलिए दोनो के वोध मे पौर्वापर्य क्रम अवश्य मानना ही पड़ेगा न कि सव्येतर विपाण की तरह उक्त दोनों अर्थो का सहभाव।

यह क्रम कही असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनियों में वाच्य प्रतीति के अविलम्ब रसादि की प्रतीति के होने से लक्षित नही होता है। और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनियों में तो क्रमशः ही वाच्यार्थ के वाद वस्तु अलंकारादि के यान्यर्येण प्रतीति होने से क्रम सुलक्षित होना है, ऐसे स्थलों में तो नियत ही पौर्वापर्यक्रम सुलक्षित है। अविवक्षितवाच्य ध्वनि में तो वाच्य व्यङ्ग्यार्थ का पूर्व पश्चाद्भाव यह क्रम और भी स्थूल रूप में आ जाता है, क्योंकि वहाँ वाच्यार्थ वोध व अर्थान्तरकल्पना तत्पश्चात् व्यङ्ग्यार्थ का स्फुरण होता है।

तस्मात् अभिधानाभिधेय प्रतीति की तरह वाच्य के व्यङ्ग्य की प्रतीतियो मे भी निमित्त निमित्तीभाव होने से निश्चित क्रम रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि "**विपयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थ प्रकाश्यते**" इस शाब्दिको के नियमानुसार पद प्रत्यक्षोपस्थिति जैसे वाक्यार्थ ज्ञान में कारण है अर्थात् वाक्यार्थ ज्ञान मे जैसे पदार्थ ज्ञान कारण है और इन प्रतीतियों में जैसे क्रम है इसी प्रकार वाच्य व व्यङ्ग्य की प्रतीति में भी क्रम है। वह कहीं लक्षित है, और कही अलक्षित है।

पूर्वोक्त विवरण का सार प्रस्तुत करते हुए महामाहेश्वराचार्य अभिनव गुप्त ने लोचन टीका में अपने गुरुजी के वचनों को उद्धृत करते हुए लिखा है—

अस्मद्गुरवस्त्वाहुः—अत्रोच्यते इत्यनेनेदमुच्यते—यदि रसादयो वाच्यानां धर्मास्तया सति द्वौ पक्षौ, रूपादिसदृशा वा स्युः माणिक्यगतजात्यत्वसदृशा वा। न तावत् प्रथमः पक्षः,—सर्वान् प्रति तयानवभासात्। नापि द्वितीयः,—जात्यत्वदनतिरिक्तत्वेनाप्रकाशनात्।

इस प्रसङ्ग में हमारे गुरुजी का कहना है कि—यदि रसादि वाच्यों—इति-वृत्तादिकों के धर्म है, तो ऐसी अवस्था में फिर दो पक्ष होंगे।

(१) क्या ये रसादि, रूपादि के सदृश है।

(२) अथवा—माणिक्य में रहने वाले जात्यत्व के (उत्कृष्टता के) सदृश हैं।

प्रथम पक्ष में तो यह सगत नहीं होगी, क्योंकि रूपादि—गौरत्वयुक्त शरीर की तरह रसवादि धर्म वाच्य के प्रतीति के साथ-साथ ही भासित नहीं होते हैं।

द्वितीय पक्ष मे भी सङ्गति नहीं बन सकती है—क्योंकि रत्नों की जात्यत्व—उत्कर्षगुण के सदृश नहीं, अपितु रसादिगुण वाच्य से अतिरिक्तरूप में ही प्रकाशित होते हैं[1]।

व्यञ्जकत्व की सिद्धि

तृतीय उद्योत के प्रारम्भ में व्यञ्जकों के आधार पर ध्वनि प्रभेदों के निरूपण की प्रतिज्ञा की थी सम्प्रति पुन अनुपयुक्त विपक्ष पक्ष के निराकरणार्थ, तथा शिष्य-बुद्धि विकासार्थ, मीमासकादि की ओर से पूर्वपक्ष प्रदर्शनपुरस्सर व्यञ्जकत्व की सिद्धि कर रहे हैं—

कुछ मीमासक प्रभाकरादि का प्रश्न है कि व्यञ्जकत्व नाम की कौन सी वस्तु है ? क्या व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन-बोधन करना ही व्यञ्जकत्व पदार्थ है ? यदि व्यङ्ग्यार्थ प्रकाशक ही व्यञ्जकत्व है तब तो अन्योन्याश्रय दोष से यह दूषित है, क्योंकि व्यञ्जकत्व की सिद्धि व्यङ्ग्य की सिद्धि की अपेक्षा से है और व्यङ्ग्य की सिद्धि व्यञ्जक की सिद्धि के अधीन है, अर्थात् एक की सिद्धि दूसरे पर निर्भर है।

इस प्रकार "अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्पन्ते" इस सिद्धान्त के अनुसार एक को दूसरे की अपेक्षा होने से उक्त अन्योन्याश्रय दोषग्रस्त होने से किसी की भी सिद्धि नहीं हो सकती है।

ध्वनिवादियों का कथन है कि वाच्य से व्यतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि तो हम "प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्" इत्यादि प्रमाणों द्वारा प्रथम उद्योत में ही सिद्ध कर चुके हैं यहाँ पुन उसके विषय में तो कोई बात ही नहीं है। रही व्यञ्जकत्व के विषय की बात, वह तो व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि के द्वारा सुतरां सिद्ध है। इस प्रकार केवल एकतर व्यञ्जकत्वमात्र की सिद्धि के प्रसङ्ग में पूर्वोक्त अन्योन्याश्रयदोष भी निरस्त हो जाता है।

पुन पूर्वपक्षी की आशका—

आप ध्वनिवादी का यह कहना ठीक है कि प्रथम उद्योत में वाच्य से व्यतिरिक्त

---

१ "नहि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्याचिद्वगम"

(आलोक)।

व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि की जा चुकी है, परन्तु उक्त अर्थ को आप व्यङ्ग्यार्थ के ही नाम से क्यों कहते है ? अर्थात् उसे आप वाच्य क्यों नहीं कहते हैं, क्योंकि जिसमें प्राधान्येन वाक्य का तात्पर्य रहता है, उस तात्पर्य विषयीभूत अर्थ को तो वाच्य ही कहना चाहिए। इसलिए कि वाक्य प्रधानरूप से उसी के प्रतिपादन में तत्पर रहता है, और "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस न्याय से पुनः उस तात्पर्य विषयीभूत अर्थ के प्रकाशनपरक वाक्य को तो वाचक ही कहना चाहिए, जिसे कि आप व्यञ्जकत्व की उपाधि से विभूषित कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में उस तात्पर्य विषयीभूत वाच्य के बोधक वाक्य का परस्पर वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध होगा, जो कि अभिधा के नाम से विख्यात है, फिर अतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार के कल्पना की तो कोई आवश्यकता नही होती है। तस्मात् पदार्थ वाक्यार्थ प्रतीति की तरह, तात्पर्य विषयीभूत अर्थ जो कि वाच्य है, इसका बोधक जो वाक्य है वह वाचक है। मध्य में जो पदार्थोपस्थिति है, वह तो एक तरह से अवान्तर व्यापार है, अर्थात् उक्त प्रतीति का केवल उपायमात्र है, जैसा कि सिद्धान्त भी है—

वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् ।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥

वाक्यार्थ के ज्ञान के लिए, जो पदों की प्रवृत्ति है, उसका अपना मुख्य कार्य पदार्थ प्रतिपादन ही है, अर्थात्—पदार्थोपस्थिति, जो कि उपायमात्र है, जिस प्रकार पाककार्य में काष्ठों की ज्वाला उपायमात्र है, उसी प्रकार।

तात्पर्य यह है कि वाक्यार्थ बोध में जैसे अभिधा व्यापार से प्रथम पदो से पदार्थोपस्थिति होती है, वही पश्चाद्भावी वाक्यार्थ बोध भी करा देती है, इसी प्रकार अभिधा के बल से पूर्वोत्पन्न वाक्यार्थ ही पश्चाद्भावी वाच्यार्थ का बोध करा देगा फिर अनपेक्षित या अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति मानने की क्या आवश्यकता।

तत्त्व यह है कि शब्द अभिधा द्वारा पदार्थोपस्थिति कराते हैं और उन पदार्थों से पुनः वाक्यार्थ बोध किया जाता है। वह वाक्यार्थ तो वाच्य ही होता है जैसा कि प्रभाकर आदि मीमांसक मानते हैं। इस प्रकार इस दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापार से ही पदार्थ वाक्यार्थ या तात्पर्य विषयीभूत अर्थ (जिसे आप व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं) की प्रतीति हो जाती है, पुनः अनावश्यक व्यञ्जना व्यापार की चर्चा क्यों कर रहे हैं।

उक्त आशंका का परिहार

ध्वनिवादी पूर्वोक्त मीमांसक के पक्ष के निरसन करने की इच्छा से पूछ रहा है कि आपने जो यह कहा कि शब्द अपने अर्थ का अभिधा से बोध कराता हुआ पदार्थ (दूसरे अर्थ) बोध कराता है। यहाँ विचारणीय यह है कि शब्द जहाँ अपने स्वार्थ का बोध करा रहा है, वह शक्ति=अभिधाशक्ति, और जो पदार्थ का बोध करा रहा हैं वह शक्ति=व्यञ्जना शक्ति, इनमें परस्पर भेद है या अभेद अर्थात् ये दोनों एक ही शक्ति है, या भिन्न हैं ?

विचारपूर्वक देखा जाय तो ये एक नहीं है, क्योंकि स्वार्थ व परार्थ में भिन्न व्यापार है और भिन्न स्वरूप है।

इनमे वाचकत्व लक्षण—अर्थात अभिधा व्यापार तो स्वार्थ विषयक है और गमकत्व लक्षण अर्थात् व्यञ्जना व्यापार परार्थ विषयक है, क्योंकि अर्थभेद से व्यापारभेद होना निश्चित ही है। इस प्रकार स्वार्थ व पदार्थ प्रयुक्त व्यापारभेद जन्मअर्थभेद वाच्य व व्यङ्ग्य का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता है।

इसमे वाच्यार्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी है, क्योंकि "साक्षात् सकेतित योऽर्थ-मभिधत्ते स वाचक" इत्यादि नियमानुसार सकेत लक्षण अर्थ या वाच्यार्थ के साथ शब्द का साक्षात् सम्बन्ध है।

व्यङ्ग्यार्थ में तो शब्द का सर्वप्रथम वाच्य के साथ सम्बन्ध होता है, तब उस वाच्यार्थ का व्यङ्ग्यार्थ के साथ सम्बन्ध होता है। इस प्रकार शब्द का परम्परया व्यङ्ग्यार्थ के साथ सम्बन्ध है। यदि वाच्यवत् शब्द का व्यङ्ग्यार्थ के साथ भी साक्षात् ही सम्बन्ध माना जाय, तब तो अर्थान्तर का अर्थात् वाच्यार्थ से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ का व्यवहार ही नहीं हो सकता है।

अत एव स्वार्थ विषय में वाच्य का व्यवहार और परार्थ विषय में व्यङ्ग्यत्व होने के कारण उक्त दोनो व्यापारो का विषय भेद भी प्रसिद्ध ही है।

और स्वरूपभेद भी स्पष्ट ही है। क्योंकि जो कि अभिधान-अभिधाशक्ति है, वही अवगमन व्यञ्जनाशक्ति नहीं है। यदि वाचकत्व व व्यञ्जकत्व में तादात्म्य माना जाय, तब अवाचक गीतादि शब्द कभी भी व्यञ्जक नहीं होते, परन्तु अवाचक गीतादि शब्द भी रसादिलक्षण अर्थ के प्रकाशक होते हैं और अवाचक मुखनमनादि या नेत्रसकोचादि चेष्टा विशेष भी किसी विलक्षण अर्थ के प्रतिपादक होते हैं।

इसीलिए विभिन्न विषय व भिन्नस्वरूप होने से शब्द का स्वार्थाभिधायित्वरूप जो अभिधा व्यापार है और अर्थान्तरावगम हेतुस्वरूप जो व्यञ्जना व्यापार है, इनका परस्पर भेद स्पष्ट ही है।

इस तरह से अभिधा व व्यञ्जना के अभेद पक्ष का खण्डन हो जाता है।

द्वितीय भेद पक्ष के आश्रयण करने पर भी व्यङ्ग्यार्थ का वाच्य स्वरूप नहीं हो सकता है, अर्थात् अभिधेय सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यङ्ग्यार्थ को वाच्य नाम से व्यवहृत नहीं कर सकते हैं। यदि यह व्यञ्जना व्यापार को अभिधेय सामर्थ्याक्षिप्त होने के कारण परम्परया शब्द व्यापार का विषय तो कह सकते हैं, फिर भी व्यङ्ग्यरूप से ही न कि वाच्यरूप से।

तस्मात् व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति प्रकाशक शब्दान्तर में या उक्त विलक्षण अर्थ के अभिव्यञ्जक शब्द में प्रकाशकत्व अभिव्यञ्जकत्व आदि उक्तियां ही उचित है।

व्यञ्जना तात्पर्या शक्ति के द्वारा भी गतार्थ नहीं

जैसे पदार्थ प्रतीति पूर्वक वाक्यार्थ प्रतीति होती है और वह वाक्यार्थ बोध तात्पर्याशक्ति के द्वारा ही निष्पन्न हो जाता है, वैसे ही वाच्यार्थ प्रतीति पूर्वक

ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने से तात्पर्या शक्ति से भी यहाँ भी व्यङ्ग्यार्थ का बोध निष्पन्न हो जायेगा, अतः उस व्यङ्ग्यार्थ बोध के लिए पुनः व्यञ्जनाशक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

मीमांसा दर्शन में कुमारिल भट्ट आदि तात्पर्यावृत्ति को मानते हैं। इनके मत को अभिहितान्वयवादी कहा गया है। आपका कथन है कि वाक्यार्थ-बोध में सर्वप्रथम अभिधावृत्ति द्वारा पदार्थ अभिहित हो जाते हैं, अर्थात् प्रत्येक पद अपने-अपने अर्थ को उक्त शक्ति के द्वारा अभिहित या उपस्थित कर देते हैं। तत्पश्चात् आकाङ्क्षा, योग्यता सन्निधि के सहयोग से तात्पर्याशक्ति परस्पर पद पदार्थों के अन्वय का बोध करा देती है। इस प्रकार वाक्यार्थ बोध हो जाता है। पदार्थोपस्थिति के पश्चात् परस्पर अन्वयांश के बोध के लिए इन्होंने तात्पर्यावृत्ति को स्वीकार किया है, क्योंकि अभिधा द्वारा तो उपस्थित पदार्थ परस्पर असकीर्ण बिखरे हुए से ही प्रतीत होते हैं। समन्वयाभाव से वाक्यार्थ बोध होना असम्भव सा है। तात्पर्याशक्ति द्वारा पुनः पद-पदार्थों के अन्वयांश बोधपूर्वक वाक्यार्थज्ञान भी हो जाता है, जिसे तात्पर्यार्थ भी कहा जाता है। इन्हीं अन्विताभिधानवादी भाट्ट मीमांसको का कहना है कि जिस प्रकार पदार्थ प्रतीतिपूर्वक अन्वयांश भान, पर्यन्त में वाक्यार्थ प्रतीति ये सभी तात्पर्याशक्ति के द्वारा सम्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार वाच्यार्थ प्रतीतिपूर्वक व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति भी तात्पर्याशक्ति के ही द्वारा हो सकती है, पुनः व्यञ्जना वृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसके उत्तर में ध्वनिवादियों का कहना है कि आपने जो यह पदार्थ प्रतीति पूर्वक वाक्यार्थ को दृष्टान्त बनाकर तात्पर्यावृत्ति से ही व्यङ्ग्यार्थ गतार्थ करने की चेष्टा की है, वह सर्वथा सर्वसम्मत तथा निर्दुष्ट नहीं है, क्योंकि कतिपय विद्वान् ही आपके इस पदार्थ प्रतीति को स्वीकार करते हैं, न कि सभी। वैय्याकरणों ने तो पदार्थ या पद, वर्ण आदि को परमार्थ माना ही नहीं, अखण्ड वाक्यार्थ ही उनका परम सत् है, जैसा कि मध्य में वे पद पदार्थ कल्पना को भी नगण्य मानते हैं—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न विद्यते ॥ (वै० भू०)

इस प्रकार यह पद पदार्थ कल्पना तो वाक्यार्थ बोध में कुछ सुविधा के लिए काल्पनिक प्रक्रिया है, न कि परमार्थ सत्। थोड़े बहुतों के मान लेने पर भी यह सर्व-सम्मत दृष्टांत तो नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्वसम्मत विषय ही दृष्टांत होता है। और जो लोग इस पदार्थ वाक्यार्थ न्याय को मानते भी हैं, तो उन्हें भी इस वाक्यार्थ व पदार्थ में घट व उसके समवायिकारण कपाल का न्याय मानना होगा।

जिस प्रकार घट के निष्पन्न हो जाने पर, उसके उपादान या समवायिकारण कपालों की पुनः पृथक् से प्रतीति नहीं होती है, इसी प्रकार वाक्यार्थ के निष्पन्न हो जाने पर पुनः पद या पदार्थों की पृथक् प्रतीति नहीं होती है। यदि पद पदार्थों की भी पुनः पृथक् उपलब्धि हो जाय तब तो फिर वाक्यार्थ बुद्धि ही सम्भव न हो सकेगी।

परन्तु वाच्य व व्यग्य मे तो ऐसी बात नही है। क्योंकि व्यग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्य प्रतीति दूर नही होती है। वाच्य प्रतीति के अविनाभावरूप मे ही व्यग्यप्रतीति होती है, अर्थात् वाच्य प्रतीति के बिना तो व्यग्यप्रतीति होनी ही नही।

अत वाच्य व व्यग्य मे पदार्थ व वाक्यार्थ की तरह या घट और उसके उपादान की तरह प्रतीति न होकर, घट व प्रदीप की तरह ही प्रतीति होती है। जैसे प्रदीप के द्वारा घट की प्रतीति होने पर भी प्रदीप की प्रतीति नष्ट या पृथक् नही होती है, इसी प्रकार व्यग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थ की प्रतीति दूर नहीं होती है।

प्रथम उद्योत मे जो "पदार्थ वाक्यार्थ" न्याय के द्वारा वाच्य व व्यग्यार्थ मे साम्य दिखलाया है, वह तो यह दिखलाने के लिए कि पदार्थ की तरह वाच्य व्यग्यार्थ का उपायमात्र है, न कि सर्वांग मे दृष्टान्त है।

इस प्रकार घट-प्रदीप के दृष्टान्त के अनुसार व्यग्य व वाच्य अर्थ के सदभाव मे भी अर्थात् एक साथ दो अर्थों के रहने पर भी, किसी प्रकार का वाक्य भेद प्रसक्त नही होगा, क्योकि वहाँ पर इन दोनो अर्थों मे गुण प्रधानभाव हो जाता है। कही व्यग्यार्थ की प्रधानता और वाच्यार्थ गौण रहता है और कही वाच्यार्थ की प्रधानता और व्यग्यार्थ की अप्रधानता रहती है।

व्यग्यार्थ की जहाँ प्रधानता रहती है, वहाँ ध्वनिकाव्य होता है और वाच्यार्थ की जहाँ प्रधानता होती है वहाँ गुणीभूतव्यग्यकाव्य होता है।

तस्मात् काव्य व्यग्यपरक होने से उसका व्यग्यार्थ को बोध्यत्व या तात्पर्यावृत्ति प्रतिपाद्यत्व कथमपि सम्भव नहीं है।

अन्यथा भी व्यग्यार्थ, तात्पर्याशक्ति-बोध्य नहीं

तात्पर्या शक्ति को मानने वाले भाट्ट मीमासको के मत से कवि विवक्षित व्यग्यार्थ वाच्य ही है, क्योंकि उनके सिद्धान्त "यत्पर शब्द स शब्दार्थ" अर्थात्—"यर्थ—बोधनेच्छया उच्चरित शब्द तमेवेच्छाविषयीभूतमर्थं स बोधयति" कवि जिस अर्थ की बोधनेच्छा से शब्द का उच्चारण करता है, वह कविविवक्षित अर्थ ही उस शब्द का अर्थ है। प्रकृत मे रसादि व्यग्यबोध की विवक्षा से जब कवि कोई शब्द विन्यास करता है, तो उक्त उच्चरित या विन्यस्त शब्द रसादि बोध ही तात्पर्य होगा। इसी आशय के अनुसार मीमासक रसादि व्यग्यार्थो को वाच्य-कोटि मे ही मान लेता है।

इसका उत्तर यद्यपि पूर्व प्रसग मे दिया जा चुका है, कि तात्पर्याशक्ति भी पदार्थों के परस्पर अन्वयबोधमात्र मे उपक्षीण हो जाती है, ज्यादे से ज्यादे वाक्यवर्ती वाक्यार्थ तक का बोध करा सकती हैं, परन्तु वाक्यार्थ से जो चीज बहुत दूर है 'भ्रम धार्मिक" इत्यादि स्थानो मे ऐसे विधि निषेधो को तो उक्त तात्पर्याशक्ति स्पर्श तक नही कर सकती है।

पुन अन्यथा भी ध्वनिवादी पूर्वपक्ष का उत्तर दे रहे हैं कि 'तुष्यतु दुर्जनन्याय'

से किसी प्रकार 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' के अनुसार कविविवक्षितव्यंग्यविशेष तक तात्पर्य होने से तात्पर्यपक्षपात को ही स्वीकार करके भी शब्द को उक्त व्यंग्यपरक मान भी लें, तब भी आपका मतलब हल नही होता है, क्योंकि ऐसे स्थान जहाँ प्रधानतया व्यंग्यार्थ की विवक्षा नही है, (ऐसे गुणीभूत व्यंग्य स्थलों मे) वहाँ शब्द के मुख्यरूप से व्यंग्यपरक नहीं होने से, उस गुणीभूतव्यंग्यार्थ को आप वाक्यार्थ नही मान सकते हैं, क्योंकि प्रधानरूप से विवक्षित अर्थ ही शब्द का तात्पर्यविषयीभूत वाच्यार्थ होता है। प्रकृत गुणीभूतव्यंग्यार्थ तो प्रधानतया विवक्षित है नही, अतः तात्पर्यशक्ति द्वारा भी व्यंग्यार्थ का वाच्यत्वेन स्वीकार नही किया जा सकता है।

इसलिए यह अवश्य मानना पड़ेगा कि शब्द का कोई *व्यंग्य अर्थ अवश्य है*। यह बात जब हम गुणीभूतव्यंग्य की दशा में, जहाँ कि व्यंग्य की स्थिति गौणरूप में है स्वीकार कर रहे हैं, तो फिर जहाँ प्रधानतया वह स्थित है, ऐसी स्थिति में उसका अपलाप करना तो सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार विषय भेद स्वरूप भेद और आश्रयभेद से भी वाचकत्व से व्यंजकत्व कहीं भिन्न ही है।

लक्षणा या गुणवृत्ति से भी व्यंजना का भेद

गुणवृत्ति या लक्षणा अमुख्यरूप से लक्ष्यार्थ का बोध कराने वाला शब्द का व्यापार गुणवृत्ति नाम से प्रसिद्ध है। व्यंजना तो मुख्यरूप से ही अर्थविशेष का बोधजनक शब्द व्यापार माना जाता है, क्योंकि रस, अलकार व वस्तु ये तीन ध्वनियाँ हैं। इनमें व्यंग्यार्थ की प्रतीति का वाच्यार्थ प्रतीति से कुछ भी अमुख्यत्व लक्षित नही होता है, परन्तु लक्षणा में तो मुख्यार्थ बाधित होता हुआ ही अर्थान्तरादि का बोध कराता है।

दूसरी बात यह है कि गुणवृत्ति स्थल मे जब वाच्यार्थ लक्षणा द्वारा दूसरे अर्थ को बतलाता है, तब वह लक्षणीय अर्थ में परिणत होकर ही लक्ष्यार्थ बन जाता है, जैसे "गंगायां घोष" इत्यादि प्रयोजनमूलक लक्षण-लक्षणा मे जलरूप वाच्यार्थ लक्ष्यभूत तीर-रूप मे परिणत होता हुआ ही लक्ष्यार्थ का बोध कराता है। परन्तु व्यंजना स्थल मे तो जब वाच्यार्थ व्यंग्यरूप अर्थ को अभिव्यक्त करता है, तब वह "घटप्रदीप" न्याय से अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ ही व्यंग्यार्थ का प्रकाशन करता है। जैसे— "लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती" इत्यादि स्थलों में यहां प्रथम वाच्यार्थ का बोध होता है, बाद मे वह वाच्यार्थ लज्जारूप व्यंग्यार्थ या आकारगोपनरूप अव-हित्थात्मक शृंगार को प्रकाशित करता है।

लक्षणा व व्यंजना का विषय भेद भी स्पष्ट ही है, क्योंकि व्यंजना के विषय रसादि, अलकार विशेष और चमत्कारजनक व्यंग्यविशेष वस्तु ये तीन है। लक्षणा का विषय तो साधारण वस्तु बोधमात्र है। व्यंजना मे पुनः अस्खलितगतिकत्व, समयानुप-योगित्व, व पृथक् अवभासित्व ये तीन धर्म भासित होते हैं। जब कि लक्षणा मे ठीक इसके विपरीत, स्खलितगतित्व अर्थात् मुख्यार्थ बाध का होना, समयोपयोगित्व, अर्थात्

किसी न किसी रूप से सकेतग्रह की उपयोगिता, (चाहे वह अमुख्यरूप से ही हो) और अपृथक् अवभासित्व—अर्थात् वाच्यार्थ व लक्ष्यार्थ का अभेद प्रतीत होना। "गगाया घोष" इत्यादि स्थल मे नीर ही तीर रूप मे परिणत हो जाता है।

इस प्रकार रसादि प्रतीति जो कि व्यजना का विषय है, उसे गुणवृत्ति या लक्षणा का विषय नहीं माना जा सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि विवक्षितान्यपर वाच्यध्वनि भेद मे तो परस्पर आकाश पाताल की तरह लक्षणा व व्यजना मे महान् अन्तर है। उसमे लक्षणा का गन्धमात्र भी नही है। अविवक्षितवाच्यध्वनि लक्षणामूला होते हुए भी, उक्त ध्वनि का वाच्यसक्रमित व तिरस्कृत भेद मे दो प्रकार का होता है। इन दोनो भेदो मे वाच्यार्थ उपादान लक्षणा व लक्षण-लक्षणा का अनुगमन करता हुआ भी पर्यन्त मे व्यजना विशेष से उपस्कृत होता हुआ, सहृदय व्यक्तियो के आह्लाद का जनक होता है। ये सब बाते सामान्यरूप मे प्रथम उद्योत मे दिखलाई भी जा चुकी हैं।

इस प्रकार स्वरूप विषय व निमित्त के भेद से लक्षणा व व्यजना वृत्तियाँ परस्पर भिन्न हैं।

औपाधिक होने से भी व्यजना-व्यापार का अभिधा व्यापार से भेद

इस प्रकार लक्षणा से व्यजना का पार्थक्य सिद्ध कर, अब अभिधा-व्यापार से भी व्यजना का भेद दिखलाने के लिए, व्यजना का औपाधिकत्व सिद्ध कर रहे हैं।

यह तो सर्वविदित ही है कि व्यजकत्वरूप जो शब्द व अर्थ का धर्म जो प्रसिद्ध अभिधात्मक व्यापार अर्थात् वाच्यवाचकरूप प्रसिद्ध सम्बन्ध है, उसका अनुसरण करता है। अर्थात् व्यजकत्व लक्षणा व्यापार या व्यजना-व्यापार जब किसी रसादि व्यग्यार्थ की प्रतीति कराता है, तो सर्वप्रथम पदपदार्थ के ज्ञान के लिए निश्चित ही अभिधारूप प्रसिद्ध व्यापार का अनुसरण करता है। तत्पश्चात् प्रकरणादि वैशिष्ट्यरूप विभिन्न सामग्री के सम्बन्ध के द्वारा औपाधिक (अनियत) रूप से प्रवृत्त होता हुआ रसादि व्यग्य विशिष्ट की प्रतीति कराता है।

उपाधि का अर्थ है, जो अपने समीपवर्ती पदार्थ में अपने धर्म का आधान करे। "उप=स्वसमीपवर्तिनि पदार्थे स्वधर्ममादधातीति उपाधि" जैसे स्वच्छ स्फटिक के समीपस्थित जपाकुसुम स्फटिकमणि मे लालिमा का आधान कर देता है, तब लोग उसे "रक्त स्फटिक" कहते हैं। इस प्रकार स्फटिक की जो लालिमा है, वह जपाकुसुमरूप उपाधिकृत ही है। इसी प्रकार प्रकरणादि विशिष्टसामग्रीरूप उपाधि के सहयोग से शब्द मे भासित होने वाला व्यजनात्मक व्यापार औपाधिक कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अभिधा व्यापार तो स्वभावत स्वच्छ स्फटिक की तरह है, अर्थात् वाच्य-वाचक रूप शब्दार्थ का एक नियत स्वाभाविक सम्बन्ध या व्यापार है और यह सकेतग्रह काल से लेकर शब्दार्थ के साथ रहनेवाला सर्वानुभवसिद्ध प्रसिद्ध व्यापार है, परन्तु व्यजना व्यापार तो आगन्तुक सामग्री प्रकरणादि वैशिष्ट्य के समवधानजन्य होने से शब्द का नियत धर्म न होकर अनियत है।

क्योंकि प्रकरणादि वैशिष्ट्य की मर्यादा से ही व्यजना का भान होता है, इसीलिए यह शब्द का नियत या नैसर्गिक धर्म न होकर कादाचित्क, अनियत या औपाधिक है।

उक्त अनियतता की वजह से उसके अपने अप्रामाणिकता या असत्ता का भ्रम नही करना चाहिए क्योंकि उसके अर्थात् व्यंजना व्यापार के शब्द मे अनियत होने पर भी व्यंग्यार्थ प्रकाशनरूप अपने विषय में अनियतता नही है अर्थात् व्यंग्यार्थ को तो वह नियतरूप से ही प्रकाशित करता है।

लिंगत्वन्याय से अभिधा व व्यंजना में भेद

औपाधिकसम्बन्धस्वरूप व्यंजना-व्यापार-लिंगत्व-न्याय से भी अभिधा से भिन्न है। व्यंजना मे लिंगत्व-न्याय भी लक्षित होता है। अर्थात् "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इत्यादि स्थल में जैसे—धूमवृत्ति हेतुता (लिंगत्व) अपने आश्रयभूत धूमादि में अनुमित्सारूप इच्छाधीन होने के कारण नियतरूप नही होती है, अर्थात् पर्वत पक्ष में धूमत्वरूप लिंग के द्वारा जब वह्नि विशेष की सिसाधयिषा=सिद्ध करने की इच्छा हो तभी धूमत्वरूप लिंग की नियतता है, अनुमित्सा न होने से उक्त धूमत्वरूप लिंग भी नियत नही होता। अतः इच्छाधीन होने के कारण धूमादि-लिंग नियत नही हैं। इसी प्रकार शब्द में व्यंजना व्यापार का व्यवहार भी प्रयोक्ता कवि या वक्ता की इच्छा पर निर्भर है। यही व्यंजना में लिंगत्वन्याय साम्यता है। इसीलिए वाचक शब्द में नियतरूप से नही रहने के कारण व्यंजना को अभिधाविशेष नही कह सकते, क्योंकि अभिधा नियतरूप से वाचक-शब्द में प्रतीत होती है और व्यंजना नियतरूप प्रतीत नही होती।

उक्त औपाधिक भेद मीमांसक को भी मानना ही पड़ेगा। स्वाभाविक अभिधा से औपाधिक व्यंजना के सर्वसम्मत भेद को मीमांसकों को भी मानना उचित है। क्योंकि उक्त औपाधिक भेद माने बिना वाक्यतत्त्ववेत्ता मीमांसको का भी वैदिक व लौकिक वाक्यों में पौरुषेयापौरुषेय भेद या वैलक्षण्यलक्षित नही होगा।

मीमांसक लोग शब्द व अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानते हैं जैसा कि जैमिनि ने मीमांसासूत्र में कहा है—"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" रुढि के द्वारा यहाँ औत्पत्तिक शब्द नित्य पर्यायवाची है। शब्दार्थ सम्बन्ध के नित्य होने से शब्द भी नित्य है, इसलिए लौकिक एवं वैदिक शब्दों में अभिधाशक्ति के समान होने से केवल अभिधा-शक्ति के द्वारा या उसके आधार पर पौरुषेय वाक्यों से अपौरुषेय वाक्यों में कोई विशेषता नही लक्षित होगी। यह सब तो तात्पर्य के ही आधार पर उन दोनों वाक्यो का भेद सम्भव हो सकता है, क्योंकि लौकिक पौरुषेय वाक्यों में वक्ता के भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सादि दोष युक्त होने से, उसके तात्पर्य विषयीभूत अर्थ में भी मिथ्यात्व के सम्भव से अप्रामाणिकता भी हो सकती है। किन्तु वैदिक वाक्य किसी पुरुष से निर्मित नही है, अतएव उनके मिथ्यार्थक न होने से अप्रामाणिकता का सन्देह नहीं है, इसीलिए उन्हें स्वतःप्रमाण और लौकिक वाक्यों को परतः प्रमाण माना जाता है।

इस प्रकार पौरुषेय वाक्यो का तात्पर्यार्थ ही अपौरुषेय—वैदिक वाक्यो मे पृथक् कराता है और यह तात्पर्यार्थ अभिधा से जाना नहीं जा सकता है। क्योंकि वह संकेतित नहीं है, जब कि अभिधा केवल संकेतित अर्थ का ही बोध कराती है और मुख्यार्थ बाधादि के अभाव मे वह तात्पर्यार्थ लक्षणा शक्ति बोध्य भी नही है। अत केवल व्यंजना शक्ति द्वारा ही यह तात्पर्यार्थ जाना जा सकता है, इसलिए बाध्य होकर भी मीमांसक को व्यञ्जना वृत्ति माननी ही चाहिए।

व्यञ्जना वृत्ति की अस्वीकृति मे तो मीमांसक को भी शब्दार्थ सम्बन्ध के नित्य होने से, उभयत्र अभिधा के समान-रूप से अर्थ बोधन करने से पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्यो मे परस्पर विलक्षणता प्रतीत नहीं होगी और व्यंजना वृत्ति मान लेने पर तो यह समस्या भी सुलझ जाती है, क्योंकि पौरुषेय वाक्यो मे वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध या अभिधा व्यापार के रहने पर भी, पुरुष की इच्छारूप तात्पर्य का अनुसरण करने वाले औपाधिक-व्यंजना व्यापार से युक्त वाक्यो की निरर्थकता, या मिथ्यार्थता भी हो सकने के कारण पौरुषेय वाक्यो से अपौरुषेय वाक्यो का वैलक्षण्य सरलतया जाना जा सकता है।

यह लोक मे देखा भी जाता है कि अपने नैसर्गिक स्वभाव को न छोड़ने वाले पदार्थों मे भी अन्य आगन्तुक सामग्री के प्राप्त हो जाने से विरुद्ध क्रियाकारिता, जैसे सारे संसार को शीतलता प्रदान करने वाले, अपने स्वाभाविक शीतल स्वभाव वाले चन्द्र का भी, प्रिया विरहाग्नि सन्तप्त चित्त वाले पुरुष के लिए सन्तापकारित्व प्रसिद्ध ही है।

अत पौरुषेय वाक्यो का अर्थ के साथ नित्य स्वाभाविक सम्बन्ध होने पर भी, उसकी मिथ्यार्थता समर्थन करने की इच्छा वाले मीमांसक को भी, वाक्यो मे अभिधा-रूप वाचकता के अतिरिक्त कुछ औपाधिक रूप (अनियत धर्म) अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

यह शब्दार्थ का धर्म सिवाय व्यंजकत्व के और कोई नही हो सकता है और यह व्यंजकत्व व्यंग्यार्थ का प्रकाशन करने वाली व्यंजना ही है। इसमे भी केवल व्यंजकत्वमात्र से भी ध्वनि का व्यवहार नहीं होता है। अपितु प्रधान रूप से विवक्षित-व्यंग्यार्थ व्यंजकत्व से ही ध्वनि का व्यवहार होता है। वही विवक्षित-व्यंग्यार्थ कहा जाता है, जो शब्दार्थ उभयरूप से व्यंजनावृत्ति द्वारा प्रकाशित किया जाता है।

व्यंजनावृत्ति मे वैय्याकरणो की स्वीकृति

इस प्रकार वाक्यतत्त्ववेत्ताओ मीमांसको के समर्थन का सार दिखलाकर अब पदविद्याविशारद वैय्याकरणो को भी उक्त व्यंजनावृत्ति के विषय मे सम्प्रतिपत्ति दिखलाते हैं—

अपभ्रंशादिविषयक अविद्यासंस्काररहित शब्दब्रह्म के तत्त्व को जानने वाले वैय्याकरण विद्वानो के मत का आश्रयण करके ही हमारे शास्त्र मे ध्वनि व्यवहार

प्रचलित हुआ है जैसा कि प्रथम उद्योत में कहा है—"प्रथमे हि विद्वांसो वैय्याकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्" । अतः उनके साथ व्यजना के बारे में विरोधाविरोध विषयक चिन्ता करना ही व्यर्थ है । अर्थात् वे भी स्फोट प्रकाशनार्थ ध्वनिरूप व्यजना को मानते ही है, इसलिए उनके साथ कोई विप्रतिपत्ति न होकर, सम्प्रतिपत्ति ही है ।

वैय्याकरणों के मत मे शब्द ही ब्रह्म है, जोकि प्रकाश व परामर्श स्वभाव वाला है, । यह प्रकाश परामर्शस्वभावात्मक शब्द, व्यापक होने के कारण या वृहत् विशेष शक्तियुक्त होने के कारण, अथवा वृहित=विश्व का निर्माण करने वाली शक्ति का ईश्वर होने के कारण ब्रह्म है । यह निरपभ्र श—अर्थात् भेद प्रपच से रहित होने से अविद्यादि संस्कारों से रहित हैं। वैय्याकरण लोग ऐसे ब्रह्मपद से चाहे कुछ कहें अर्थात् इस प्रकार के भेदरहित अनिर्वचनीय केवल की स्थिति मे तो वाचकत्व व व्यंजकत्व की कोई चर्चा ही नही की जा सकती है । परन्तु उन्होने भी अविद्यादशा में व्यापारान्तर को स्वीकार किया ही है ।

नैय्यायिकों को भी व्यंजनावृत्ति अनिवार्य

जो नैय्यायिक युक्तिवेत्ता (तार्किक) शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को कृत्रिम[1] अर्थात् अनित्य मानते हैं, उन्हें भी दीपकादि अन्य लौकिक पदार्थों के व्यजकत्व के समान शब्दार्थों के व्यंजकत्व[2] मानने में कोई विरोध नही मानना चाहिए । क्योंकि शब्दार्थों का यह व्यंजकत्व अनुभव सिद्ध व बाधरहित है, अतः प्रमावतत्ववेत्ता नैय्यायिको को भी विना किसी संकोच के व्यंजकत्व-लक्षण अर्थात् व्यंजना व्यापार स्वीकार करना ही चाहिए ।

वाचकता के विषय मे भले ही तार्किकों की विप्रतिपत्तियाँ रहे, कि शब्दो की यह वाचकता स्वाभाविक (नित्य) है, या सकेतकृत (अनित्य) है ? (यहाँ भी यद्यपि वाचकत्व धर्मी के विषय में विमति नही हैं, अपितु उसके नैसर्गिकत्व और कृत्रिमत्व धर्म विशेष में ही विमति है ।) परन्तु अभिधात्मक वाचकता—अर्थात् अभिधा-व्यापार के बाद आने वाली, एवं दीपक आदि अन्य व्यंजक पदार्थों के समान सर्वानुभवसिद्ध व्यंजना के विषय में मतभेद का अवसर ही कहाँ है ?

प्रत्यक्ष के अविषय—अलौकिक पदार्थ, प्रकृति, परमाणु, विमानादि के विषय में नैय्यायिकों की विप्रतिपत्तियों (विवाद) भले ही दिखाई दें, परन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध लौकिक पदार्थों के विषय मे जैसा नील, पीत, मधुरादि सर्वजनानुभवसिद्ध अबाधित पदार्थों के

---

१. कृत्रिमः संकेतमात्रस्वभावः परिकल्पितः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति ये वदन्ति नैय्यायिक सौगतादयः । (लोचन पृ० ३०)

२. यथा दीपादिः परिकल्पितनिजविषयादन्यं विषयमपि प्रकाशयति तथा शब्दोऽपि संकेतितादन्यं विषयं प्रकाशयतीति तेषामपि अनुभवसिद्ध एवायं शब्दानां व्यंजकभाव इति । (बालप्रिया)

विषय मे तो किसी को भी परस्पर विवाद नही होना चाहिए, क्योंकि निर्भ्रान्त या अबाधित नील पदार्थ को कोई भी पीत नहीं कहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थों के विषय मे उतना विवाद नही है, जितना कि अप्रत्यक्ष या अलौकिक पदार्थों के विषय में। जैसाकि परिदृश्यमान इस जगत् के उपादान के विषय मे विविध वादियो का अभिनिवेश दिखाई देता है कि क्या यह जगत् प्राधानिक है, अर्थात् साख्यमतानुसार प्रकृति के विकार से समुत्पन्न है? या परमाणुजन्य है, अर्थात् न्यायदर्शन के अनुसार क्या परमाणु पुजो से इस जगत् का निर्माण हुआ है? अथवा विज्ञानस्वरूप यह जगत् है, अर्थात् विज्ञानवादी बौद्ध के अनुसार यह सारा प्रपच क्या विज्ञान का ही विलास है? अथवा माध्यमिक या शून्यवादी बौद्ध के अनुसार अतितुच्छ होने के कारण शून्य ही है? इस प्रकार इन्द्रियो के अगोचर जो पदार्थ हैं उनके विषय मे तो तार्किको के चाहे अन्य दार्शनिको के विवादपूर्ण प्रवाद भले ही हो, पर जो वस्तु सभी के अनुभव गम्य है या प्रत्यक्ष है, उसके विषय मे विवाद का कोई तुक ही नही है।

ठीक यही बात वाचक—शब्द, अवाचक—गीतादि ध्वनियो और बिना शब्द के चेष्टा आदि व्यवहार के विषय मे भी है, क्योंकि ये वस्तुए सर्वानुभव सिद्ध हैं, और इनकी व्य जकता भी सर्वानुभवसिद्ध है। इसका अपलाप कथमपि नही किया जा सकता है। अर्थात् ससार की इस प्रसिद्ध सरणि का आश्रय लेने वाले तार्किक भी इस बात का निषेध नही कर सकते हैं कि शब्दो मे भी व्य जकत्वलक्षण व्य जना व्यापार है।

रसिक गोष्ठियो में विद्वत्परिषदो मे अनभिधेय अर्थात् शब्दार्थ के बिना ही व्य जना व्यापार द्वारा चमत्कारपूर्ण रमणीय अर्थों की अभिव्यक्ति होती ही है, वह सर्वजन सुविदित ही हैं। इनका अपलाप करना तो खुद अपना ही उपहास करना है।

व्यग्यार्थ अनुमानगम्य ही है, नैय्यायिक का दुराग्रह

नैय्यायिक का ध्वनिवादियो के प्रति कथन है कि आप अन्यार्थ बोधक शब्द को ही तो व्य जक कहते हैं? वह व्य जक शब्द व्य ग्यार्थ विशेष की प्रतीति कराता है। यह तो ठीक हमारे अनुमान प्रक्रिया के अन्तर्गत आ जाता है। क्योंकि जिसे आप व्य जक कहते हैं, वह हमारा लिगत्व रूप ही है और उससे जो व्य ग्यार्थ की प्रतीति होती है, वह साध्यरूप होने से लिगी है। फलत यह लिग-लिगीभाव अर्थात् साध्यसाधनभाव ही उन शब्द व अर्थों का व्य ग्य-व्य जकभाव सम्बन्ध है।

भावार्थ यह है कि व्यग्य वस्तु आदि के साथ व्य जक शब्दार्थ का कोई न कोई नियत सम्बन्ध अवश्य व्य जनावादी को मानना चाहिए, अन्यथा तो सभी जगह असम्बद्धार्थ की प्रतीति होने लगेगी। अत कोई नियत सम्बन्ध अवश्य मानना चाहिए। वह सम्बन्ध

ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव या गम्य-गमक भाव ही हो सकता है, इसलिए व्याप्यभूत शब्दादि साधन-रूप ज्ञापक वस्तु आदि से साध्यरूप ज्ञाप्य का बोधन, अनुमानरूप ही है।

अतः उक्त व्यंग्यार्थ जब अनुमान से ही गतार्थ हो जाता है तो फिर अतिरिक्त व्यंजना वृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नही है।

इस पर व्यंजनावादी का उत्तर इस प्रकार है—आप नैय्यायिक के उक्त लिंगत्व-रूप अनुमान मान लेने पर भी हमारा ज्यादा कुछ बिगड़ता नही है। मतलब यह है कि हम जिसे व्यंजना-व्यापार कहते हैं, तो आप उसे इस लिंगत्वन्याय के आधार पर अनुमाप्य-अनुमापक या साध्य-साधनभाव-सम्बन्धविशेष अनुमान मान रहे हैं। आप में और हमारे मे सिर्फ शब्दों का ही तो फर्क है। जैसा कि अभिधा व लक्षणा व्यापार से अतिरिक्त एक व्यंजना-व्यापार या अनुमाप्य-अनुमापक कोई सम्बन्ध विशेष है, यह तो आप भी स्वीकार कर चुके हैं और जिस उद्देश्य की ओर हम अग्रसर थे, ठीक उसी उद्देश्य के मार्ग पर आप भी खड़े हैं, क्यों कि अभिधा व लक्षणा से एक अलग व्यंजना-वृत्ति है यह सिद्ध करना हमारा उद्देश्य है। किन्ही शब्दान्तर से आप भी यही सिद्ध कर रहे हैं, यह बात दूसरी है कि आप उसे लिंगत्व के नाम से कहे और हम व्यंजकत्व के नाम से। उक्त दोनों शब्द व्यापारों से यह एक अतिरिक्त व्यापार है, इसमें अब हम लोगो का आपस में कोई विवाद नही।

अब आपको ज्यादा समझाना भी नहीं है, सिर्फ इतना और समझ लो कि यह व्यंजकत्व लक्षण जो व्यंजना-व्यापार है, वह सर्वत्र लिंगत्वरूप ही नही रहता है और न व्यंग्य की प्रतीति अनुमितिरूप लिंगजन्य लिंगी=(साध्य) की ही प्रतीति है।

आपने वक्ता के अभिप्रायरूप अर्थ को जो अनुमेय माना है और उसके प्रकाशक शब्द को अनुमापक माना है, यह सब हमारे मीमांसक मत खण्डन के अनुसार है, इसमें भी कुछ और समझने की बात है, इसे सावधानी से सुनें—शब्दो का दो प्रकार का विषय है, अनुमेय और प्रतिपाद्य। इसमें अनुमेय विवक्षालक्षण है अर्थात्—शब्द या अर्थ की कहने की इच्छारूप यह विवक्षा भी दो प्रकार की होती है—

एक तो वक्ता के द्वारा उच्चार्यमाण शब्द से उसकी शब्दप्रयोगेच्छा और दूसरी अर्थप्रतिपादयिषारूप अर्थात् शब्द से अर्थ के प्रतिपादन करने की इच्छा रूप। इन दोनों का अनुमान किया जाता है—

इनमें से प्रथम शब्दप्रयोगेच्छा तो केवल इतना ही अनुमान कराती है, कि इस प्रकार का शब्द कोई प्राणी ही कर सकता है, अचेतन नही। इसीलिए इसको प्राणित्वमात्र प्रतिपत्तिफला कहा है। दूसरी अर्थ प्रतिपिपादयिषा—अर्थ प्रकाशनेच्छारूप शब्दस्वरूप विशेष का निर्धारण की वजह से व्यवहित होते हुए भी शाब्दबोध में उपकारिणी है।

ये दोनों ही अनुमेय हैं—इसका अनुमानाकार इस प्रकार है "अयं वक्ता एतत् विवक्षुः एवंविध शब्दप्रयोक्तृत्वात्, इत्यादि। क्यों कि अनुमान से ही परकीय इच्छा का पता चलता है।

परन्तु दूसरा प्रतिपाद्य अर्थ—जो कि वाच्य व व्यंग्य के भेद से दो प्रकार का होता है, वह तो केवल अभिधा व व्यंजना-व्यापार द्वारा ही बोधित होता है।

अतः अनुमान से व्यंजना गतार्थ नहीं हो सकती अर्थात् यदि वाच्य व व्यंग्यार्थ की अनुमिति ही हो जाये या अनुमान से ही उक्त अर्थद्वय की प्रतीति हो जाय तब तो अनुमिति के निश्चयात्मक होने से उक्त अर्थों मे मिथ्यात्व व अमिथ्यात्व प्रकार का संशय ही उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि धूम हेतुक पर्वत पक्ष मे वह्निमाध्य विषयक अनुमिति हो जाने पर पर्वत मे वह्नि है या नही "पर्वतो वह्निमान् न वा" इस प्रकार का संशय नहीं होता है। परन्तु प्रकृत में तो यह अर्थ ठीक है या नही, इस प्रकार का संशय होता ही है, अतः यह अर्थ अनुमेय नही हो सकता है।

व्यञ्जकता हमेशा लिंगत्व रूप ही हो यह भी कोई निश्चित नहो। क्योंकि दीप घट का प्रकाशक तो होता है परन्तु अनुमापक नही। इसीलिए व्यभिचार दोष के होने से भी व्यञ्जक को लिंग नही कह सकते हैं।

यह भी कोई आवश्यक नहीं कि व्यंग्यार्थ के सत्यत्वासत्यत्व के निश्चयार्थ अनुमान की ही शरण लेनी पड़ेगी, जैसे वाच्यार्थ के विषय मे अनुमानादि प्रमाणान्तर से परीक्षण होने पर भी अभिधात्मक शब्द-व्यापार के विषय की कोई हानि नहीं होती, इसी प्रकार व्यंग्यार्थ के प्रामाण्य परीक्षण के लिए पश्चात् अनुमानादि प्रमाण के प्रवृत्त होने पर भी उसके अपने व्यंजना-व्यापार मे कोई क्षति नही होती है। फिर काव्य के विषय मे इस प्रकार लौकिक वैदिक वाक्यो के समान प्रामाण्य-प्रामाण्य की चर्चा करना भी स्वयं को उपहासास्पद बनाना है।

इस प्रकार यह व्यंजना व्यापार अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य आदि शब्द व्यापारो से विलक्षण ही है।

जो लोग यह मानते हैं कि सामग्री समवधान के वैशिष्ट्य से अभिधा ही तन्-तत् व्यंग्यार्थ विशेषों का बोध करा देगी, इस प्रकार व्यापारान्तर के कल्पनागौरव से क्या लाभ?

उनका भी मत सर्वथा उचित नही है, क्यो कि वे एक सामान्य व्यापार से ही सारे लक्ष्य अनुमेय व व्यंग्य पदार्थों का बोध कर लेना चाहते हैं, तो उनके अनुसार तो फिर सारे शास्त्र ही व्यर्थ हो जाएँगे, क्यों कि सत्ता या असत्ता मात्र से समस्त नित्यानित्यत्व निर्णय जब कर लेंगे तब अवान्तरशास्त्र कल्पना का अवकाश ही नहीं? अथवा न्यायमत मे द्रव्यगुण कर्म इन तीनो मे रहने वाली सत्ता जातिमात्र के सामान्य लक्षण कर देने से, फिर अवान्तर नवद्रव्य, चतुर्विंशति गुण, पंच कर्म आदि का विवेचन ही व्यर्थ होगा। अतः व्यंग्यार्थ के बोध के लिए अभिधा, लक्षणा आदि वृत्तियो से अतिरिक्त व्यंजना वृत्ति का मानना अत्यावश्यक है, जिसका अन्यत्र अन्तर्भाव नही किया जा सकता है।

इस प्रकार वादियो के विप्रतिपत्ति वातो से व्यञ्जनावृत्ति का उद्धार कर, ग्रंथकार आनन्दवर्धनाचार्य उपसंहारवचन प्रस्तुत करते हैं—

विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदिततत्त्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम् ॥३४॥

इस प्रकार ध्वनि नाम का जो काव्य विशेष तार्किक आदि विद्वानो के मतभेद का विषय बना हुआ था, अभी तक सहृदयो की दृष्टि से ओझल था, अर्थात् काव्य तत्त्वज्ञ जिसकी प्रतीक्षा मे थे, उक्त ध्वनितत्त्व को हमने सहृदयो के आनन्द लाभ के लिए प्रकाशित किया।

गुणीभूतव्यङ्ग्यनामक मध्यमकाव्य का स्वरूप

इस प्रकार उक्त रीति से भेदोपभेदसहित ध्वनि नामक उत्तम काव्यविशेष का विस्तृत वर्णन कर, अब गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक द्वितीय काव्यभेद का निरूपण करते हैं।

ललना-लावण्य की तरह सहृदयों के लिए आकर्षक जिस ध्वनितत्त्व का प्रतिपादन किया है, उसी ध्वन्यमान या प्रतीयमान अर्थ की जहाँ प्रधानता रहती है, उस काव्य को ध्वनिकाव्य कहते हैं।

परन्तु जहाँ ध्वन्यमान अर्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ मे ही अधिक चमत्कार प्रतीत होता है, ध्वनि या व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान गौणरूप मे रहता है, काव्य के इस प्रभेद को गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं।

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्व स्यात् प्रकर्षवत् ॥३५॥

वह गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य का दूसरा भेद होता है। जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के सम्बन्ध से वाच्यार्थ की रमणीयता अतिशय चमत्कारशालिनी हो जाती है अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्यार्थ से वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारावायक होता है, उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य कहा जाता है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य के आठ भेद होते हैं—

(१) इतराङ्गव्यङ्ग्य—जहाँ रस, वस्तु अलकारादि प्रतीयमान, किसी रस या वाच्य के अङ्ग हो जायें।

(२) काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य—काकु के द्वारा आक्षिप्तव्यङ्ग्य, जिस काकु के बिना वाच्यार्थ ही सङ्गत न हो।

(३) वाच्यसिद्धयङ्गव्यङ्ग्य—ऐसा व्यङ्ग्यार्थ जिसकी सहायता के बिना वाच्यार्थ ही सम्पन्न न हो।

(४) संदिग्ध प्राधान्य व्यङ्ग्य—वाच्य व व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कार की प्रधानता में जहां संदेह हो।

(५) तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य—जहां वाच्य व व्यङ्ग्यार्थ का चमत्कार तुल्य रहे।

(६) अगूढव्यङ्ग्य—जहां व्यङ्ग्यार्थ अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण असहृदयों को भी वाच्यवत् प्रतीत हो।

(७) अस्फुटव्यङ्ग्य—ऐसा व्यङ्ग्यार्थ जिसका समझना सहृदयों के लिए भी कठिन हो।

(८) असुन्दरव्यङ्ग्य—वाच्य की अपेक्षा जिस व्यङ्ग्यार्थ में रमणीयता न हो।

इतराङ्गव्यङ्ग्य में—वस्तुरूप व्यङ्ग्य का वाच्याङ्ग होने पर उदाहरण

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र,
यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र,
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥

नदी में जलक्रीडा करती हुई किसी युवती को देखकर किसी युवक की यह उक्ति है अथवा—किसी कवि ने ललना का ही नदीरूप में वर्णन किया है—

इस नदी के तट पर यह कौन, विलक्षण लावण्य की नदी सी उभर आयी है, जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैर रहे हैं और हाथी के कुम्भस्थल उभर रहे हैं, जिसमें कुछ दूसरे ही प्रकार के कदलीस्तम्भ और मृणालदण्ड दिखाई दे रहे हैं,

उक्त श्लोक में सिन्धु, उत्पल, शशी, द्विरदकुम्भ कदलिकाण्ड, और मृणालदण्ड ये शब्द मुख्यार्थ में बाधित हो जाने के कारण अर्थात् स्वार्थ में अत्यन्त तिरस्कृत हो जाने से—क्रमशः ललना, कटाक्षविक्षेप, मुख, कुचयुगल, उरुद्वय, बाहुयुग्मरूप व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। परन्तु यह अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य से व्यक्त वस्तु ध्वनि "अपरैव केयम्" इस इतर-वाच्य का अङ्ग बन गई है, अर्थात् उक्त व्यङ्ग्यार्थ से "अपरैव केयम्" यह "विलक्षण सी कौन है" इस वाच्य अर्थ में ही अधिक चमत्कार है, अतः यह इतराङ्गव्यङ्ग्यगुणीभूत का उदाहरण है।

इसी प्रकार समासोक्ति आदि अलंकारों में भी—"अनुरागवती सन्ध्या" इत्यादि में प्रतीयमान दम्पत्ति व्यवहार की प्रतीतिरूप वस्तु उक्त वाच्यार्थ का ही अङ्ग बन गई है, क्योंकि चमत्कार वाच्य में ही अधिक प्रतीत होता है।

इसी प्रकार रसादिरूप व्यङ्ग्य के गुणीभूत हो जाने से रसवत् अलंकार होता है, जिसका विवेचन विस्तार से द्वितीय उद्योत में किया जा चुका है। यह सब रसवत्, प्रेम, उर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि व भावशवलता संज्ञा वाले अलंकार गुणीभूतव्यङ्ग्य के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। ये सब इसी इतराङ्गव्यङ्ग्य के उदाहरण हैं। व्यङ्ग्य अलकार उपमादि के गुणीभाव दशा में दीपकादि अलंकार होता है। जैसे "चन्द्रमयूखैर्निशा" इत्यादि स्थलो में ऐसे स्थलो मे प्रतीयमान यह उपमादि वाच्य-दीपकादि में साम्य का प्रयोजक बनता है, अर्थात् वाच्य की ही सिद्धि करता है। इसलिए इस प्रकार के भेद वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्य के उदाहरण है।

गुणीभूत व्यङ्ग्य के अन्य भेदो के उदाहरणो को काव्य प्रकाशादि ग्रंथों से देख लेना चाहिए। विदग्ध विद्वज्जनो को आह्लादित करने वाली जो अपरिमित विशाल रचनायें हैं, उनमें भी काव्य के इस गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक प्रभेद की कल्पना करनी चाहिए।

प्रसन्नगम्भीरपदा: काव्यबन्धा: सुखावहा:।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेवं योज्य: सुमेधसा ॥३६॥

प्रसन्न व गम्भीर पद वाले जो सुखावह-सुखदायक काव्यबन्ध होते हैं, बुद्धिमान कवि को चाहिए कि उनमें काव्य के इस प्रभेद की भी योजना करनी चाहिए।

उक्त भेद की योजना का प्रकार बतलाते हैं—कोई कवि समुद्र के परिवार का वर्णन कर रहा है—

लक्ष्मीर्दुहिता जामाता हरिस्तस्य गृहिणी गङ्गा।
अमृतमृगाङ्कौ च सुतावहो कुटुम्बं महोदधे: ॥ (छाया)

समुद्र की लक्ष्मी कन्या है, भगवान् विष्णु जामाता है, गङ्गा उसकी पत्नी है, अमृत और चन्द्रमा जैसे पुत्र हैं, अहो ! समद्र का कितना उत्तम परिवार है।

उक्त पद्य में लक्ष्मी पद से सर्वजन स्पृहणीयता प्रतीत होती है, जैसा कि महा कवि बाणभट्ट ने भी कादम्बरी में कहा है "धनमिव न कस्यचिन्नाकाङ्क्षणीयम्" विष्णु पद से परमैश्वर्य की तथा चतुवर्गफलप्रदातृत्व की प्रतीति होती है। गङ्गा से पावनत्व की, तथा अमृतपद से मरणभासोपशमकत्व, और मृगाङ्क पद से अलौकिक आह्लादकत्वादि प्रतीयमान वस्तु यद्यपि व्यङ्ग्य है, परन्तु अहोपद के वाच्यभूत आश्चर्य का ही (उक्त व्यङ्ग्य) पोषक होने के कारण गुणीभूत हो गया है,

उक्त व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत होता हुआ, (अहोपद वाच्य) यह वाच्यार्थ विस्मय का विभाव होता हुआ चमत्कारातिशय को प्राप्त कर रहा है। ध्वन्यालोक की दीधिति टीका में उक्त पद्य मे परिकरालंकार का भी निर्देश किया है, जो चिन्तनीय है। वाच्यालंकार वर्ग में सर्वत्र यह गुणीभूतव्यङ्ग्य ही चमत्कारातिशय को

प्रदान करता है। लक्ष्य स्थलों की गवेषणा करने पर प्राय सभी वाच्यभूत अलकारो का यह गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्यतत्त्व शोभाधायक है—

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परा छाया बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥३७॥

सभी वाच्यभूत अलकारो मे भी गुणीभूतव्यङ्ग्य के माहात्म्य से ही रमणीयता प्राप्त होती है। जैसे दीपक, समासोक्ति आदि मे व्यङ्ग्य वस्तु के चारुत्व के कारण उनकी रमणीयता प्रतीत होती है, उसी प्रकार अन्य अलकारो मे व्यङ्ग्य वस्तु के सम्पर्क से ही शोभा सम्पन्न होती है।

यह तो सर्वविदित ही है कि अतिशयोक्ति सभी अलकारो के वैचित्र्य की निदान है अर्थात अतिशयोक्तिमूलक अलकारो की अपनी विशेषता है। अतिशय के बिना कौन अलकार अपनी विच्छित्ति का विस्तार कर सकता है। अत एव महाकवियों का और सहृदयो का इस ओर विशेष अवधान रहा है, कि प्रत्येक अलकार मे इस अतिशय का आधान किया जाय। अलकार ही नहीं बल्कि काव्य के महत्त्वपूर्ण तत्त्व भी अतिशय से शून्य नही होते हैं। इसीलिए तो भामह ने भी इस प्रसङ्ग मे कहा है कि—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥

वक्रमयी या वक्र-अतिशयार्थ का प्रकाशन करने वाली यह वक्रोक्ति सभी काव्यतत्त्वों मे परिलक्षित होती है। कोई भी अलकार उक्त वक्रोक्ति मे अछूता नहीं है, अत कवि को चाहिए कि वह इस ओर अधिक प्रयास करें।

यही वक्रोक्ति नाम से अभिहित अतिशयोक्ति भामहादि आचार्यों के सिद्धान्तानुसार काव्य का मूल तत्त्व होकर सभी समासोक्ति आदि व्यङ्ग्यसस्पर्श मे सुन्दर वाच्य अलकारवर्ग मे सन्निहित होने के कारण ही अलकार रूप मे काव्य की आत्मा बनी थी, इसी अतिशय की कुक्षि मे इन आचार्यो ने काव्यानन्द की अनुभूति की। इस अतिशय को उन्होंने स्थूलरूप से वाच्यालकार तक ही सीमित रखा।

आगे वामनाचार्य ने इसी अतिशय का उत्थान गुणवृत्ति लक्षणा तक किया। अर्थात् वामन ने वक्रोक्ति को लक्षणा माना—"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति"। यह इस अतिशय का उत्थान मात्र है। काव्य क्षेत्र मे यह वाच्य कक्षा मे कुछ वक्र कक्षा तक या अपने नाम व गुण तक पहुचने का इसे सौभाग्य प्राप्त हुआ।

आगे आचार्य कुन्तक के समय मे तो यह वक्रोक्ति अपने चरम उत्कर्ष तक पहुच चुकी थी। इस अतिशय ने भी अन्य सिद्धान्तो की ही तरह उस उच्च व सर्वाभिलषणीय प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त किया, जहां पहुचकर कोई भी सिद्धात व मत

सुप्रतिष्ठित हो जाता है। कहना न होगा कि कुन्तक का यह प्रयास महर्षि विश्वामित्र के प्रयास से कथमपि न्यून रहा होगा जिसने ध्वनि साम्राज्य के महनीय वैभव को देखते-देखते भी एक नये अद्‌भुत स्वर्ग की कल्पना की। बस, वक्रोक्ति का यही आकार अथ और इति हो जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस आवेग-आवेश व उत्साह के साथ यह सिद्धान्त ध्वनि की प्रतिस्पर्धा में अग्रसर हुआ, उस अनुपात से आगे पल्लवित नही हो पाया। प्रसङ्ग प्राप्त इस प्रकरण को अब आगे नही बढ़ाकर प्रकृत के प्रसङ्गमें यही कहना है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य का संस्पर्श प्रायः सभी अलंकारो मे रहता है, यह केवल अलंकार रूप मे ही नही अपितु गौणरूप में स्थित प्रतीयमान रस, वस्तु व अलंकारों के संस्पर्श मे भी रहता है। इस प्रकार ध्वनि से न्यून या ध्वनि के ही समान किसी रूप में ध्वनि का ही निस्पन्द है, जो करीब-करीब ध्वनि के समान ही आनन्ददायक है और एक प्रकार से ध्वनि से ही प्रसूत एक काव्य धारा है। जैसे दही का सारभूत अंश नवनीत है, उसी प्रकार काव्य का सार रसादि हैं। परन्तु उसी दही से निर्मित तक्र की तरह यह गुणीभूतव्यङ्ग्य भी है, अतः यह भी आस्वादनीय है। प्रतीयमान के संस्पर्श से भी काव्य की कोई अलौकिक कमनीयता सम्पन्न हो जाती है।

अलंकारो के रहने पर भी अथवा अलंकारों के न रहने पर भी केवल प्रतीयमान की छाया से भी काव्य की सुषमा और बढ़ जाती है—

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥३८॥

अनेकों आभूषणों से भूषित होने पर भी, जिस प्रकार कुलाङ्गनाओं का लज्जा ही मुख्य भूषण है, उसी प्रकार उपमादि अलंकारों से अलंकृत होने पर भी महाकवियों की वाणी का प्रतीयमानार्थ संस्पर्श जन्य सुषमा ही परम भूषण है।

जैसे—

विस्रम्भोत्था मन्मथाज्ञाविधाने ये मुग्धाक्ष्याः केऽपि लीलाविशेषाः।
अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन स्थित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः॥

मन्मथ की आज्ञा के विधान में, मुग्धाक्षी के विश्रम्भ (विश्वास) से उत्पन्न जो अपूर्व लीलाविलास है, उन्हें एकान्त में स्थित होकर केवल एकाग्रचित्त द्वारा निरंतर ध्यान का विषय बनावे।

उक्त पद्य में "केऽपि" इस शब्द से अनन्त विलक्षण व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराते हुए कौन सा सौन्दर्य नही उत्पन्न कर दिया?

काकु से आक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य के स्वरूप को दिखलाते हैं—

अर्थान्तरगति काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥३९॥

काकु (शोक भीत्यादि जनित ध्वनि का विकार) द्वारा जो यह बिलकुल भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है, इसमें भी व्यङ्ग्य के गौण हो जाने से, गुणीभूतव्यङ्ग्य के ही अन्तर्गत समझना चाहिए ।

उदाहरण—

"स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः" ।

मुझ भीम के जीते जी, क्या धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कुशल पूर्वक रहेंगे ? "स्वस्था भवन्ति" ये पद काकु द्वारा दृढ प्रतिज्ञ भीमसेन के जीते जी कौरव कथमपि स्वस्थ नहीं रह सकते हैं, यह अर्थ से अभिव्यक्त होता है।

यहाँ उक्त व्यङ्ग्यार्थ "धार्तराष्ट्राः स्वस्था भवन्ति" इस अनुपपन्न वाच्यार्थ का उपपादक है, अतः यह काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य है ।

यहा काकुस्वर की सहायता से अभिधा ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में निमित्त है। काकु तो केवल सहकारिणी है, इसीलिए काकु की मुख्यता नहीं है और काकु प्रतीयमान की सहायता से अभिधात्मक शब्द व्यापार द्वारा उक्त अर्थप्रतीति विषय होने पर भी व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ही लभ्य है। यह बात अलग है कि पुनः यह व्यङ्ग्यार्थ असङ्गत-वाच्यार्थ का ही उपपादक हो ।

ध्वनि व गुणीभूत व्यङ्ग्य का विषयविभाग—

कहीं-कहीं लक्ष्यों में ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य का विषय अत्यन्त सकीर्ण दिखाई देता है। इसमें युक्तिपूर्वक सहृदयों को विषय विभाग करना चाहिए, न कि सर्वत्र ध्वनि का ही पक्षपात करना चाहिए।

प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते ।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ॥३९॥

युक्ति के द्वारा अर्थात् पूर्वोक्त नियमानुसार यदि किसी को इस गुणीभूत व्यङ्ग्य का ही प्रभेद प्रतीत होता हो, तो ऐसी स्थिति में सहृदयों को ध्वनि का आग्रह नहीं करना चाहिए ।

इसी सकीर्ण भेद का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—विवाह के लिए सखी द्वारा सजाई जाती हुई पार्वती का वर्णन कवि कर रहा है—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥

पति के शिर की चन्द्रकला को तुम इस चरण से स्पर्श करना, यह कहकर सखी ने परिहास पूर्वक पार्वती के चरणों को रंगकर उसे आशीर्वाद दिया। उत्तर में पार्वती ने विना कुछ कहे माला से उस सखी को मारा।

यहां "निर्वचनं जघान" विना कुछ बोले ही पार्वती ने अपनी माला से उक्त सखी को मारा, इससे लज्जा, अवहित्था, हर्ष, इर्ष्या, सौभाग्य, गर्व आदि व्यङ्ग्यार्थ के अभिव्यञ्जित होने पर भी, "निर्वचनं" इस कथन से वचन निषेध बोधन द्वारा अभिधीयमान कुमारीजनोचित मुग्धस्वभाव के पोषक होने से उक्त व्यङ्ग्यार्थ गौण हो गया है, अतः यह गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही उदाहरण है।

ध्वनिविषय की विविक्तता

जहां स्ववाचक शब्द के विना तात्पर्यरूप=व्यञ्जना से ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहां उस व्यङ्ग्यार्थ का ही प्राधान्य होता है। जैसे—"एवं वादिनि देवर्षौ" इत्यादि स्थल में, प्राधान्येन अभिव्यक्त "लज्जा" विना किसी वाचक के, अर्थात् स्व-लज्जा वाचक शब्द के विना ही केवल मुखनमनादि व कमलगणनादि अनुभाव विशेष से ही अभिव्यज्यमान होती हुई ध्वनिव्यवहार का विषय बनती है।

गुणीभूत भी रसादिध्वनिव्यवहार का प्रयोजक है संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की दृष्टि से गुणीभूत होने पर भी पुनः रसादि के प्रधानतया विवक्षित होने से ध्वनिकाव्य में ही परिगणित किया जाता है—

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥४१॥

यह गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक काव्य प्रभेद भी, रसादि के तात्पर्य से विवक्षित होने पर ध्वनिरूप ही हो जाता है।

जैसे—"**न्यक्कारो ह्ययमेव मे**" इत्यादि श्लोक में, "न्यक्कार" इत्यादि पदों के व्यङ्ग्यविशिष्ट=वाच्यार्थ के उपपादक होने की दृष्टि से गुणीभूतव्यङ्ग्य होने पर भी सम्पूर्ण श्लोक के तात्पर्य विषयीभूत प्रधानव्यङ्ग्य की दृष्टि से तो ध्वनित्व का ही व्यवहार होगा।

इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य प्राधान्याप्राधान्य के विवेक में बहुत सावधानी रखनी चाहिए, जिससे कि ध्वनि व गुणीभूत व्यङ्ग्य का तथा अलंकारों का विषय-विभाग संकीर्ण न हो, अन्यथा तो अलंकार के प्रसिद्ध विषय में ही व्यामोह हो जाता है।

अलंकारों के संकीर्ण विषय का उदाहरण

कोई व्यक्ति अपने गुणोचित सत्कार को नहीं पाने से दुःखी होकर असमीक्ष्य-कारी विधाता को कोशता है—

लावण्यद्रविणव्ययो न गणित क्लेशो महान् स्वीकृत,
स्वच्छन्दस्य सुख जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपित ।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनु तन्वता ॥

विधाता ने अपने सौन्दर्य सम्पत्ति के व्यय की परवाह नही की, महान् क्लेश उठाया । स्वच्छन्द भाव से, सुख पूर्वक निवास करने वाले लोगो के मन मे चिन्ता की आग लगाई। इस बेचारी को भी समान प्रिय के प्राप्त न होने से स्वय ही मार डाला, कुछ समझ मे नही आता कि विधाता ने उस सुन्दरी के शरीर की रचना करते हुए मन मे कौन सा लाभ सोचा था ।

कुछ विद्वानो का कहना है कि उक्त श्लोक मे व्याजस्तुति अलकार है, क्योकि उक्त रीति से निष्फल कार्य करने वाले विधाता की निन्दारूपवाच्य से वास्तव मे अनन्य साधारण सौन्दर्यशालिनी रमणी के निर्माण कौशल द्वारा उसकी स्तुति ही व्यङ्ग्य मर्यादा से प्रतीत होती है ।

परन्तु यह बात उचित मालूम नही पडती है, क्योकि इस श्लोक के वाच्यार्थ को व्याजस्तुति अलकार के रूप मे पर्यवसित मानने से, यह वाच्यार्थ सुसङ्गत नही होता । क्योकि उक्त सुन्दरी मे आसक्त किसी रागी या कुत्सित वासना वाले पुरुष की यह विचारधारा नही हो सकती है, इसलिए कि उस रागी या कुत्सितवासना वाले की यह उक्ति कि "अपने सदृश प्रिय के न मिलने से यह बेचारी मारी गई" ठीक नही मालूम पडती है । क्योकि अनुरक्त व्यक्ति तो कामावेश मे अपने को ही उसके अनुरूप समझ लेगा, अत अपने मुख से स्वय अपनी निन्दा कैसे कर सकता है ।

अथवा किसी वीतराग व्यक्ति की भी यह विचारधारा नही हो सकती है, क्योकि वीतराग व्यक्ति का तो विषयवासनाजन्य आसक्ति का त्याग देना ही जीवन का एक प्रधान लक्ष्य रहता है, अत वह तो इस प्रकार के विषय का वितर्क ही नही कर सकता है ।

उक्त श्लोक का कोई उपयुक्त प्रकरण या प्रसङ्ग भी उपलब्ध नही होता है, जिससे की आसानी से प्रसङ्ग-सङ्गत अर्थ की परिकल्पना की जा सके ।

ग्रथकार आनन्दवर्धनाचार्य की सम्मति मे उक्त श्लोक मे अप्रस्तुत प्रशसा नामक अलकार है, क्योकि उक्त रमणी के शरीर निर्माणरूप निष्फलता के तुल्य अप्रस्तुत वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यभूत अलौकिक ज्ञानादि गुणो के गर्व से आध्मात-परिपूर्ण अप्रतिम वैदुष्य वाले प्रस्तुत-व्यक्ति की प्रतीति होती है । अर्थात् उक्त वाच्य से किसी ऐसे गुणगणविशिष्ट विद्वान् की प्रतीति हो रही है, जो निज ग्रथादि पाण्डित्य के मर्मज्ञो को न देखता हुआ खेद प्रकट कर रहा हो ।

सम्भवतः यह पद्य धर्मकीर्ति जैसे महान् विद्वान् का हो क्योकि उसी के समान निर्वेदपूर्ण वचन इसमें सुनाई दे रहे हैं।

अन्यत्र भी धर्मकीर्ति के अपने प्रौढपाण्डित्य के विषय बहुत सी गर्वोक्तियाँ पाई जाती है। जैसे—

अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना-
ऽप्यदृष्ट परमार्थतत्त्वमधिकाभियोगैरपि ।
मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं,
प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम् ॥

क्योंकि अत्यन्त प्रचुर बुद्धि वाले व्यक्ति भी जिस मेरे दार्शनिक विचार को पूर्णरूप से नहीं समझ पाते हैं, तथा अत्यन्त ध्यान देने पर भी उसके अंतस्तल तक नही पहुंच सकते हैं, ऐसा मेरा दार्शनिकविचार जगत मे, उचित ग्रहीता पुरुष के नही मिलने से, मेरे शरीर मे ही जीर्ण-शीर्ण हो जायेगा।

इस श्लोक से भी यही अभिप्राय प्रकट किया गया है कि समुद्र के जल के अन्तस्तल तक प्रवेश करना तो दूर रहा, उसका तो साहस करना भी दुष्कर है, यह समुद्र का जल जिस प्रकार उसी मे जीर्ण हो जायिगा, इसी प्रकार सदृश ग्रहीता के अभाव मे यह पाण्डित्य भी निष्फल है, इस प्रकार की भावना से उत्पन्न निर्वेद प्रकट किया जा रहा है।

यह अप्रस्तुत प्रशंसा भी तीन प्रकार की होती है—इसमें कदाचित् वाच्य विवक्षित होता है, कदाचित् अविवक्षित होता है और कदाचित् विवक्षिताविवक्षित होता है।

(१) जिस अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्यविवक्षित हो—"परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो" इत्यादि उक्तपद्य की व्याख्या प्रथम उद्योत में की जा चुकी है यहां अप्रस्तुत विवक्षित वाच्य इक्षु पद-पद से प्रस्तुत सज्जन पुरुष की प्रतीति होने से अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है, और यहां इक्षुरूप वाच्यार्थ भी उपपद्यमान होने से विवक्षित है अर्थात् इक्षु पक्ष में भी बाध कही नही है।

(२) जिस अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्यार्थ विवक्षित न हो—पथिक और शाखोटक नामक वृक्ष का संवाद—

कस्त्वं भोः ! कथयामि, दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकम् ।
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते ।
न च्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥

(पथिक)—अरे ? तुम कौन हो ? (वृक्ष उत्तर देता है)—भाग्य का मारा मुझे शाखोटक समझो, (पथिक)—कुछ वैराग्य-उदासीनता से बोल रहे हो, (वृक्ष)—आपने ठीक समझा, (पथिक) ऐसा क्यों कहते हो (वृक्ष)यहाँ से बाईं तरफ एक बड़ा वट का वृक्ष है, पथिक गण हमेशा उसके तले बैठते है, हर तरह से उसका उपयोग करते हैं, परन्तु बीच रास्ते में स्थित होने पर भी—मेरी छाया से भी किसी का उपकार नहीं हो रहा है। अत एव मुझे खेद है।

किसी वृक्ष के साथ बात सम्भव नहीं, इसलिए उक्त पद्य में वाच्यार्थ अविवक्षित है, इस प्रकार अप्रस्तुत अविवक्षित उक्त पथिक व वृक्ष के सम्वाद रूप वाच्य से प्रस्तुत-समृद्ध असत्पुरुष के सन्निकट रहने वाले किसी निर्धन मनस्वी का यह निर्वेद वचन उसकी हार्दिक व्यथा को प्रकट करने के तात्पर्य से ही मुख्यरूप से व्यक्त किया गया प्रतीत होता है।

(३) जिसमें विवक्षित व अविवक्षित दोनों हों—

उत्पथजाताया अशोभनाया फलकुसुमपत्ररहिताया
बदर्या वृत्तिं ददत् पामर भो अवहसिष्यसे ॥ (छाया)

कुमार्ग में उत्पन्न हुई, कुरूप, फल-पुष्प तथा पत्रों से रहित बदरी (बेर) की (बाढ) वृत्ति लगाने वाले, अये पामर तुम्हें सब लोग हँसेंगे। यह अर्थ प्रस्तुत एव अविवक्षित है। प्रस्तुत व विवक्षित स्त्री पक्ष वाला अर्थ भी है—किसी अधम कुल में उत्पन्न हुई सन्तानादि से रहित, जो स्त्री है उसे अपने घर में बसाने वाले व्यक्ति को कोई कहता है।

यहा अप्रस्तुत कँटीली बदरी वृक्ष की वृत्ति (बाढ़) लगाना उचित न होने से बदरीरूप वाच्य अविवक्षित और है प्रस्तुत स्त्री पक्ष में किसी अनाथ अबला स्त्री का भरण पोषण करना या शरण देना आदि उपयुक्त होने से वाच्यविवक्षित है।

यहाँ वाच्यार्थ न तो सम्भवी ही और न असम्भवी ही है इसलिए वाच्य व व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्याप्राधान्य प्रयत्नपूर्वक निरूपण करना चाहिए।

चित्रकाव्य

इस प्रकार ध्वनि काव्य और गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का निरूपण कर, अब व्यङ्ग्यार्थ शून्य तृतीय चित्रकाव्य का निरूपण कर रहे हैं।

व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्येन विवक्षित होने पर ध्वनि नामक उत्तम काव्य होता है, और व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा जहाँ वाच्यार्थ में ही अधिक चमत्कार रहता है, व्यङ्ग्यार्थ गौण हो जाता है, उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य कहते हैं, इन दोनों से भी भिन्न जहा रस भावादि तात्पर्य की विवक्षा न हो, व्यङ्ग्य शून्य या अस्पष्ट व्यञ्जन वाले, के शब्दार्थालंकार के वैचित्र्य का ही प्रधानतया जिस काव्य में प्रयास हो उसे

चित्र नामक अवमकाव्य कहते हैं। इसमें शब्दालंकारों व अर्थालंकारों का ही प्राधान्य रहता है, किसी अस्पष्ट या मन्द स्थिति मे विद्यमान भी व्यङ्ग्यार्थ कवि विवक्षा या संरम्भ का विषय नहीं होता है। यह काव्य विविध वर्णा से अभिरञ्जित, आलेख्य चित्र के तुल्य-विविध शब्दचित्र व अर्थचित्रो से अनुरञ्जित होने के कारण चित्र-काव्य कहलाता है।

गुणप्रधानभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥४१॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्र वाच्यचित्रमतः परम् ॥४२॥

व्यङ्ग्यार्थ के प्रधान होने मे ध्वनि काव्य और व्यङ्ग्यार्थ के गौण होने से गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य, ये दो प्रकार के काव्य होते हैं। इन दोनों से जो अन्य है वह चित्रकाव्य कहलाता है।

यह चित्रकाव्य शब्द व अर्थ के भेद से दो प्रकार का होता है, इनमें कुछ शब्दचित्र अर्थात् शब्दालंकार प्रचुर और कुछ अर्थचित्र-अर्थात् अर्थालंकार प्रचुर होता है।

चित्र में कौन सी विचित्रता है ?

यह चित्र क्या चीज है, अर्थात् पूर्वोक्त यह चित्र काव्य नाम की कौन सी वस्तु है, अथवा इसका अपना क्या वैचित्र्य-विलक्षणता है ?

क्या जहाँ प्रतीयमानार्थ-व्यङ्ग्यार्थ का सम्पर्क न हो वही चित्र काव्य है ? यह प्रतीयमानार्थ या व्यङ्ग्यार्थ तो तीन प्रकार का होता है, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है रस वस्तु व अलंकार के भेद से।

इनमें भी जहां व्यङ्ग्य वस्तु व व्यङ्ग्यालंकार न हो, उसे भले ही चित्र कहा जाय, परन्तु रसादि व्यङ्ग्य का सम्पर्क न हो, यह वात तो असम्भव सी प्रतीत होती है। क्योंकि संसार की ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो कि किसी रस या भाव का अङ्ग न वनती हो।

कविवर्णित चाहे कोई भी पदार्थ हो, वह अवश्य ही किसी न किसी चित्त-वृत्तिविशेष को अवश्यमेव विषय वनाता है और चित्रवृत्ति विशेष ही तो रसादि है, यदि उक्त पदार्थ किसी चितवृत्ति विशेष को उत्पन्न नही करता है, तो ऐसा पदार्थ फिर कवि का वर्ण्य विषय भी नहीं वनता है, परन्तु कवि तो चित्ररूप से किसी न किसी पदार्थ का निरूपण अवश्य करता है, ऐसी स्थिति में चित्रकाव्य को नीरस कह देना तो समुचित नही हैं।

समाधान—आपकी बात ठीक है कि काव्य का कोई प्रकार ऐसा नहीं है कि जहाँ रसादि की प्रतीति न होती हो, अर्थात् संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो कि किसी रस या भाव का आलम्बन विभाव या उद्दीपन विभाव न बनती हो। अतः उक्त वस्तु के द्वारा काव्य में रसादि का होना भी आवश्यक ही है।

परन्तु जब कवि रस भावादि के बोध कराने की इच्छा से रहित होकर, केवल शब्दालंकार व अर्थालंकारों की ही छटा को प्रदर्शित करने की इच्छा से काव्य का उपनिबन्धन करता है, उस स्थिति में कविविवक्षाविषयीभूत उन अलंकारों का ही उक्त काव्य में प्राधान्य रहता है, इस दृष्टि से अलंकारों की झन्कार की अधिकता में किसी अंश में विद्यमान भी अतिमन्द रसादि प्रतीति नगण्य सी प्रतीत होती है, *या उक्त अलंकारों के वैचित्र्य में अस्पष्ट रसादि प्रकाशमन्द ही प्रतीत होता है,* क्योंकि कवि का संरम्भ भी प्रधानतया अलंकार प्रदर्शन में ही है, "अतः प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" के न्याय से उक्त काव्य को रसादिशून्य चित्रकाव्य ही कहा जाता है।

इसी आशय का सार निम्न पद्यों में संकलित किया गया है—

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः॥

अर्थात् जब कवि का रस या भावादि विषयक (विवक्षा) तात्पर्य नहीं रहता है और अलंकार मात्र में विशेष अभिनिवेश रहता है। ऐसा अलंकार-प्रधानकाव्य ही चित्रकाव्य कहलाता है।

परन्तु जब कवि रसादि की प्रतीति कराने के तात्पर्य से ही रचना करता है, ऐसी स्थिति में तो रसभावादि प्रधानकाव्य, ध्वनिकाव्य ही कहलाता है।

चित्रकाव्य के प्रणयन का प्रयोजन

यद्यपि रसभावादि की दृष्टि से चित्रकाव्य किन्हीं सहृदयों के हृदय को आनन्दित भले ही न करे, परन्तु "रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजु कुटिलनानापथजुषाम्" के नियमानुसार अथवा "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः" के अनुसार आहार्य सौन्दर्यानुरञ्जित वस्तु प्रणयिता भी कवि व्यापार का एक अपना विषय है, जिसको स्पष्टतः नकारा नहीं जा सकता है। लक्ष्य में इसका प्रचुर प्रयास देखा भी गया है। भारवि माघ, श्रीहर्ष जैसे कविवरों की कृतियाँ किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम्, नैषधीयचरितम् आदि महाकाव्य चित्रकाव्य की कमनीय छटा से परिमण्डित है। काव्यत्व परिधि में जिनका निषेध करना तो साहसमात्र है, फिर "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्" की सूक्ति तो प्रसिद्ध ही है। वस्तुतः जनसामान्य

के लिए शास्त्रादि वाङ्मय से काव्य का व्यावर्तक तत्त्व गुणालंकार संस्कृत चित्र ही तो है, अतः विभिन्न प्रकार की रुचि वाले कविवरों को भी इस काव्य की ओर रुचि होने से, और प्रचुर मात्रा में अलंकार प्रधान काव्य के उपलब्ध होने से इसका भी निरूपण इस प्रसङ्ग में आवश्यक है।

रससिद्ध कवीश्वरों के लिए तो ध्वनिकाव्य का प्रणयन ही प्रशस्त है

आधुनिक कविवरों को तो, जब कि काव्य का यह घण्टापथ की ध्वनि मार्ग प्रशस्त कर दिया गया है, तब तो रसभावादि शून्य शुष्क काव्यव्यापार शोभा ही नही देता, क्योंकि परिपक्व कवियों की रसादि तात्पर्य से विन्यस्त ऐसी कोई वस्तु नही है, जो कि अभीष्ट रस का अङ्ग होती हुई हृदयावर्जक न हो। चेतनों की तो बात और है, अचेतन पदार्थ भी उचित रस के विभावादिरूप में अङ्ग बन जाते हैं, तो असीमित आनन्द को प्रदान करते हैं। इन सब पदार्थों को रसमय बनाना कवि की अपनी इच्छा पर निर्भर है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥

अपारादि और अन्तहीन, अर्थात् अनन्त इस काव्यसंसार का विधाता एक मात्र कवि ही है। कवि को जिस रूप में इस विश्व को देखने की इच्छा होती है, उसी रूप में यह संसार परिणत हो जाता है।

यदि कवि सरस है, तो उसकी रचना से प्रसूत यह काव्यजगत् भी सरस ही होगा। अथवा यदि कवि वीतराग है, तो उसके तदनुरूप उपदेश द्वारा यह सारा संसार वैराग्यप्रधान हो जायेगा।

यहां तक कि अचेत पदार्थ भी वन, नदी, पर्वत, वृक्षादि भी कवि कल्पना की रमणीयता से चेतनवत् प्रतीत होते हैं, अर्थात् कवि प्रतिभा के बल से उन अचेतनों का भी मानवीकरण हो जाता है और चेतन प्राणी भी यदि काव्यवासना से शून्य हैं तो असहृदय हैं। कवि के अभिप्राय को समझने में जड़ है, अतः ऐसे चेतन भी कवि की दुनियाँ में अचेतन-पत्थर की तरह हैं।

इस प्रकार सरिताओं के संगीत में, पर्वतों के क्रन्दन में और वृक्षों के अभिनन्दन में कवि की प्रतिभा का ही प्रसाद है।

इस प्रकार सर्वात्मना रसतल्लीन कवि के लिए यह कोई दुष्कर कार्य नही है, कि अभिमत वस्तु को यथोचित रीति से रसादि का अङ्ग बना दे।

महाकवियो के काव्यो मे यह बहुधा देखा ही जाता है कि कवि अपने अभीष्ट पदार्थ को सर्वथा रसमय बना देता है। और रसादि तात्पर्य के उद्देश्य से निर्मित यह गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य भी कभी ध्वनि का ही अङ्ग बन जाता है। चाटु वाक्यो मे देवता व राजादि की प्रशसा मे प्राकृत भाषाओ की कविगोष्ठियो मे अङ्गरूप से भी स्थित रसादि गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप मे स्थित होता हुआ भी, ध्वनि की ही एक धारा के रूप मे समझा जाता है। सक्षेप मे इसे इस प्रकार समझना चाहिए।

यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते।
सवृत्याभिहित वस्तु यत्रालकार एव वा॥
काव्याध्वनि ध्वनिर्व्यङ्ग्यप्राधान्यैकनिबन्धन।
सवत्र तत्र विषयी ज्ञेय सहृदयैर्जनै ॥४३॥

जिस काव्य मे रस या भाव प्रधानतया प्रतीत हो, अथवा सौन्दर्य सार वस्तु, या अलकार जहा प्रतीत होता हो, उन सब मे केवल व्यङ्ग्यार्थ के प्रधान होने के कारण, सहृदयजन ध्वनि को ही प्रधान विषयी समझें।

प्रकारान्तर से ध्वनि के प्रभेद

उक्त ध्वनि के अपने भेदो के साथ, एव गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ, और वाच्यभूत अलकारो के साथ, सकर व ससृष्टि की व्यवस्था करने पर लक्ष्यभूत ध्वनिकाव्य के बहुत से भेद दिखलाई देते हैं।

जैसे—ध्वनि के अपने मुख्य भेदो के साथ सकीर्ण (त्रिविध सकर) और मुख्य भेदो के साथ ससृष्ट=अर्थात् परस्पर अनपेक्ष ध्वनियो मे रहने से ससृष्टियुक्त इसी प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्यो का परस्पर सकीर्णरूप व परस्पर अनपेक्ष होने से ससृष्टरूप।

वाच्यालकारो का भी परस्पर सकीर्णरूप व परस्पर अनपेक्ष होने से ससृष्टरूप।

ससृष्टालकार सकीर्ण व ससृष्टालकार ससृष्ट, इस प्रकार बहुत प्रकार से ध्वनि प्रकाशित होती है।

सगुणीभूतव्यङ्ग्यै सालंकारै सह प्रभेदै स्वै।
सकरससृष्टिभ्या पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥४४॥

अलकारो के सहित गुणीभूतव्यङ्ग्यो के साथ, और अपने भेदो के साथ, सकर व ससृष्टि के द्वारा यह ध्वनि अनेक प्रकारो से प्रकाशित होता है।

एक वाक्य में परस्पर सापेक्ष होकर अङ्गाङ्गिभाव या उपकार्योपकारकभाव से रहने पर संकर होता है, यह संकर पुनः अङ्गाङ्गिभाव संकर एकाश्रयानुप्रवेश संकर व संदेहसंकर के भेद मे तीन प्रकार का होता है। एक वाक्य में दो या तीन अलंकारो या ध्वनियो के परस्पर निरपेक्षभाव रहने पर संसृष्टि होती है।

संक्षेप में ध्वनिप्रभेदों की गणना

ध्वनि के प्रथमत. अविवक्षितवाच्यध्वनि व विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि, ये दो भेद होते हैं।

पुनः अविवक्षितवाच्यध्वनि—सक्रमित व तिरस्कृत भेद से दो प्रकार का होता है।

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि भी—सलक्ष्यक्रम व असंलक्ष्यक्रम के भेद से प्रथमतः दो प्रकार का होता है।

यह सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि भी—

शब्दशक्तिमूलक =अर्थशक्तिमूलक व उभयशक्तिमूलक होता है, शब्द शक्ति-मूलकध्वनि के वस्तु व अलंकार ये दो भेद होते हैं।

अर्थशक्तिमूलक—स्वतः सम्भवी, कविप्रौढोक्ति व कवि निबद्धवक्तृप्रौढोक्ति के भेद मे प्रथमतः तीन प्रकार का होता है।

इनमें प्रत्येक के वस्तु व अलंकार इन दोनों के भी परस्पर व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव से चार भेद होते हैं। तीनों के भेद मिलाकर बारह भेद होते हैं।

और शब्दार्थोभयशक्ति मूलक का एक ही भेद होता है, और असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि का भी एक ही भेद माना है, इस प्रकार सब मिलाकर अठारह भेद हुए।

इनमें सिर्फ शब्दार्थोभयशक्तिमूलक एक भेद को छोड़कर शेष सत्रह भेद पद व वाक्य के भेद से चौतीस हो जायेंगे, और अर्थ शक्तिमूलक जो ध्वनि के बारह भेद है, वे प्रबन्धगत भी होंगे। इस प्रकार—एक उभयशक्तिमूलकध्वनि भेद चौतीस पूर्व पद वाक्य के प्रभेद वाले बारह पुनः प्रबन्धगत भेद सब मिलकर सैंतालीस भेद हुए। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि पुनः पदैकदेश, वर्ण, रचना, व प्रबन्धगत होने से चार भेद वाला होगा।

इस प्रकार इन चार भेदों को भी मिला देने पर ध्वनि के कुल एकावन अर्थात् एक पञ्चाशत् भेद हो जायेंगे। उक्त प्रकार की शुद्ध एकावन प्रकार की ध्वनिसंख्या का पुनः परस्पर संम्मिश्रण होने से ५१ × ५१ = २६०१ पुनः तीन प्रकार के संकर व एक प्रकार की संसृष्टि से पुनः गुणन करने से = १०४०४ संख्या होगी, पुनः शुद्ध एकावन भेदो के जोड़ देने से ५१ + १०४०४ = १०४५५ ध्वनि के भेद होते हैं।

अङ्गाङ्गिभाव भावरूप सकरध्वनि का दिग्दर्शन—जैसे—

"एव वादिनि देवर्षो पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥"

इत्यादि मे अर्थशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य द्वारा लज्जा ध्वनि या लज्जाभाव की अभिव्यक्ति होती है । अभिव्यक्त हुआ यह भाव, अभिलाष हेतुक विप्रलम्भ शृङ्गाररूप असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का अनुग्राहक होने से अङ्गाङ्गिभाव सकर ध्वनि है ।

इसी प्रकार अन्यप्रभेदो की भी कल्पना कर लेनी चाहिए, विस्तार के भय से सभी प्रभेदो के उदाहरण देना सम्भव नही है ।

गुणीभूत व्यङ्ग्य के साथ ध्वनि का सकर

कर्ता द्यूतच्छलाना जतुमयशरणोद्दीपन सोऽभिमानी
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटु पाण्डवा यस्य दासा ।
राजा दु शासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्र,
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्व ॥

कुरुकुल के क्षय के बाद अवशिष्ट दुर्योधन को ढूढते हुए, भीम व अर्जुन का भृत्यो के प्रति कथन—राजसभा मे छलपूर्वक द्यूतकार्य करने वाला, वारणावत मे निवासार्थ बनाये गये लाक्षागृह मे आग लगाने वाला, द्रौपदी के केश व वस्त्र को भरी सभा मे खीचने वाला और आज तक पाण्डवो को अपना दास बनाने वाला, अभिमानी वह दुर्योधन कहा है बताओ ? हम क्रोध मे उसको मारने नही आये, अपितु देखने आये है ।

उक्त श्लोक मे वाक्यार्थो से व्यज्यमान वीर या रौद्ररूप असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विशेष ध्वनि की प्रतीति होती है, परन्तु अन्य पदार्थो के वाच्यार्थ के ही अतिशय चमत्कार होने से गुणीभूतव्यङ्ग्य का भी उक्त श्लोकरूप वाक्यार्थ मे सम्मिश्रण होने से गुणीभूतव्यङ्ग्य का ध्वनि के साथ सकर है ।

इसी प्रकार कही-कही रसादिरूप व्यङ्ग्य के साथ वाच्यभूत अलकारो का भी सकर होता है—जैसे ग्रन्थकार आनन्दवर्धनाचार्य का निम्न पद्य—

कोई सज्जन पहिले भगवद्भक्ति मे ही तल्लीन था, मध्य मे कुछ कौतुकवश कविता व पाण्डित्य वृत्ति मे सलग्न रहा, अन्त मे उससे भी ऊबकर पुन भगवद्भक्ति को ही सर्वोत्तम समझता हुआ कहता है—

या व्यापारवती रसान् रसयितु काचित् कवीना नवा,
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिश निर्वर्णयन्तो वय,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन ! त्वद्भक्तितुल्य सुखम् ॥

हे समुद्रशायी भगवन् ! रसों के आस्वाद के लिए शब्द रचना में प्रयत्नशील कवियों की प्रतिक्षण विलक्षण नव नवोन्मेषशालिनी जो एक अद्‌भुत दृष्टि है, और प्रमाणसिद्ध अर्थों को प्रकाशित करने वाली जो विद्वानों की वैदुष्यदृष्टि है, इन दोनों के द्वारा इस संसार को रात-दिन देखते-देखते हम थक गये परन्तु आपके भक्ति के समान अन्यत्र कहीं भी हमें सुख नहीं मिला।

उक्त श्लोक मे कविप्रतिभा व दार्शनिक परिपक्व बुद्धि से "निर्वर्णन" अर्थात् देखना सम्भव न होने से विरोध उपस्थित होता है, परन्तु निर्वर्णनपद का ज्ञानसामान्य अर्थ कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है, फलतः यह विरोधाभास अलंकार में परिणत हो जाता है।

निर्वर्णन पदार्थ चाक्षुषज्ञान विशेष का ज्ञान सामान्यरूप अर्थ में संक्रमित होने से अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि भी है। इस प्रकार उक्त विरोधालंकार व अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि उक्त एक "निर्वर्णन" पद के आश्रित होने से, एकाश्रयानुप्रवेश रूप संकट होता है।

जहां कुछ पद वाच्यालंकारयुक्त हों और कुछ पद ध्वनि के प्रभेद से युक्त हो, ऐसे परस्पर निरपेक्ष किन्तु एक ही वाक्यार्थ में सन्निविष्ट अलंकार व ध्वनि के संसृष्टि का उदारहण प्रस्तुत करते हैं—

विरही यक्ष मेघ के प्रति विशाला नगरी का वर्णन कर रहा है—

> दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां,
> प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
> यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः,
> शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥

जिस विशालानगरी मे प्रातःकाल सारसो के रमणीय एव मद से अत्यन्त मधुर शब्द को फैलाने वाला, तथा खिले हुए कमलो की सुगन्धि के सम्पर्क से सुगन्धित, और अङ्गों को प्रिय लगने वाला, शिप्रा नदी का समीर प्रेयसी के विषय में प्रार्थनापरायण चाटुकार प्रियतम की तरह, श्रान्तयुवतियों के सुरतजन्य क्लान्ति को दूर करता है।

यहां अचेतन पवन मे चेतनवृत्ति मैत्री के बाधित होने से, लक्षणा द्वारा सम्बन्धार्थ की उपस्थिति होकर पुनः व्यञ्जना द्वारा सौरभातिशय रूपव्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने से अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि है, फलतः सौरभोत्कर्षरूप व्यङ्ग्यवस्तु ध्वनित होती है।

पुनश्च "प्रियतम इव" इत्यादि पद में वाच्य उपमा अलंकार के निरपेक्ष होने से दोनों की संसृष्टि है।

इस प्रकार से ध्वनि के भेद प्रभेदो की सख्या अनन्त है, सहृदयो के व्युत्पत्ति के लिए यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया गया है—

एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते ।
सख्यातु दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः ॥४५॥

इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदो और प्रभेदो के भेदो की गणना कौन कर सकता है, यहाँ तो हमने केवल दिग्दर्शनमात्र कर दिया है।

सहृदयो के हृदय के सन्तोष के लिए जिस ध्वनि के स्वरूप का विवेचन किया है, उसे पण्डित अवश्य प्रयत्नपूर्वक विवेचन करें—

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः ।
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः ॥४६॥

सत्यकाव्य का निर्माण करने, अथवा समझने के लिए विद्वज्जनो को इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षण वाले ध्वनि का प्रयत्नपूर्वक विवेचन करना चाहिए।

वामनादि आचार्यों को यह ध्वनि सञ्चित काव्य तत्त्व स्पष्टतया भासित नही हुआ था, अत एव वे लोग उक्त तत्त्व की व्याख्या करने में जब असमर्थ हो गये तो "रीतिरात्मा काव्यस्य" कहकर वैदर्भी, गौडी व पाञ्चाली रीतियो का विवेचन करने लग गये।

अस्फुटस्फुरित-काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिः व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥४७॥

स्पष्टरूप से स्फुटित न होने वाले इस काव्य तत्त्व के विवेचन मे असमर्थ वामनादियो ने वैदर्भी आदि रीतियो का प्रचार किया।

शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥४८॥

शब्दवृत्तियाँ उपनागरिकादि भट्टोद्भटादि सम्मत, और भरत सम्मत जो अर्थ वृत्तिया कैशिकी आदि वृत्तिया हैं वे भी रीतियो के ही समान, व्यापकरूप इस ध्वनि तत्त्व के ही अन्तर्गत प्रकाशित होती हैं।

इस प्रकार ग्रन्थारम्भ मे ध्वनि के अभाव या रीति व वृत्तियो मे ही अन्तर्भाव और अनिर्वचनीय भाव का प्रसङ्ग उठाया था, वह सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि सफल सत्काव्यो मे ध्वनि की सत्ता है, जिसमे सहृदय ही एकमात्र प्रमाण है और व्यापक ध्वनि का किसी रीति वृत्ति आदि (व्याप्य) सीमित विषयो मे अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।

ध्वनि का लक्षण ही नही हो सकता है क्योकि वह अनिर्वचनीय है, यह जो अनिर्वचनीयवादी बौद्धो की धारणा थी, वह भी समीचीन नही है।

क्योंकि बौद्ध तो अपने क्षणभङ्गवाद के सिद्धान्त से सभी वस्तुओं को क्षणिक मानता है। अतएव क्षणिक-पदार्थों के लक्षण न हो सकने के कारण वे उन्हें अनिर्वचनीय मानते हैं। परन्तु विचार करने पर उनका यह क्षणभङ्गवाद सिद्धान्त ही ठीक नहीं है इसकी समीक्षा हम दूसरे ग्रन्थ में करेंगे, क्योंकि प्रकृत में वह तर्क कर्कशचर्चा वैर-स्यावायक होगी।

किसी प्रकार 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से बौद्ध का क्षणभङ्गवाद सिद्धान्त कुछ समय के लिए स्वीकार भी कर लिया जाय तब भी ध्वनि के विषय में यह कहना कि यह अनिर्वचनीय है किसी प्रकार उचित नहीं मालूम पड़ता है। क्योंकि बौद्ध लोग जैसे सब कुछ क्षणिक मानते हुए भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों का लक्षण करते ही हैं, उसी प्रकार प्रत्यक्षादि के लक्षण के समान हमारा ध्वनि सम्बन्धी लक्षण भी अनिर्वचनीय न होकर लक्षणीय ही है।

उक्ताशय का संग्राहक श्लोक भी प्रस्तुत करते हैं—

अनाख्येयांशभासित्वं निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः।
न लक्षणं लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम्॥

ध्वनि के निर्वचन योग्य अर्थ होने से, उस ध्वनि का अनाख्येयांसभासित्व अर्थात् अनिवर्चनीयत्वरूप लक्षण ठीक नहीं है। उस ध्वनि का लक्षण तो जैसा हमने ग्रन्थ के प्रथम उद्योत में कहा है वही ठीक है।

तृतीय उद्योत सम्पूर्ण

चतुर्थ उद्योत

कवियों का प्रतिभा गुण

तृतीय उद्योत में विस्तार से ध्वनि के भेद प्रभेद व ध्वनि विषयक विप्रतिपत्ति का निराकरण कर अब चतुर्थ उद्योत मे उक्त ध्वनि के प्रतिपादन का और भी कुछ प्रयोजन बतलाते हुए प्रकृत उद्योत का प्रारम्भ करते हैं—

पूर्व उद्योतो मे ध्वनि व गुणीभूतव्यङ्ग्य का जो मार्ग प्रदर्शित किया है, उसका अन्य प्रयोजन कवि-प्रतिभा का आनन्त्य भी है।

ध्वनेर्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ॥१॥

गुणीभूतव्यङ्ग्य के सहित ध्वनिकाव्य का जो मार्ग दिखाया जा चुका है, उक्त मार्ग का अनुसरण करने से कवियो का प्रतिभा गुण अनन्त हो जाता है।

कहने का आशय यह है कि उक्त ध्वनि भेदो के अनुशीलन से कवि की प्रतिभा असीमित हो जाती है। इस प्रकार ध्वनिभेद व प्रतिभानन्त्य मे परस्पर कार्यकारणभाव हुआ।

यद्यपि ध्वनि का भेद या ध्वनि प्रपञ्च एक काव्यनिष्ठ धर्म है और प्रतिभा का आनन्त्य कविनिष्ठ धर्म है, जैसा कि शास्त्रकारो का नियम है कि कार्यकारणभाव समानाधिकरण मे ही होता है। यहाँ तो ये दोनों समान अधिकरण अर्थात् एकत्र स्थिति नहीं है, ऐसी स्थिति मे इनका परस्पर कार्यकारणभाव कैसे बनेगा ?

समाधान इस प्रकार है कि यहा ध्वनि व गुणीभूतव्यङ्ग्य मे भेदादि का ज्ञान ही प्रतिभा के आनन्त्य के लिए अपेक्षित है, अतः उक्त ज्ञान व प्रतिभा दोनो एकाधिकरण वृत्ति हैं अर्थात् दोनो कविनिष्ठ होने से परस्पर कार्यकारणभाव भी हो सकता है।

प्राचीन कवियो की कृतियो का अनुसरण करने पर भी, यदि कवि प्रतिभा-सम्पन्न है, तो अवश्य उक्त ध्वनि के सम्पर्क से वह उसी पुरातन अर्थ मे कुछ नवीनता ला देता है—

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता ।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥२॥

ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य के किसी एक प्रकार या भेद के सम्पर्क से

विभूपित होकर, प्राचीन कवियों द्वारा प्रतिपादित वाच्यवाचकभाव से सम्बद्ध वह पुरातन वाणी भी, विलक्षण रमणीयता को प्राप्त करती है।

किसी कवि का प्राचीन पद्य—

सविभ्रमस्मितोद्‌भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्‌गिरः।
नितम्बालसगामिन्य. कामिन्यः कस्य न प्रियाः॥

इसी प्राचीन अर्थ में, अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अत्यन्त तिरस्कृत भेद के सम्पर्क से किसी नवीन कवि का यह वर्णन कितना मनोहर है—

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः,
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोर्मिसरसः।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः,
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः॥

कवि किसी रमणी की युवावस्था का वर्णन कर रहा है कि यौवन को प्राप्त करने वाली इस मृगनयनी की कौन सी वस्तु रमणीय नही हो गई ? अपितु सभी कुछ तो सुन्दर मालूम पड़ता है। इसकी मन्द मधुर मुस्कान कितनी मनोहर है, कटाक्ष विक्षेप अत्यन्त चंचल एवं रमणीय है, वाणी का विलास तो सरस व भावपूर्ण वक्रोक्तियों से बहुत ही रसीला बन गया है। मन्द गमन का उपक्रम भी विलासातिशय की सूचना देता है।

उक्त पद्य मे यद्यपि प्राचीन कवि के पद्य के समान ही अर्थ है, परन्तु मुग्ध, मधुर, विभव, परिस्पन्द इत्यादि पदों से मुख्यार्थ के अत्यन्त बाधित होने के कारण लक्षणामूला व्यञ्जना के द्वारा क्रमश. व्यज्यमान युवजनहृदयहरणक्षमत्व, सौन्दर्यातिरेक, अविच्छिन्न रमणीयत्व, लज्जापूर्वक मन्दोच्चारणजन्य चारुत्वादि व्यङ्ग्यार्थों के सम्पर्क से उस प्रकार का पुराना अर्थ भी अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता है।

उसी अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि के योग से प्रस्तुत प्राचीन पद्य—

स्वतेजःक्रीतमहिमा केनान्येनातिशय्यते।
महद्‌भिरपि मातङ्गैः सिंहः किमभिभूयते॥

इसी आशयानुसार रचित नवीन कवि का यह पद्य—

यः प्रथमः प्रथमः स तु तथा हि हतहस्तिबहलपललाशी।
श्वापदगणेषु सिंहः सिंहः केनाधरीक्रियते॥

जो प्रथम है, वह तो प्रथम ही है, जैसे श्वापद (हिंस्र-घातुक) प्राणियों में अतिशय पराक्रमशाली सिंह अपने से मारे हुए हाथियों के प्रचुर मांस को खाने वाला

सिंह ही है, उसे कौन नीचा कर सकता है।

इस नवीन पद्य में द्वितीय बार प्रयुक्त प्रथम तथा सिंह पदों में पुनरुक्त होने से यथाश्रुत अन्वित न होने के कारण उपादानलक्षणा से असाधारण्य और दूसरों से अनभिभवनीयत्व आदि अर्थ के बोधन द्वारा अन्य की अपेक्षा अतिशय वीर्यशालित्व, प्रतीतिपूर्वक अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि के सम्पर्क से नवीनता आ गई है।

इसी प्रकार "शून्य वासगृह विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै" इत्यादि प्राचीन पद्य के ही आशय को लेकर, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के असंलक्ष्यक्रम भेद की कल्पना में कितना चमत्कार आ गया है।

निद्राकैतविन प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वधू-
र्बोधत्रासनिरुद्धचुम्बनरसाऽप्याभोगलोलं स्थिता।
वैलक्ष्याद्विमुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः,
साकाङ्क्षप्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रते॥

नव विवाहिता वधू, बहाना करके लेटे हुए पति के मुख पर अपना मुख रखकर, उस पति के जग जाने के भय से, अपनी चुम्बन की अभिलाषा को रोक कर भी, चुम्बनेच्छा के प्रतिक्षण बढ़ने के कारण बार-बार प्रिय की निद्रा का परीक्षण करती हुई, चञ्चल होकर खड़ी है और लज्जा से कहीं विमुख न हो जाय, यह सोचकर, चुम्बन न करने वाले उस नायक का भी हृदय मनोरथ के पूर्ण न हो सकने से साकांक्ष भले ही हो, लेकिन रतिरसास्वाद के पार तो पहुँच ही गया।

यद्यपि प्राचीन व नवीन पद्य में चुम्बनादि अभिलाषायें समान रूप से चित्रित होने पर भी समानाकार चित्तवृत्ति को अभिव्यञ्जित करती हुई भी, नवीन पद्य में कुछ विलक्षण रूप से ही परिपुष्टि को प्राप्त हुई चित्तवृत्ति चर्वणा का विषय बन जाती है और उक्त रस के आस्वादन में कोई प्रतिबन्धक नहीं है, जबकि प्राचीन पद्य में— "शून्यं वासगृहम्" इत्यादि में लज्जा व्यभिचारीभाव के स्वशब्दवाच्य होने से, और "निर्वर्ण्य" पद में श्रुति कटुत्व आदि दोषों के कारण रस का अपकर्ष होना स्वाभाविक है, परन्तु नवीन पद्य में "असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के साम्राज्य में बिना किसी प्रतिबन्ध के एक विलक्षण चमत्कारिता व नवीनता स्पष्ट ही प्रतीत होती है।

रसभाव व रसाभास तथा भावाभासादिरूप यह रसादिमार्ग अपने विभाव अनुभाव आदि प्रभेदों के परिगणन से अत्यन्त विस्तृत हो जाता है।

युक्त्यानयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः।
मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात्॥३॥

इसी प्रकार अत्यन्त विस्तृत रसादिमार्ग का अनुसरण करना चाहिए, जिसके आश्रयण से परिमितकाव्य का मार्ग भी आनन्त्य को प्राप्त हो जाता है।

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥४॥

काव्य में रस के सम्पर्क से, पूर्वदृष्ट भी पदार्थ, अर्थात् पुराने भी आख्यान सब नये में मालूम पडते हैं, जैसे वसन्त ऋतु के आने से वे सभी वृक्ष-पादप जो पहिले पुराने से लगते थे, नवीन पल्लवों व पुष्पों के आगमन से नवीन जैसे प्रतीत होते हैं।

जैसे—विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के शब्दशक्तिमूलक-संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के सम्पर्क से रमणीय महाकवि बाणभट्ट का यह गद्यखण्ड—

"धरणीधारणायाधुना त्वं शेष" इत्यादि उक्त गद्यांश, प्राचीन किसी कवि के—"शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरवः स्थिरा." इत्यादि पद्य के आशयानुसार है।

परन्तु उक्त गद्य मे बाण ने शेषनाग के साथ राजा का औपम्यरूप शब्दशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि के सम्पर्क से अभिनव चमत्कार सा आ गया है।

इसी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के अर्थशक्तिमूलक भेद के समाश्रयण मे एक विलक्षण नवीनता आ जाती है, जैसे "एवं वादिनि देवर्षौ" इत्यादि पद्य मे लज्जारूप. अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य व्यभिचारीभाव ध्वनि के सम्पर्क से एक अपूर्व रमणीयता प्रतीत होती है। जब कि तत्समानार्थक इस प्राचीन पद्य में स्पृहा व लज्जा के स्वशब्दवाच्य हो जाने से उतनी रमणीयता नही अभिलक्षित होती है—

कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः ।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः ॥ इत्यादि

काव्य के द्वारा रसादि का प्रकाशन कवि का मुख्य उद्देश्य

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान् ॥५॥

इस व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव के विविध प्रकार के सम्भव होने पर भी, कवि को चाहिए कि वह रसादिमय व्यङ्ग्य भेद में ही विशेष तल्लीन रहे, क्योंकि रसभाव, रसाभास, भावाभासरूप और व्यङ्ग्य के और उसके व्यञ्जक पूर्वोक्त वर्ण, पद, वाक्य, रचना एवं प्रबन्धात्मक काव्यो मे सावधानी से रसादि के संयोग से एक अपूर्व रमणीयता आ जाती है।

जैसे—रामायण व महाभारतादि प्रबन्धो में सग्रामादि वर्णन बार-बार अभिहित होने पर भी नये-नये जैसे ही प्रतीत होते हैं।

प्रबन्धात्मककाव्य में किसी एक रस को प्रधान मानकर कवि को सौन्दर्यातिशय की पुष्टि करनी चाहिए, अर्थात् प्रबन्धों में आनुषङ्गिकरूप में भले अनेक रसों का वर्णन हो, परन्तु प्रधानरूप से किसी एक ही रस का परिपोषण करना चाहिए।

जैसे रामायण महाकाव्य में या महाभारत में एक ही प्रधानरस तत्तत् अर्थ विशेषों से परिपुष्ट होता हुआ चमत्कार विशेष का प्रकाशन करता है।

रामायण में करुण रस

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा विरचित, मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के पवित्र चरित्र से सम्पृक्त आदिकाव्य रामायण में "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः, इत्यादि रामायणीय श्लोक के अनुसार क्रौन्चद्वन्द्व के वियोग से उत्पन्न मुनि का शोक ही श्लोक रूप में परिणत हो गया।

इस प्रकार जब महर्षि की छन्दोमयी वाणी का प्रारम्भ उक्त द्वन्द्व के वियोग से जनित शोक से हुआ तो, यह भी प्रकारान्तर से मानना ही पड़ेगा कि यह द्वन्द्ववियोग *विश्ववन्दनीय चरणारविन्द भगवान राम तथा जगज्जननी जगद्वन्द्या माता सीताजी* के ही वियोग का कदाचित प्रतीक हो। इसीलिए तो मननशील मुनि के भक्तहृदय पर भी उक्त करुण रस का स्थायीभाव शोक घर कर गया, अन्यथा तो "मुनि का शोक" यह बात तो लोक व शास्त्र दोनों स्थितियों में अनौचित्य का ही परिपोषण करती है।

संवेदनशील मुनि के हृदय में जब वह शोक न समा सका, तो उसके समुचित संचार व प्रचार के लिए आवश्यक था कि महर्षि जैसे आदिकवि के इस शोक का कोई सुपरिणाम होना चाहिए। इस बीच में आकाशवाणी हुई कि हे ऋषे! तुम अब शब्द ब्रह्म में निष्णात हो, अतः इसी समुदित शोक के संवेग में भगवान मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के उदात्त-चरित्र का वर्णन करो।

बस, महर्षि के मुखारविन्द से पादबद्ध, छन्दोमयी वाणी का सर्वप्रथम नवावतार हुआ और उक्त आदिकाव्य में आदिम राजा मनु के वंशज राम के चरित का गान हुआ।

इस प्रकार महर्षि ने उक्त "मा निषाद" इत्यादि श्लोक में संक्षेप से प्रतिपादन करते हुए, स्वयं ही करुण रस का प्राधान्य सूचित किया है और वैदेही के अत्यन्त विरहपर्यंत, काव्य में उसका निर्वाह भी किया है। अतएव आदिकाव्य रामायण में करुण रस का ही प्राधान्य प्रतीत होता है, अर्थात् काव्य का प्रधान व्यङ्ग्यभूत रस करुण ही है, क्योंकि उपक्रम-आदि में क्रौन्च पक्षी के वधजन्य क्रौन्ची के आक्रन्द से उत्पन्न करुण रस के स्थायीभाव शोक के प्रकाशक वृत्तान्त से काव्य का प्रारम्भ हुआ है, और अन्त में करुणरस के ही व्यञ्जक सीता के पाताल प्रवेश के वृत्तान्त

से कवि ने उपसंहार—समाप्त भी किया है। इसलिए मुखसन्धि और निर्वहणसन्धि के द्वारा करुण के प्राधान्य और वीरादिरसों के प्रासङ्गिक होने से अप्राधान्य मानने में किसी का भी मतभेद नहीं होगा।

अतएव वीरादि अङ्गरसों से उपस्कृत प्रधानरूप करुण रस ही प्रवन्ध की अतिशय सुषमा को बढ़ाता है।

महाभारत में शान्त-रस

महाभारत महर्षि वेदव्यास की एक अद्भुत रचना है। इसको हम एक तरह से शास्त्रीयकाव्य भी कह सकते हैं, क्योंकि यह शास्त्र के समान तत्त्व निर्णायक है, अर्थात् शास्त्रों में जिस प्रकार विधि निषेधादि का शासन देखा जाता है, ठीक उसी प्रकार विशालकाय इस ग्रंथ में भी मानवमात्र के अभ्युदय व निश्रेयस के लिए विधि निषेधों का प्रचुर मात्रा मे वर्णन पाया जाता है।

यह न केवल मानव के कल्याणकारक प्रवृत्ति व तद्विरुद्ध निवृत्तिमात्र का ही प्रतिपादक यह ग्रंथ है, अपितु मानव के यावत् अभिलषणीय चरम लक्ष्यों के उपायों का भी साङ्गोपाङ्ग इसमें वर्णन मिलता है, जैसा कि स्वयं वेदव्यास ने ग्रंथ में स्पष्टतया उल्लेख किया है—

धर्म-चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

इस प्रकार उक्त ग्रंथ शास्त्र की तरह तत्त्वनिर्णायक होने से और काव्य की तरह चमत्कारपूर्ण वर्णनयुक्त होने से अद्भुत आख्यानों से परिमण्डित एक शास्त्रीय महाकाव्य है। जैसा कि—आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है—"**महाभारते शास्त्रकाव्यरूपच्छायाऽन्वयिनि**" इत्यादि।

शास्त्र और काव्यरूप दोनों की छाया से युक्त महाभारत प्रबन्ध में भी यदुवंशियों और पाण्डवों के अत्यन्त वैराग्यजनक विनाश के कारण नितान्त वैमनस्य प्रतिपादक समाप्ति की रचना कर अर्थात् पर्यन्त मे उन लोगों की दुर्दशा का भयकर परिणाम प्रदर्शित कर, सांसारिक पदार्थों को क्षणभङ्गुर वतलाते हुए वैराग्यसूचक ग्रंथ की समाप्ति कर, महामुनि व्यास ने अपने काव्य महाभारत के वैराग्योत्पादनरूप तात्पर्य को प्रधानरूप से प्रतिपादित करते हुए मोक्षरूप परमपुरुषार्थ तथा शान्त-रस ही मुख्यतया इस ग्रंथ का प्रधान विषय माना है। उक्त ग्रंथ के व्याख्याकारों ने भी इसी बात की पुष्टि की है।

उमड़ते हुए घोर अज्ञानान्धकार मे निमग्न संसार का उद्धार करने की इच्छा से, विशुद्ध ज्ञानरूप प्रकाश को प्रदान करने वाले, जगदुद्धारक व्यासजी का भी यही कथन है—

यथा यथा विपर्येति लोकत न्त्रमसारवत् ।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशय ॥

जैसे-जैसे इस सासारिक प्रपञ्च की असारता व मिथ्यारूपता की प्रतीति होती है, वैसे-वैसे ही प्रेक्षावान् पुरुषों को इस सासारिक प्रपञ्च से वैराग्य होता जाता है, इसमे लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। बहुत बार यह कहकर, वैराग्योत्पादन द्वारा शान्त-रस को ही उक्त ग्रथ का मुख्य रस माना है। अतएव धर्म, अर्थ, कामरूप पुरुषार्थों से अनुगत परमपुरुषार्थरूप मोक्ष ही महाभारत का मुख्यरूप से वर्णनीय विषय है।

यद्यपि महाभारत का जितना भी प्रतिपाद्य विषय है, वह सब अनुक्रमणिका मे स्वय ही लेखक ने क्रमश लिख दिया है, उसमे सभी रसो का तथा धर्मादि पुरुषार्थों का अपने-अपने वाचक शब्दो के द्वारा ही प्रतिपादन किया गया है। तथापि सभी पुरुषार्थों की अपेक्षा मोक्षरूप परम पुरुषार्थ की, तथा सभी रसों की अपेक्षा शान्तरस की प्रधानता, स्वय स्ववाचक शब्दो द्वारा प्रतिपादन न कर, अनभिधेयरूप व्यञ्जनावृत्ति द्वारा ही प्रकाशित की है।

क्योंकि यह देखा जाता है, कि प्रबुद्धकवि अपने परम रहस्यभूत प्रधान वस्तु को या अभिमततर रमणीय अर्थ को, वाचक शब्द द्वारा न कहकर या अभिधादि व्यापारो द्वारा अभिहित न करके, उस लोकोत्तर विलक्षण रमणीय वस्तु को विदग्ध परिगत प्रसिद्ध व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ही प्रकाशित करता है।

परमपुरुषार्थ मोक्ष व शान्तरस के अभिव्यञ्जक शब्द भी उक्त ग्रथ मे प्रचुरतया उपलब्ध हैं, जैसे—"भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातन" इत्यादि।

इस महाभारत मे भगवान् वासुदेव का ही गुणानुवाद तथा यश गाया है। यह जो पाण्डवो के चरित का वर्णन किया जा रहा है, वह तो पर्यन्त मे विरस होने वाला व अविद्या प्रपञ्चरूप ही है। वास्तव मे तो सत्यस्वरूप भगवान् वासुदेव का ही गुणानुवाद है। अत उस ऐश्वर्यशाली भगवान् मे ही अपना मन लगाना उचित है, और सारहीन ऐहलौकिक या पारलौकिक विभूतियो मे अत्यन्त आसक्त होना उचित नहीं है, यह ससार तो बिल्कुल सारहीन तथा आपात रमणीय है—"पश्यत नि:सारता ससारस्य"।

इस प्रकार पर्यन्त मे वैरस्य बोधन द्वारा वैराग्यमात्र के जनक होने से मोक्ष का प्राधान्य और शान्तरस की विश्रान्ति ही मुख्यतया प्रतीत होती है। उक्त रीति से अत्यन्त निगूढ एव रमणीय अर्थ को महाभारत के अन्त मे "हरिवश" के वर्णन द्वारा समाप्त करते हुए, उन्हीं कवि शिरोमणि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने स्पष्टरूप मे प्रकट कर दिया है।

यद्यपि उक्त ग्रथ मे यत्र-तत्र देवता, तीर्थ, तपोवनादि का भी प्रचुरतया वर्णन मिलता है, इसी प्रकार अन्यान्य आख्यायिका व आख्यानो का भी विस्तृत विवेचन

मिलता है। परन्तु यह सब वैभव वर्णन, देवता विशेषों का कीर्तन व पाण्डवादि चरितों का चित्रण उसी परब्रह्म के प्राप्ति की उपायरूप मे ही वर्णित है, जिससे कि पर्यन्त-विरसता के कारण वैराग्योदय हो। वैराग्य ही तो मोक्ष का मूल है।

यहाँ वासुदेव शब्द मे परब्रह्म परमेश्वर ही विवक्षित है, न कि केवल मथुरा में उत्पन्न होने वाले वसुदेव पुत्ररूप कृष्ण। यहाँ तो वह वासुदेव विविक्षित है, जो अनादिकालीन प्रवाह से वासुदेव आदि संज्ञाओ के वाच्यार्थ से, गीता आदि में इसी नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त किये हुए, अपरिमित शक्तिशाली मथुरा में प्रादुर्भूत, कृष्णावतार धारण किये हुए, और रामादि समस्तरूपयुक्त परब्रह्म ही है, इसी अर्थ मे यह "सनातन" विशेषण भी सार्थक है।

इस प्रकार परमेश्वर को छोडकर अन्य सभी पदार्थ अनित्य है। इसको अनुक्रमणी में निर्दिष्ट वाक्य द्वारा बतलाकर, मोक्षरूप परम पुरुषार्थ ही इस ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है और शान्तरस ही पर्यन्त मे विश्रान्ति का परमधाम है, यह अच्छी तरह से समझा दिया है।

कहने का आशय यह है कि—इस संसार में दो प्रकार के पुरुष होते है, कुछ तो विषय-विरक्त-शास्त्रानुशीलन प्रणयी और कुछ सहृदय और काव्य रसिक होते है।

इनमें शास्त्राभ्यास कुशलों के लिए तो मोक्षरूप परमपुरुषार्थ का प्रतिपादन कर ही दिया है। अब जो काव्यरसिक है उनके लिए तृष्णाक्षयजन्य, आत्मविश्रामरूप शान्तरस का प्रतिपादन कर दिया। इस तरह दोनो प्रकार के अधिकारियों के परितोष को दृष्टि में रखते हुए उभयविध मोक्ष व शान्तरसरूप लक्ष्य का प्रतिपादन किया है।

यह मोक्षरूप पुरुषार्थ व शान्तरस इस ग्रंथ का अत्यन्त सारभूत अर्थ होने से, वाच्यवृत्ति अभिधा व्यापार से न कहकर, व्यञ्जना व्यापार द्वारा ही अभिव्यक्त किया गया है, क्योंकि सारभूत अर्थ हमेशा व्यङ्ग्यरूप से ही प्रकाशित किया जाता है।

अङ्गीभूत प्रधान रस से ही प्रबन्ध की शोभा होती है अतः रामायण व महाभारतादि प्रबन्धों के पर्यालोचन से यह बात करीब-करीब निर्णीत सी हो गई कि प्रधान रस के आधार पर काव्य की रचना करने से अपूर्व चमत्कारजनक किसी नवीन अर्थ की प्राप्ति होती है। और रचना का सौन्दर्य अत्यधिक बढता ही जाता है इसीलिए तो विशेष जोर देकर आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा—"रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्" इत्यादि।

अन्य अलंकारो के न रहने पर भी, यदि प्रधान रस के अनुरूप अर्थ विशेष द्वारा काव्य की रचना की जाय तो भी, उक्त रचना अतिशय सौन्दर्य सम्पन्न होती है। जैसे आगे के इस पद्य में अन्य अलंकारों के अभाव में भी केवल अद्भुत रस के

अगस्त्यविषयक भक्तिरूपभाव के प्रति अङ्ग होने के कारण "रसवत्" अलंकार के होने से ही रमणीयता की प्रतीति हो जाती है—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः ।
येनैकचुलके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥ इत्यादि

योगिराट् महात्मा अगस्त्यमुनि सर्वोत्कृष्ट है, जिन्होंने एक ही चुल्लू में उस दिव्य-अलौकिक मत्स्य और कच्छप को समुद्रपानावसर में देख लिया।

उक्त पद्य में एक ही चुल्लू भर पानी में मत्स्य व कच्छपावतार का दर्शन कर लेना यह एक आश्चर्यपूर्ण घटना है। उक्त अद्‌भुत रस से काव्य का कोई अनिर्वचनीय सौन्दर्य बढ़ रहा है।

तात्पर्य यह है कि मत्स्य और कच्छप दर्शनरूप वाच्यार्थ से व्यज्यमान चुल्लू-भर पानी या एक आचमन में अगाध समुद्र का समाजानारूप व्यङ्ग्यार्थ ही अद्‌भुत-रस को पुष्ट कर रहा है। इसमें भी बड़ी और आश्चर्यजनक घटना यह है कि उक्त ऋषि अगस्त्य के द्वारा जब सारे समुद्र के जल का आचमन कर लिया, तब अश्रुतपूर्व कभी न देखे गये उन दिव्य मत्स्य व कच्छप का दर्शन अधिक आश्चर्यजनक होने से अद्‌भुतरस की अत्यधिक पुष्टि कर रहा हैं।

क्योंकि जो वस्तु नित्यप्रति के व्यवहार द्वारा अभ्यस्त है या देखी सुनी हुई है, वह उतनी आश्चर्यकारक नहीं होती है, जितनी कि अश्रुत व अदृष्ट वस्तु। जैसा कि अगस्त्य के चुल्लू भर में सारे समुद्र का समाजाना, और दिव्य मत्स्य व कच्छप का दर्शन होना।

अदृष्ट या अश्रुत वस्तु का उपनिबन्धन न केवल अद्‌भुतरस के ही अनुकूल है, अपितु अन्य रसों का भी सर्वथा अनुकूल ही है—

जैसे—किसी नायिका की दूती नायक से कह रही है—

स्विद्यति रोमाञ्चति वेपते रथ्यातुलाग्रप्रतिलग्नः ।
स पार्श्वोऽद्यापि सुभग येनास्यतिक्रान्तः ॥

हे सुन्दर उस पुरानी संकीर्ण गली में अकस्मात् मेरी सखी के जिस पार्श्व (बगल) से सटकर तुम निकल गये थे, वह पार्श्व अब भी स्वेदयुक्त, रोमाञ्चित और कम्पित हो रहा है,

यहाँ दूती के कथन काल में नायक के स्पर्शरूप कारण के नहीं होने पर भी, स्वेदादि सात्विक भावात्मक कार्य की उत्पत्ति में विभावना अलंकार प्रतीत होता है।

इस गाथा के अर्थ के मनन करने से जो रस की प्रतीति होती है, वह प्रतीति "तुमको देखकर वह नायिका रोमाञ्चित है" इस प्रकार के अर्थ से बिल्कुल नहीं होती है।

इस प्रकार ध्वनि के भेद व प्रभेदों के आश्रय से जिस प्रकार काव्यार्थों में नवीनता आ जाती है, वह नितान्त ही चमत्कारावायक होती है। इसी प्रकार रसवस्तु अलंकार की अपेक्षा जो तीन प्रकार का गुणीभूतव्यङ्ग्य है, उसके आधार से भी काव्यार्थों में नवीनता व रमणीयता आ जाती है। लक्ष्य स्थलों में सहृदय स्वयं उक्त भेदों की कल्पना कर ले।

कवि-प्रतिभा का आनन्त्य

काव्यों के अपूर्व रमणीयता के सम्पादन मे कवि की प्रतिभा ही प्रधान कारण है—

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥६॥

यदि कवि में प्रतिभागुण होय तो, फिर ध्वनि, और गुणीभूतव्यङ्ग्य के आश्रय से काव्य के वर्णन योग्य रमणीयार्थ की कभी भी समाप्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् पुरातन अर्थ के रहने पर भी यदि प्रतिभा गुण कवि में विद्यमान है तो फिर नवीन काव्यार्थों के चमत्कार की कोई सीमा नही है तो फिर केवल पुरातन इतिवृत्त मात्र से तो कोई रमणीयता प्राप्त होती नही, केवल शब्दार्थ संघटनामात्र से तो कवि की इति कर्तव्यता समाप्त नही हो जाती है।

यद्यपि शब्दार्थ का साहित्य ही काव्य है, तथापि उक्त काव्य का काव्यत्व-सम्पादक गुण तो कविनिष्ठ प्रतिभा ही है, अन्यथा तो वह काव्याभास है। प्रतिभा के सामर्थ्य से कवि किसी ध्वनि का व गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकार का उपन्यास कर, सामान्य वाच्यार्थ को भी अतिशय रमणीय बना देता है।

न केवल व्यङ्ग्यार्थ के सम्पर्क से ही अर्थो का वैचित्र्य या अर्थो का नानात्व संभव है, अपितु वाच्यार्थ भी अवस्यादि द्वारा प्रयुक्त हुआ, अनन्त अर्थो का प्रयोजक है—

अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥७॥

व्यङ्ग्यार्थ निरपेक्ष केवल शुद्ध वाच्यार्थ की अवस्था देश, काल, आदि की विशिष्टता से स्वभावतः अनन्तता या विचित्रता को प्राप्त हो जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि किसी चेतन व अचेतन पदार्थ के देश, काल, अवस्थादि के प्रसिद्ध स्वभाव के वर्णनरूप स्वभावोक्ति से भी रचना करने पर काव्यार्थ अनन्त हो जाता है।

अवस्थाभेद से वर्ण्य वस्तु की अपूर्वता को दिखलाते हैं। जैसे—कुमारसम्भव नामक महाकाव्य के प्रथम सर्ग में भगवती पार्वती के "सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन" इत्यादि पद्यों से रूप वर्णन को समाप्त कर, भगवान् शंकर के पास आती हुई पार्वती

का पुन प्रकारान्तर से—"वसन्तपुष्पाभरण वहन्ती" इत्यादि प्रकार से वणन कर उक्ति वैचित्र्य के द्वारा कुछ नवीनता एक ही है।

स्वय आनन्दवर्धनाचार्य ने इस बात का अपने विषमबाणलीला नामक ग्रन्थ मे भी कहा है—

न च तेषा घटतेऽवधिन च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ता ।
ये विभ्रमा प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम् ॥ (छाया)

अवस्था भेद का एक दूसरा प्रकार भी है जैसे—हिमालय, गङ्गा, आदि सभी अचेतन पदार्थों का देवताभिमानित्वरूप चेतनरूप भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार के उस अचेतन मे भी उक्त चेतनरूप के आरोप से कुछ विलक्षणता अवश्य आ जाती है। इस प्रकार के भी अवस्थाभेद मे वाच्यभेद स्पष्ट प्रतीत हो जाता है।

जैसे—कुमार सम्भव के ही आरम्भ मे पर्वतरूप से हिमालय का वर्णन है, बाद मे सप्तर्षियो के प्रिय वचनो द्वारा चेतनरूप से किया गया वह वणन कुछ विलक्षण सा प्रतीत होता है।

सत्कवियो का यह अचेतनो का चेतनरूप मे वर्णन तो प्रसिद्ध ही है, अर्थात् कविगण तरु-लता, नदी, पवत आदि अचेतनो को भी चेतनरूप से वर्णन करते ही है।

चेतनो के बाल्यादि अवस्था के भेद से भी अर्थों का आनन्त्य, या अर्थों की नवीनता आ ही जाती है, जैसे कुमार, कुमारियो के बाल्य यौवनादि अवान्तर अवस्था भेद के वर्णन मे भी अर्थभेद हो जाता है। इसी प्रकार अवान्तर नाना अवस्था के भेद से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है—

जैसे कोई कवि कमल नाल के आरम्भावस्था का वर्णन कर रहा है—

हंसाना निनदेषु यै कवलितैरासज्यते कूजता-
मन्य कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रम ।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनो ।
निर्याता कमलाकरेषु बिसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थय ॥

कूजते हुए हसो की आवाजो मे जो कोई दूसरा कसैले कण्ठ मे लोटने मे घरघराहट के रूप मे विभ्रम को आसक्त कर देती है, वे इस समय कोमल हथिनी के दन्ताङ्कुर के साथ स्पर्धा करने वाली कमलिनी के कन्द अगले हिस्से की ग्रथियां कमलाकरो (सरोवरो) मे निकल पडी है।

यहां कमलनालतन्तु की नूतन ग्रथियो के आरम्भ का वर्णन होने से अवस्था विशेष-मूलक चमत्कृति प्रतीत होती है। अन्यत्र भी इसी दिशा का अनुसरण करना चाहिए।

देशभेद प्रयुक्त पदार्थभेद

अचेतन पदार्थो का देश भेद के कारण तत्तत् पदार्थो में भेद प्रसिद्ध ही है, जैसे दक्षिण आदि अनेक दिशाओं व मलयाचल आदि नाना देशों में विचरण करने वाले, पवनों का तथा अन्न-जल, पुष्पादि का भेद प्रसिद्ध ही है।

इसी प्रकार चेतनों मे भी ग्राम, अरण्य, जल-स्थल आदि में पले हुए, मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृति में परस्पर मे भेद प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है। यह भी विचारपूर्वक वर्णन करने से आनन्त्य को प्राप्त होता है। इस प्रकार देश-भेद से भिन्न-भिन्न मनुष्यों के व्यवहार तथा व्यापार का वर्णन ही बहुत कठिन है, जो कि अनेकरूप में पाया जाता है। इसमें भी खासकर स्त्रियो के विषय में व्यवहारों का पार पाना तो और भी मुश्किल है यह तो सब होने पर भी सुकविगण अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार उनका वर्णन करते ही है।

कालभेद से भी वस्तु का भेद

काल के भेद से भी पदार्थो में भेद आ जाता है, जैसे—ऋतुओं के भेद से दिशा, आकाश, जल, आदि अचेतन पदार्थों में भी भेद दिखाई देता है, इसी प्रकार वसन्तादि काल के भेद से भी चेतनों में भी औत्सुक्य, हर्षादि भावों का अविर्भाव हो जाता है, काल विशेष के भेद से और भी परिवर्तन स्वयं विज्ञों को समझ लेना चाहिए, जैसे—शरद् में जल व आकाश की निर्मलता, वर्षा में मेघ द्वारा आकाशादि की श्यामता, पृथ्वी आदि की हरीतिमा, शिशिर मे वृक्षों की जीर्णशीर्णता समीर की सरसराहट ये सब ही प्रसिद्ध ही हैं।

पदार्थ के स्वरूप भेद से भी काव्यार्थ में भेद।

इस संसार में पदार्थ का अपना जो लक्षण है, अर्थात् पदार्थ का अपना व्यक्तिगत स्वरूप विशेष, जैसे वह्नि का अपना स्वालक्षण्य वह्नित्व विशेष अर्थात् सामान्याच्छादित व्यक्तिगत विशेषरूप, जैसे रसवती-रसोई मे प्रत्यक्ष किया गया वह्नि का वह्नित्व सामान्य विशेषरूप ही उसका स्वालक्षण्य है, इसी प्रकार पदार्थ का भी अपना व्यक्तिगत जो सामान्य विशेष स्वरूप है वह अन्य पदार्थ से भिन्न है। इस प्रकार के स्वरूप भेद से भी काव्यार्थ का आनन्त्य हो ही जाता है।

कुछ लोग वाच्यार्थो के भेद से काव्यार्थ की अनन्तता को स्वीकार नहीं करते है। इन लोगों का कहना है कि पदार्थ तो सामान्यरूप से ही वाच्य होते हैं, विशेष-रूप से नहीं, क्योंकि कविगण स्वयं अनुभूत उन सुखादि पदार्थों को, या सुखादि पदार्थों के साधनभूत, स्रक्चन्दन, वनितादि के स्वरूप को नायिकादि में आरोपित करते है, तब अपने तथा नायिकादि के द्वारा अनुभूत उस सुखसामान्यमात्र के आश्रय में उन नायिकादि जो सुखस्वरूप है, या तत् साधनीभूत स्रक्-चन्दनादि का वर्णन करते है,

क्योंकि ये कविगण योगियों की तरह भूत, भविष्यत् वर्तमान कालिक व्यक्तिगत तत्तत् सुखविशेष का या तत्तत् सुखादि के सामान्य विशेष रूप जो सुख स्वालक्षण्य है, उसका वर्णन तो नहीं कर सकते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पर्वत-पक्ष में धूमहेतु के द्वारा वह्नि साध्य का अनुमान किया जाता है, वह जैसे वह्नित्व सामान्येन होता है, न कि वह्नि विशेष में, इसी प्रकार कवि लोग भी सुखादिरूप जो अनुभाव्य है, और स्रक् चन्दन-वनितादिरूप जो अनुभावक हैं, इन्हें सभी अनुभव कर्ताओं के लिए एक सामान्यरूप में ही वर्णन करते हैं, न कि तत्तत् सुखादियों के विशेष रूप में।

अतः यह सामान्य सुखादि सभी अनुभवकर्ताओं के लिए एक रूप ही है और साथ ही साथ परिमित होने से प्राचीन कवि ही उसका सामान्यरूप से वर्णन कर चुके हैं, पुनः आधुनिक कवियों का उसके स्वरूप विशेष के बारे में या नवीनता के बारे में, अथवा उनके आनन्त्य के बारे में वर्णन करने की चर्चा करना तो निरारम्भ करना है या मिथ्या अभिमान मात्र है, क्योंकि वस्तु सामान्यरूप में जब प्राचीन कवि तत्तत् पदार्थों का वर्णन कर ही चुके हैं, तो केवल उक्ति वैचित्र्य से उनका अभिनवीकरण तो कोई उचित प्रतीत नहीं होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस पदार्थ का सामान्यरूप दिखला दिया गया है, तो अब उसको केवल शब्दान्तर से या प्रकारान्तर से अभिहित करने में कौन सा पुरुषार्थ है?

सिद्धान्त-पक्ष की ओर से समाधान देते हैं कि यदि सामान्य मात्र के आश्रय से ही कवियों की काव्य में प्रवृत्ति मानी जाय तब तो, पूर्व प्रदर्शित अवस्थादि भेद से अत्यन्त रमणीयतया प्रतीयमान-काव्य विशेष का विषय ही पुनरुक्त हो जायेगा?

सहृदयों के द्वारा उक्त विशेष काव्य में अनुभूय मात्र एक नवीन चमत्कार का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि काव्य में सामान्य रूप से ही पदार्थों का वर्णन नहीं किया जाता है, अपितु कुछ विशेषरूप से ही वर्णन किया जाता है, अन्यथा तो केवल वाल्मीकि आदि के काव्य से ही सारा काव्यार्थ सामान्यरूप से गतार्थ हो जाता है फिर किसी अन्य नवीन कवि या कालिदासादि के कृतियों की ओर सहृदयों की किसी तरह प्रवृत्ति ही नहीं होगी? परन्तु देखा जाता है कि रामायण व महाभारत जैसे प्राचीन कृतियों के रहते हुए भी, सहृदयों की किन्हीं अभिनव कृतियों में अभिनवार्थ के प्रति प्रवृत्ति होती है। अतः सामान्यरूप से प्राचीनों के काव्यों में वर्णन होने पर भी उसी वर्णित चरपदार्थ में भी अभिनव कवि की प्रतिभा विशेष से किसी अभिनवार्थ की स्फूर्ति देखी ही जाती है।

संक्षेप में पूर्वोक्त सन्दर्भ का सार निम्न पद्य द्वारा बतलाते हैं—

वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित् ।
इष्यते प्रतिभार्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम् ॥

यदि वाल्मीकि के अतिरिक्त किसी एक कवि के प्रतिभा विशेष द्वारा वर्णनीय काव्यार्थ का आनन्त्य अभीष्ट समझते है, तो सभी नूतन कवियों के काव्यार्थ का आनन्त्य होना निश्चित है। अर्थात् उक्त युक्ति से अन्य कवियो के काव्यार्थ का भी आनन्त्य मानना ही होगा।

फिर इस उक्ति वैचित्र्य को भी यदि काव्य में अपूर्वता लाने का हेतु मानते है तो, तब तो यह सब हमारे ही पक्ष के अनुकूल है, क्योंकि काव्य का यह जो अवस्थादि भेद नामक प्रकार है वह उक्ति वैचित्र्य के सहयोग से अत्यन्त विशालता व विपुलता को प्राप्त हो जाता है।

जैसे ये उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेषादि वाच्यालकार समूह है, वह सब उक्ति वैचित्र्य से उपनिबद्ध होकर अनन्त शाखाओ व प्रशाखाओ से युक्त हो जाता है। भाषा भेद से भी कही-कही अर्थ मे वैचित्र्य आ जाता है—

मम मम इति भणतो व्रजति कालो जनस्य।
तथापि न देवो जनार्दनो गोचरीभवति मनस: ॥

यह मेरा, वह मेरा, कहते-कहते ही मनुष्य के जीवन का सारा समय बीत जाता है, परन्तु हृदय में जनार्दन भगवान् का साक्षात्कार नही हो पाता।

यहाँ मम-मम के स्थान पर सैन्धव भाषा मे निर्मित इस श्लोक मे यह-यह-यह शब्द थे, इनका अन्वय यदि मधुमथन के साथ लगाया जाय तो, मेरा जनार्दन मेरा जनार्दन ऐसा प्रतिक्षण बोलने वाले का भी समय बीत जाता है, फिर भी जनार्दन मन का प्रत्यक्ष विषय नही होता है। यह विरोधच्छाया यह-यह इस सैन्धव भाषामयी उक्ति से विचित्र हो गई है।

इस प्रकार जितना भी विचार किया जाय, काव्यार्थों का अन्त नही मिल सकता है। अतः—

अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये न तच्छक्यमपोहितुम् ॥८॥

अवस्था, देश, काल आदि के भेद से वाच्यार्थों का निबन्धन, जिसको पहिले कहा जा चुका है, लक्ष्य मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है, जिसका अपलाप नही किया जा सकता है।

पुन: सत्कवियो के उपदेश के लिए सक्षेप मे कहा जाता है—

रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी ।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥९॥

यदि औचित्य के अनुसार रस, भाव, आदि से सम्बद्ध तथा देश, काल, अवस्था के भेद से युक्त पदार्थ रचना का अनुसरण किया जाय तो—

वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।
निबद्धापि क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥१०॥

अत्यन्त परिमित शक्तिवाले अन्य साधारण कवियों का तो कहना ही क्या, हजारों, लाखों वाचस्पति भी एक साथ मिलकर, उस काव्यार्थ का वर्णन करें, तो भी जगत के उपादान-कारण प्रकृति की तरह उस काव्यार्थ की समाप्ति नहीं हो सकती है, अर्थात्—अवस्थादि के भेद से पदार्थों की रचना में अर्थानन्त्य तो निश्चित ही है। अतएव काव्य में रमणीयता लाने के लिए रसादि सम्पर्क व औचित्य का अनुसरण अवश्य करना चाहिए।

जिस प्रकार अतीत कल्प कल्पान्तरों में नानाविध-पदार्थ की रचना करने में जगत् की प्रकृतिरूप उपादान-कारण व्यय होने पर भी, पुनः वस्तुनिर्माण में समर्थ ही होता है।

इसी प्रकार यह काव्यार्थ परम्परा भी असंख्य कवि बुद्धियों के द्वारा वर्णित होने पर भी इस समय शक्तिहीन या सारहीन नहीं हैं, अपितु उन कवियों के वर्णनों से नयी-नयी व्युत्पत्तियों के प्राप्त होने से, अधिक वृद्धि को ही प्राप्त कर रही है।

कवियों की रचना में सादृश्य

विलक्षण प्रतिभा वाले कवियों की कृतियों में कभी-कभी विषयवस्तुगत या संघटनादि रमणीयार्थों में भी सादृश्य देखा जाता है। जैसाकि विद्वानों का कथन है कि—"संवादिन्यो मेधाविनां बुद्धयः" इति अर्थात् प्रतिभाशाली कवियों की बुद्धियाँ एक दूसरे से मिलती-जुलती होती हैं। परन्तु ये सारे संवाद विद्वानों को एकरूपत्वेन सदृश नहीं मानने चाहिए।

संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम् ।
नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥११॥

देश, काल, अवस्था आदि के भेद से पदार्थों के आनन्त्य होने पर भी, अत्यन्त प्रतिभाशाली कवियों में एक जैसी सूक्तियाँ अधिकतर प्राप्त होती हैं। परन्तु विद्वानों को चाहिए कि वे उन सूक्तियों के संवादों (परस्पर सादृश्य) को एक रूप ही न समझें। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि विलक्षण प्रतिभाशील दो कवि किसी वस्तु-विशेष का वर्णन एक-सा करें, पर बुद्धिमानों को इसमें परस्पर अनुकरण या

होने पर भी, चैतन्यविशिष्ट काम होने से सारवान् भी है, फिर तत्तत् अन्त:करणों के अवच्छेद के भेद से जीव परस्पर एक ही है यह नही कहा जा सकता है, क्योंकि सांख्यसिद्धान्त के अनुसार "व्यवस्थातो नाना या जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात्" इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर के समानाकार होने पर भी शरीरी (जीव) का तो परस्पर भेद सुतरां सिद्ध ही हैं। अतः यह तीसरा संवाद पूर्ववर्णित काव्यार्थ के सदृश होने पर वास्तविक व सौन्दर्य सम्पन्न होने के कारण कवि को नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि एक जीवात्मा दूसरे जीवात्मा से आकार मे समान होने पर भी अभिन्न नहीं कहा जा सकता है।

इसी तृतीय संवाद की अहेयता का प्रतिपादन करते हैं—

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्या: शशिच्छायमिवाननम् ॥१४॥

प्रसिद्ध वाच्यादि से विलक्षण व्यङ्ग्य सारभूत रसादि सम तत्त्व के रहने पर, पुरातन कवि वर्णित पदार्थों का अनुसरण करने वाला नवीन काव्यार्थ भी चन्द्रमा की कान्ति से युक्त कामिनी के मुखमण्डल के समान अधिक रमणीय प्रतीत होता है।

अर्थात् जिस प्रकार ललना का मुखमण्डल चन्द्रतुल्य होने पर भी सारभूत लावण्य के प्रभाव से ही अत्यन्त कमनीय मालूम पड़ता है, इसी प्रकार प्राचीन काव्यार्थ सदृश होने पर भी नवीन काव्यार्थ रसादि व्यङ्ग्यार्थ के सम्पर्क से ही अत्यन्त रमणीय होता है।

इस प्रकार समुदायरूप वाक्यार्थ संवादो का विवेचन कर अब पदार्थरूप संवादो के विषय में कहते हैं—

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥१५॥

अक्षरादि की रचना की तरह, जहाँ पुरानी वस्तु रचना की जाती है, नूतन काव्य-वस्तु के उदय होने पर स्पष्ट ही वह दूषित नही होती है।

अभिप्राय यह है कि अक्षर व पद तो वे ही पुरातन वस्तु है, जिन्हें कवि तो क्या यदि बृहस्पति भी नवीन या अन्यथा करने का प्रयत्न करे तो नही कर सकता है। उन्ही अक्षरों व पदो या पदार्थों को लेकर नवीन कवि भी काव्य रचना करता है। तात्पर्य यह है कि वे ही पुरातन कविगणो द्वारा वर्णित चमत्कारपूर्ण साम्य जिसे हम उपमा कहते हैं, और अर्थ भेद प्रयुक्त वैचित्र्यपूर्ण वही श्लेष, और वे प्रस्तुत व अप्रस्तुत संविधानों का विधान या वे ही प्रचलित बिम्बो के प्रतिबिम्ब या किञ्चित् संवाद या विसंवाद से विन्यस्तरूप व महत्ता के सादृश्य ही तो आधुनिक कवियों के भी वर्ण्य विषय हैं। जिन मूलभूत पदार्थों के विषय में तो स्वोपन्नता का दम्भ भरना अनुचित ही है।

पुनरुक्ति नहीं माननी चाहिए ।

संवाद का स्वरूप व प्रकार

एक काव्यार्थ का दूसरे काव्यार्थ के साथ जो सादृश्य है, उसे संवाद कहते हैं, "संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते तदन्येन काव्यवस्तुना सादृश्यम्" ।

यह सादृश्य तीन प्रकार का होता है—

(१) प्राणियों के दर्पणादिगत प्रतिबिम्ब के समान ।

(२) चित्रलिखित आकार के समान ।

(३) समान आकार वाले दो शरीरधारी जीवों में । जैसाकि कहा भी है—

> संवादो ह्यन्यसादृश्यं, तत्पुनः प्रतिबिम्बवत् ।
> आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥१२॥

अन्य के साथ सादृश्य को ही संवाद कहते हैं । यह संवाद—प्राणियों के प्रतिबिम्ब के समान और भित्ति में लिखित चित्र के समान तथा दूसरे शरीरधारी जीव के समान होता है ।

> तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम् ।
> तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः ॥१३॥

इनमें से पहला संवाद तो केवल प्रतिबिम्ब के समान, अर्थात् पूर्व वर्णित पदार्थ से अभिन्न होने के कारण सर्वथा त्याज्य है । दूसरा भी काव्यार्थ चित्र के समान केवल तुच्छरूप होने से, (असद्रूप होने से) परित्याज्य ही है । तीसरा देही-शरीरधारी के समान होने पर भी एकरूप न होने से त्याज्य नहीं है, अर्थात् तीसरे संवाद को कवि जो शरीरधारी जीव के समान है उसे अवश्य ग्रहण करे, क्योंकि एक शरीर अन्य शरीर से समान होने पर भी, यह नहीं कहा जा सकता है कि ये दोनों एक ही हैं । तात्पर्य यह है प्रतिबिम्ब की तरह जो परस्पर काव्यार्थों का संवाद है, वह तो बिम्ब व प्रतिबिम्ब के अत्यन्त समान होने के कारण कवि के कारण कवि के लिए त्याज्य ही है, अथवा अन्य सिद्धान्त से भी बिम्ब की ही सत्यता स्वीकार की गई है, न कि प्रतिबिम्ब की । प्रतिबिम्ब कोई अपूर्व वस्तु नहीं है, यह तो बिम्ब की ही छाया है, अर्थात् वर्णित का विषय ।

दूसरा संवाद जो कि आलेख्याकार है, अर्थात् चित्र लिखित वस्तु में जिस प्रकार किसी के सादृश्य का अनुकरण किया जाता है, अर्थात् अनुकरण द्वारा अनुकार्यबुद्धि करना, यह भी तुच्छप्राय होने से किसी विशेष चमत्कार का जनक नहीं है । फिर यह चित्रतुल्य होने से काल्पनिक कलेवरयुक्त है, चित्रतुरग की तरह, अतः यह भी त्याज्य ही है ।

परन्तु तीसरा काव्यार्थ का संवाद शरीरी-देहधारी के समान परस्पर समान

परन्तु उक्त पुरातन पदार्थ समुदाय की संघटना या शैली वस्तु संयोजना ये सब कवि के अपनी इच्छानुसार का कृत्य है। इसमें किसी न किसी प्रकार की नवीनता आ सकती हैं, अर्थात् वस्तु संघटना में अपूर्वता आ सकती है, और उक्त पदार्थों में ही ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य की छायाजन्य चमत्कार अवश्य अभिनव व अलौकिक हो सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

विषय का उपसंहार करते हुए, कवियों को प्रेरणा देते हैं—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्।
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्।
सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति ॥१६॥

जिस काव्यवस्तु के विषय में लोगों की (सहृदयों की) यह बुद्धि हो कि यह कविनिबद्ध वस्तु नूतन हो या प्राचीन परन्तु स्फूर्ति-अलौकिक व्यङ्ग्यार्थ के सम्पर्क से निश्चित ही रमणीय है। ऐसी वस्तु भले ही पूर्व कविवर्णित पदार्थ की छाया से प्रतिभासित हो, पर सुकवि की कमनीय लेखनी का विषय बनती हुई कभी भी निन्द्यता को प्राप्त नहीं होती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि आधुनिक कवि भी यदि उन्हीं पुरातन पदार्थों को किसी भङ्गीविशेष से या व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कार के किसी लेशविशेष से अनुप्राणित कर देता है, तो उक्त रचना अभिनव या अपूर्व ही कहलायेगी, इसमें आधुनिक कवि को अपनी रचना के विषय में किसी प्रकार की निन्दा का सन्देह नहीं करना चाहिए।

कवियों के लिए शुभाशंसा

प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा।
न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।
परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः।
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥१७॥

कवि लोग अमृतरस के तुल्य विविध अर्थों वाली वाणी का प्रसार करें, अनवद्य स्वच्छ व रमणीय अपने विषय में कवि को कभी भी विषाद नहीं करना चाहिए। दूसरे के (स्व) विषय को ग्रहण करने में पराङ्मुख कवि के लिए, स्वयं सरस्वती अभीष्ट शब्दार्थों की सम्पत्ति को संघटित (प्रदान) कर देती है।

प्रबन्ध के पर्यवसान में ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन स्वनाम कीर्तनकर रहे हैं—

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-कल्प मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत् ।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधान ॥

जो उत्तम काव्य-रचना का सारभूत ध्वनिरूप वस्तु वाल्मीकि, व्यास, भर्तृहरि प्रमुख मनीषियों के परिपक्व मस्तिष्क मे प्रस्फुरित हुआ था, पश्चात् प्रतिवादियो के असत्तर्कों से प्रसुप्त के समान, तिरोहित सा हो गया था, उसी ध्वनिरूप काव्यतत्त्व को सहृदयो के हृदय को आनन्दित करने के लिए "आनन्दवर्धन" इस नाम से प्रसिद्ध मैंने प्रकाशित किया ।

चतुर्थ उद्योग सम्पूर्ण

—o—

आदाय सिद्धान्तवचांसि सम्यक,
आलोकनाम्न प्रथितात् प्रबन्धात् ।
सल्लोचनेनाथ निरीक्ष्य पश्चात्,
तान्येव ग्रन्थेऽत्र निवेशितानि ॥१॥

यथामति मया चाऽत्र ग्रथितानि वचांसि वै ।
ध्वन्यालोकादिग्रन्थाना शीलितानि बुधै- क्वचित् ॥२॥

स्वप्रज्ञया क्वचिच्चैषामालोचनमकारि यत् ।
तद् भूयाद् विदुषा मोददायि नित्य शुभावहम् ॥३॥

थानेशचन्द्र कृती सोऽस्य विदुषामाश्रव सदा ।
ध्वन्यालोकमधीत्यैवमकरोद् ध्वनिसग्रहम्[1] ॥४॥

उप्रेत्युपनामक थानेशचन्द्र द्वारा विरचित 'ध्वन्यालोक एक अध्ययन' नामक ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ ।

---

१ सग्रहम्—सक्षेपेण ध्वने उद्देश्यलक्षणपरीक्षा यस्मिन् ग्रन्थे तम्—

परिशिष्ट

ध्वन्यालोककी कारिकासूची